इस संग्रह में चंगीज् आइत्मातोव (जन्म 1928) के तीन लघु उपन्यास "जमीला", "पहला अध्यापक" और " वह मेरे दिल की रानी" आपकी सेवा में प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

"जमीला", जो 1958 में लिखी गयी, लेखक की पहली प्रमुख रचना थी और वह उसे बेहद प्यारी है। " 'जमीला' तो पहले प्यार की भांति है, उसकी छाप अनूठी है," आइत्मातोव ने लिखा है।

कि़र्गीज़िया के किसी गांव के पहले अध्यापक– सम्बन्धी लघु उपन्यास "पहला अध्यापक" में लेखक की आवाज् साहस और भावनाओं की उथल–पुथल से ओत–प्रोत होकर गूंजती है और "वह मेरे दिल की रानी" में लुटे हुए प्यार की स्मृतियों की कोमलता और तड़प सुनाई देती है। परन्तु आइत्मातोव की सभी रचनाओं में एक तार समान रूप से झंकृत होता है – काव्यमयी सरसता का तार।

विदेशी समालोचकों के अनुसार आइत्मातोव की रचनाओं के काव्यमय सौन्दर्य का स्रोत है हमारे समकालीन के मानसिक जगत और प्राचीन पूर्वी लोगों की उच्च भावात्मकता का अनूठा मिलाप।

पुस्तक में भूमिका भी दी गयी है।

ISBN : 978-81-85242-99-6

मूल्य 350/-

चंगीज़ आइत्मातोव

तीन लघु उपन्यास

कामगार प्रकाशन

सर्वश्रेष्ठ
रूसी और सोवियत
पुस्तकमाला

चंगीज़ आइत्मातोव

तीन लघु उपन्यास

सर्वश्रेष्ठ रूसी और सोवियत पुस्तकमाला

चंगीज़ आइत्मातोव

तीन लघु उपन्यास

संपादक

मदनलाल 'मधु'

कामगार प्रकाशन

प्रथम कामगार संस्करण, मई, 2023

प्रकाशक की ओर से

यह प्रकाशन तीन लघु उपन्यास, चंगीज़ आइत्मातोव, प्रगति प्रकाशन, मॉस्को द्वारा प्रकाशित का पुनर्मुद्रण है।

साभार : प्रगति प्रकाशन, मॉस्को

ISBN : 978-81-85242-99-6

मूल्य : 350 रुपये

प्रकाशक

बलराम शर्मा

कामगार प्रकाशन

बी-4838, गली नं. 112, संत नगर, बुराड़ी, दिल्ली-110084

Website : kamgarprakashan.com

E-mail : kamgarprakashan@gmail.com

मोबाइल : 9212504960

मुद्रक

कोमसर्विसेस, ए-73, वजीरपुर इंडस्ट्रियल एरिया, दिल्ली-110052

अनुक्रम

सचाई, केवल सचाई...

सोवियत संघ के एक मध्य एशियाई जनतन्त्र – क़िर्ग़ीज़िया – के बारे में आपने पहले से चाहे कितना भी पढ़ा या सुना हो, मगर वहां जाने पर आप अवश्य ही ठगे-से रह जायेंगे।

इस्सीक-कूल झील को देखकर ही कुछ ऐसी कविता फूटने लगती है—
दावत के प्याले-सी, ऐसी इस्सीक-कूल हमारी...

झील के इर्द-गिर्द ऊंचे-ऊंचे पहाड़ सिर उठाये खड़े हैं, जिनके ऊपर बादल छाये रहते हैं। ऐसे लगता है मानो यह दल-बल सधी-बंधी गति से कहीं चला जा रहा है।

पहाड़ी ढालों पर यात्रियों की पांत की भांति वृक्ष अधिकाधिक ऊंचे उठते चले जाते हैं। बहुत दूर-दूर से, सो भी केवल क़िर्ग़ीज़िया के शहरों से ही नहीं, मोटरें इस्सीक-कूल की तरफ जाती दिखाई देती हैं। उनमें सफ़र करनेवाले लोग इस्सीक-कूल पर अपने प्रशंसा-पुष्प चढ़ाने आते हैं।

लीजिये, अब आप तूफ़ानी पहाड़ी नदी नारीन के किनारे-किनारे जा रहे हैं। शाम घिरती आ रही है और अचानक दूरी पर बत्तियां जगमगाने लगती हैं और शोर अधिकाधिक बढ़ता जाता है। विभिन्न उंचाइयों पर बत्तियां जगमगाती-झिलमिलाती नज़र आती हैं मानो नेक रूहें चुपके-चुपके रात के वक़्त लोगों को उनके काम में मदद दे रही हों। तोक्तोगुल पनबिजलीघर का निर्माण-स्थल नज़दीक आता जा रहा है।

यहां बने-बनाये रास्ते नहीं थे, निर्माताओं ने वीरान-सुनसान चट्टानों के बीच उन्हें बनाया। यहां तो बाद में भी बहुत अर्से तक विस्फोटों के धमाके सुनाई देते रहे और पुराने चित्रों में चित्रित युद्ध-क्षेत्रों की भांति पहाड़ी दर्रों में धुआं छाया रहा। ये तो तथाकथित सफ़ाई करनेवाले आगे बढ़ रहे थे— चट्टानों और ऐसे पत्थरों को हटाया जा रहा था, जो नींवें बनाने के भावी कामों के लिए ख़तरनाक हो सकते थे।

अचानक इस निर्माण-कार्य का सारा इतिहास क़िर्ग़ीज़ साहित्य में जो कुछ हुआ है और हो रहा है, उसका प्रतीक प्रतीत होने लगता है।

प्रसिद्ध क़िर्ग़ीज़ लोक-कवि तोक्तोगुल ने सौ वर्ष पूर्व अपने साहित्य के लिए क्या इसी प्रकार पहले रास्ते नहीं बनाये थे? भाग्य के सभी कुचक्रों के बावजूद तोक्तोगुल अक्तूबर क्रान्ति तक जिन्दा रहे और उन्होंने "लाल ध्वजा के स्वागत को बांहें अपनी फैला दीं।" उनके काव्य ने बाद के समूचे क़िर्ग़ीज़ साहित्य को अत्यधिक प्रभावित किया और कर रहा है। वह ऐसे सद्भावों-आदेशों से ओत-प्रोत है, जिनका पुरानी और नयी पीढ़ी के श्रेष्ठ क़िर्ग़ीज़ लेखक अनुसरण करते हैं।

क़िर्ग़ीज़ किसान के बारे में उन्होंने ऐसी भावनाएं व्यक्त की हैं–

कवि के सुन्दरतम शब्दों के योग्य हैं
हलवाहा, देहकान,
सीधा-सादा जो लगता, उसके अन्दर
भोलेपन में छिपा हुआ है
समझदार इनसान,
भूले नहीं उसको!
तू कर उसका गान!

अब रही सफ़ाई करनेवालों की बात...क्या लेखक का काम, जो शान्तिपूर्ण निर्माण में लोगों की मदद करना चाहता है और क्रोधपूर्ण शब्दों से कभी-कभी उनके ऊपर खड़ी हुई अतीत के अवशेषों, पूर्वाग्रहों और सभी तरह के गड़बड़-झालों की चट्टानों को टुकड़े-टुकड़े करता है, किसी रूप में सफ़ाई करनेवालों के श्रम के समान नहीं है?

प्रसिद्ध क़िर्ग़ीज़ लेखक चंगीज़ आइत्मातोव के एक लघु उपन्यास "पहला अध्यापक" का नायक वास्तव में "सीधा-सादा" लगनेवाला दूइशेन ही है। लेखक ने उसका यह शब्द-चित्र प्रस्तुत किया है–"वह चुपचाप, कठोर मुद्रा में चल रहा था–उक़ाब के पंखों की तरह तनी हुई भौंहें और काले तपे लोहे से ढला हुआ चेहरा।"

लाल सेना से मुक्त होकर आनेवाला दूइशेन क़िर्ग़ीज़िया के एक दूरस्थ गांव में पहले स्कूल की स्थापना करता है। उन बच्चों के मां-बाप, जिन्हें वह अपना ज्ञान, जो बेशक अधूरा था, देना चाहता है, उसपर विश्वास नहीं करते,

उसे उस समय तक अपने को जीवन-स्वामी समझनेवाले अमीरों की शत्रुता और उपहास का सामना करना पड़ता है।

दूइशेन बहुत-सी बातों में भोला है, अनुभवहीन है, उसमें संयम की कमी है, अपनी तेज़ मिज़ाजी और सिद्धान्तनिष्ठा की दृष्टि से शोलोख़ोव के उपन्यास "कुंवारी धरती ने अंगड़ाई ली" के रूसी कम्युनिस्ट पात्र नागूल्नोव की याद ताजा करता है। मगर सभी त्रुटियों-कमज़ोरियों के बावजूद दूइशेन जिस उत्साह, साहस और सौजन्य से अपने विरोधियों के विरुद्ध ख़तरनाक और नाबराबरी के संघर्ष-क्षेत्र में सामने आता है, वह हमें बहुत प्रभावित करता है। अपनी एक शिष्या, आल्तीनाई, को उसके अमीर पति से निज़ात दिलाने के बाद दूइशेन कहता है – "तू सोचता है कि तूने उसे मिट्टी में मिला दिया है, उसकी ज़िंदगी बर्बाद कर दी है?...नहीं, लद चुके हें तेरे दिन, अब उसका जमाना है..."

आल्तीनाई और चंगीज़ आइत्मातोव की अन्य रचनाओं की नायिकाओं के जीवन-चरित्र लाक्षणिक हैं। उनमें उन परिवर्तनों को, जो सोवियत सत्ताकाल में मध्य एशिया में हुए हैं, उन क्षितिजों को, जो लोगों के सामने उभरे हैं, उन मानसिक शक्तियों को अभिव्यक्ति मिली है, जिन्हें कुछ ही समय पहले तक रीति-रिवाजों और परम्पराओं की जंजीरों में जकड़े लोगों ने अपने में अनुभव किया है।

"औरत की ख़ुशी इसी में है कि बच्चे जने और घर में किसी चीज़ की कमी न हो," "जमीला" लघु उपन्यास में सास अपनी बहू को ऐसी सीख देती है। जमीला के पति के मोर्चे से आनेवाले ख़तों में भी ऐसे चलते-चलाते ही उसका जिक्र होता था। ये ख़त भी "रेवड़ के मेमनों की तरह" ही मिलते-जुलते होते थे।

यह सब कुछ जवान औरत के सम्मुख ऐसे भविष्य का पूर्वरूप प्रस्तुत करता है, जिसके लक्षणों का पहले से अनुमान लगाना कठिन नहीं है। सम्भवतः वह उस नारी जैसी नहीं होगी, जिसके साथ अमीर के तम्बू में आल्तीनाई की मुलाक़ात होती है – "ठंडी राख जैसी उसकी बुझी हुई आंखें कुछ भी अभिव्यक्त न करते हुए देख रही थीं। ऐसे कुत्ते भी होते हैं, जिन्हें पिल्लों की उम्र से ही मारा-पीटा जाता है।" यह ठीक तो है कि जमीला के सामने नीरस और उबा देनेवाली ज़िन्दगी ही थी, जिसमें ऊंची भावनाओं और आकांक्षाओं के लिए कोई स्थान नहीं था।

इसीलिए जवान जमीला एकाकी, नर्मदिल और साथ ही गर्वीले दनियार की ओर, जिसके गीतों में उसकी समृद्ध आत्मा और उदार हृदय उभरकर सामने आ जाता है, ऐसे खिंचती है।

दनियार के प्रति जमीला का प्यार कोई सनक नहीं है। उसमें आत्मिक दृष्टि से बहुत ही अतृप्त जीवन को, जिससे जमीला को उस परिवार में सन्तुष्ट रहना पड़ता हैं, जिसमें उसके साथ अपने ढंग से अच्छा और तनिक भी कठोर व्यवहार नहीं होता, तृप्ति मिलती है।

दनियार के साथ जमीला का गांव से भाग जाना, जिसकी गांव वाले बड़ी निन्दा और भर्त्सना करते हैं, वास्तव में जमीला का पुनर्जन्म है, सच्चे सुख के लिए अपने अधिकार की रक्षा है।

आइत्मातोव की कृतियां हमारे देश और विदेशों में भी पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी हैं। 1952 में चौबीस वर्षीय जवान लेखक की पहली कहानी छपी थी। दस साल भी नहीं गुज़रने पाये कि "जमीला" के प्रकाशन से लेखक की धाक जम गयी। 1963 में लेखक को लेनिन पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

चंगीज़ आइत्मातोव के गद्य में क़िर्ग़ीज़ साहित्य की श्रेष्ठ परम्पराओं, अन्य भाषाओं के साथी लेखकों की उपलब्धियों और अन्य कलाओं के अनुभव का उचित रूप से समावेश हुआ है।

चंगीज़ आइत्मातोव के कृतित्व के बारे में क़िर्ग़ीज़िया में काफ़ी बाद-विवाद होता रहता है, कोई भी उसके प्रति उदासीन नहीं रह सकता। आइत्मातोव की कला की सुस्पष्ट सामयिकता और साहित्य के प्रचलित विषयों और विधियों की परिधियों का साहसपूर्वक अतिक्रमण अन्य कई क़िर्ग़ीज़ लेखकों, खासकर नयी पीढ़ी के लेखकों के लिए, उदाहरण बन रहे हैं।

समूचा आधुनिक क़िर्ग़ीज़ साहित्य अपने साहित्य-पितामह तोक्तोगुल के इस आदेश "सचाई, केवल सचाई" को व्यावहारिक रूप देने का प्रयास कर रहा है।

अ. तुर्कोव

जमीला

मैं आज फिर चौखटे में जड़े हुए छोटे-से मामूली चित्र के सामने खड़ा हूं। कल सुबह मैं गांव के लिए रवाना हो जाऊंगा। बहुत देर से और बहुत ध्यान से मैं इस चित्र को देख रहा हूं, जैसे कि यह मुझे मेरे सफ़र के लिए कुछ नसीहत कर सकता है, नेक सलाह दे सकता है।

इस चित्र का कभी कहीं प्रदर्शन नहीं किया गया। इतना ही नहीं, जब सगे-सम्बन्धी मिलने-जुलने आते हैं, तो मैं इसे छिपाना कभी नहीं भूलता हूं। इसे कलाकृति का नाम देना तो सरासर हिमाक़त होगी। वैसे यह कुछ ऐसा बुरा चित्र भी नहीं है कि शर्म से आंखें झुक जायें। यह चित्र इसमें चित्रित धरती की तरह ही साधारण है, मामूली है।

चित्र की पृष्ठभूमि में पतझर के उदास आकाश का एक कोना दिखाया गया है। दूरी पर पर्वतमाला नज़र आती है। वहां टेढ़े-तिरछे बादल भागते दिखाई देते हैं और तेज़ हवा मानो उनका पीछा कर रही है। चित्र में, सामने की ओर, लाल-बादामी चिरायते के पौधों से ढंका मैदान है। ऐसा नज़र आता है कि कुछ ही समय पहले पानी बरसा है। बरसात के कारण नम और काली पड़ी सड़क दिखाई देती है। सड़क के किनारे-किनारे सूखी-टूटी कांटेदार झाड़ियों के ढेर लगे हैं। ज़ोरदार बरसात ने ठेलों-छकड़ों की कच्ची सड़क में जहां-तहां दरारें डाल दी हैं। इसी कच्ची-टूटी सड़क पर दो यात्रियों के पद-चिह्न दिखाई देते हैं। यह कच्ची सड़क जैसे-जैसे दूर होती जाती है, पद-चिह्न भी हल्के-हल्के होते जाते हैं। ऐसा लगता है कि अगर ये यात्री एक डग और बढ़े, तो चौखटे के पीछे जाकर ग़ायब हो जायेंगे। उनमें से एक...ख़ैर रहने दीजिये, कहानी के आरम्भ में ही भावी घटनाओं की कल्पना करने की क्या जल्दी है।

मैं अभी लड़का ही था। लड़ाई का तीसरा साल चल रहा था। कहीं दूर – कूर्स्क या ओर्योल के नज़दीक – हम लोगों के बड़े भाई, हमारे पिता दुश्मन से मोर्चा ले रहे थे और हम पन्द्रह-पन्द्रह साल के छोकरे सामूहिक फार्म पर

काम करते थे। हमारे कमज़ोर कन्धों को भारी बोझ उठाना पड़ रहा था। फ़सल काटने के दिनों में तो हमें बहुत ही ज़्यादा काम करना पड़ता। हम हफ़्तों-हफ़्तों घर से बाहर रहते, खेत-खलियानों में दिन-रात गुज़ारते या फिर अनाज पहुंचाने के लिए रेलवे स्टेशन वाली सड़क के चक्कर लगाते।

एक दिन मैं स्टेशन से खाली छकड़ा लिये लौट रहा था। सूरज आग बरसा रहा था, दरांतियां फ़सलें काट-कांटकर अंगारे जैसी लाल-लाल दिखाई देने लगी थीं। मैंने रास्ते में ही घर पर ठहर जाने का फ़ैसला किया।

गली के ठीक सिरे और घाट के क़रीब एक टीले पर दो मकान हैं। इन मकानों के गिर्द कच्ची दीवार है। दीवार के आगे पोपलार के लम्बे-लम्बे पेड़ खड़े हैं। ये हमारे घर हैं। बहुत अर्से से हमारे परिवार इन दो मकानों में साथ-साथ रह रहे हैं। मैं बड़े घर के परिवार में से हूं। मेरे दो भाई थे। वे दोनों ही मुझसे बड़े और कुंवारे थे, दोनों ही मोर्चे पर गये थे और बहुत लम्बे अर्से से हमें दोनों की ही कोई ख़बर-सार नहीं मिली थी।

मेरे बूढ़े पिता बढ़ईगिरी करते थे। तड़के की नमाज़ अदा करके वे बढ़ईख़ाने में चले जाते और रात होने तक वहीं रहते।

मेरी मां और छोटी-सी बहन ही घर पर रहती।

हमारे नज़दीकी रिश्तेदार पास के मकान में रहते थे। गांव के लोग इसे छोटे घर के नाम से पुकारते थे। हमारे दादा-परदादा सगे भाई थे। मगर मैं उन्हें इसलिए नज़दीकी रिश्तेदार कहता हूं कि वे एक ही परिवार की तरह रहते थे। जब हमारे बुज़ुर्ग ख़ानाबदोश थे, तभी से हमारे ये दोनों परिवार इकट्ठे रहते चले आ रहे थे। तब भी वे एकसाथ ही अपने खेमे गाड़ते और पशु चराते थे। हम उसी परम्परा को ज़िन्दा रख रहे थे। जब हमारे गांव में सामूहिक फ़ार्म बने, तो हमारे घरवालों ने साथ-साथ ही मकान बनवाये। दरअसल तो पूरी की पूरी आरालस्काया गली में हमारे ही क़बीले के लोग रहते थे। यह गली गांव के साथ-साथ चलती थी और यहां हमारे अपने ही वंशज बसते थे।

हम सामूहिक फ़ार्म में शामिल हुए ही थे कि छोटे घर का मालिक चल बसा। वह अपने पीछे अपनी विधवा बीवी और दो छोटे-छोटे बेटे छोड़ गया। हमारे गांव में अभी भी क़बीले का पुराना रिवाज चालू था। इस रिवाज के अनुसार बेटोंवाली विधवा को अपना क़बीला छोड़ने की मनाही थी। इसलिए

यह तय हुआ कि मेरे पिता उस विधवा से शादी कर लें। मेरे पिता ही मरनेवाले के सबसे नज़दीकी रिश्तेदार थे और पूर्वजों की इच्छा के प्रति अपना कर्तव्य निभाते हुए वे इसके लिए राज़ी हो गये।

इस तरह एक की जगह हमारे दो परिवार हो गये। छोटे घर के अपने चरागाह और अपने पशु थे। उसे अलग घर-गिरस्ती भी समझा जाता था। मगर वास्तव में हम इकट्ठे ही रहते थे।

छोटे घर के भी दो बेटे लाम पर गये थे। सबसे बड़ा लड़का सादिक़ तो शादी के फ़ौरन बाद ही मोर्चे पर चला गया था। हमारे पास इनके पत्र आते थे, मगर कभी-कभार।

छोटे घर में अब "किची-आपा"— छोटी मां — और उसकी बहू — सादिक की पत्नी ही रहती थीं। वे दोनों ही सुबह से शाम तक सामूहिक फ़ार्म पर काम करतीं। मेरी छोटी मां मेहरबान, नर्म तबीयत और हंसमुख थी। वह सिंचाई की नालियां खोदने से लेकर खेतों में पानी देने तक के हर काम में युवतियों का साथ देती। उसे मेहनती बहू देकर क़िस्मत ने भी बड़ा भारी इनाम दिया था। जमीला भी अपनी सास के बराबर की चोट थी — बड़ी मेहनती, बड़ी फुर्तीली। मगर स्वभाव में उससे कुछ अलग थी।

मैं जमीला को बेहद प्यार करता था। और वह भी मुझे बहुत चाहती थी। हम दोनों बहुत अच्छे मित्र थे, फिर भी हमें एक दूसरे को नाम लेकर बुलाने की हिम्मत न होती थी। अगर हम दो अलग-अलग परिवारों के होते ही निश्चय ही मैं उसे जमीला कहकर पुकारता। पर वह तो मेरे सबसे बड़े भाई की बीवी थी। इसलिए उसे "जेने" कहकर पुकारने के सिवा कोई चारा न था। इसी तरह वह भी मुझे "किचिने-बाला" कहकर बुलाती, जिसका मतलब है — छोटा-सा लड़का। वैसे दर हक़ीक़त मैं छोटा-सा लड़का बिल्कुल न था, काफ़ी बड़ा हो चुका था और हम दोनों की उम्रों में बहुत कम फ़र्क़ था। हमारे गांवों में ऐसा रिवाज ही जो प्रचलित था — भाभियां अपने देवरों को किचिने-बाला ही कहती थीं।

मेरी मां दोनों गिरस्तियों की देखभाल करती। मेरी छोटी बहन मां का हाथ बंटाती। वह बड़ी ही विचित्र लड़की थी। धागों से अपनी चोटियां बांधे रहती थी। मुश्किलों-मुसीबतों के उन सालों में इस छोटी-सी लड़की ने बहुत ही सख़्त मेहनत की। उसके इस परिश्रम की छाप सदा ही मेरे मन पर अंकित

रहेगी। दोनों घरों के मेमने और बछड़े यही लड़की चरागाह में ले जाती और घर में काफ़ी ईंधन जमा रखने के लिए यही लड़की गोबर और सूखी टहनियां आदि इकट्ठी करती। यही मेरी चपटी नाक वाली छोटी-सी बहन मेरी मां का मन बहलाती, उसकी उदासी दूर करती। मेरी मां के दिल में मेरे बड़े भाइयों के बारे में तरह-तरह के बुरे ख़्याल आते रहते – मोर्चे से उनकी कोई खबर जो न आयी थी।

हमारे इस बड़े परिवार के आपसी मेल-जोल और समृद्धि का बहुत कुछ श्रेय मेरी मां को था। वही दोनों घरों की एकच्छत्र गृह-स्वामिनी थी, दोनों घरों का प्रबन्ध-भार उसी के कन्धों पर था। वह हमारे ख़ानाबदोश दादाओं के समय कच्ची उम्र में हमारे परिवार में आयी थी। दोनों परिवारों पर न्यायपूर्ण शासन करती हुई वह हमारे पुरखों को याद करती। वह बहुत समझ-बूझ, न्याय और कुशलता से घर-गिरस्ती का काम चलाती। उसके इन गुणों के कारण गांव भर में उसकी धाक थी। मां ही घर की सर्वेसर्वा थी। सच तो यह है कि गांव वाले हमारे पिता को तो घर का मुखिया ही न मानते थे। वे अक्सर कहते – "आह, 'उस्ताक़ा' के पास जाकर क्या करोगे," – कारीगर के लिए हम इसी उस्ताद-आक़ा के संक्षिप्त शब्दों का प्रयोग करते हैं, – "वह तो सिर्फ़ कुल्हाड़ा चलाना जानता है। बड़ी मां ही सब कुछ करती-धरती है। सीधे उसी से जाकर बात कर लो।"

छोटी उम्र होते हुए भी मैं घर-गिरस्ती की बातों में टांग अड़ाता रहता था। मुझे सिर्फ़ इसीलिए इसकी इजाज़त थी कि मेरे दोनों बड़े भाई लड़ाई में गये हुए थे। अक्सर मज़ाक़ में, मगर कभी-कभी संजीदगी से मुझे भी दोनों परिवारों का जीगित* कहकर पुकारा जाता, दोनों परिवारों का रक्षक और अन्नदाता कहा जाता। अपने बारे में ऐसे शब्दों का प्रयोग सुनकर मेरी छाती गर्व से फूल जाती। मैं यह अनुभव करने लगता कि जैसे परिवार की गाड़ी मेरे ही सहारे चल रही है। मेरी मां भी मुझसे इस आत्मनिर्भरता की भावना के विकास को प्रोत्साहन देती। वह चाहती थी कि मैं एक बढ़िया किसान बनूं। मुझमें फुर्ती-चुस्ती आये, और मुझमें महत्त्वकांक्षायें जागें। वह नहीं चाहती थी कि मैं अपने पिता के पदचिह्नों पर चलूं, जो दिन भर आरी और रन्दा चलाते हैं।

* जीगित – बढ़िया घुड़सवार और जवांमर्द। – सं०

हां तो, मैंने अपना छकड़ा बेंत के पेड़ की छाया में खड़ा किया, पट्टे ढीले किये और आंगन की तरफ़ बढ़ गया। वहां जाते ही मेरी नज़र हमारे टीम-लीडर उरुज़मत पर पड़ी। वह घोड़े पर सवार था और उसकी बैसाखी सदा की भांति काठी के साथ बंधी थी। मेरी मां उसके पास खड़ी थी। वे किसी मामले पर बहस कर रहे थे। मैं जब क़रीब पहुंचा, तो मां को कहते सुना –

"यह हरगिज़ नहीं हो सकता! तुम्हारे दिल में क्या अल्लाह का ज़रा भी डर-ख़ौफ नहीं रहा? औरत, और छकड़े में अनाज की बोरियां लादकर ले जाये? कभी-कहीं तुमने ऐसा देखा-सुना भी है? नहीं, नहीं, यह नहीं हो सकता। तुम तो भले आदमी हो, मेरी बहू को इस पचड़े में मत डालो। वह जो कुछ करती है, उसे वही कुछ करने दो। मुझे तो वैसे ही सुबह से शाम तक होश नहीं आती। एक नहीं, दो-दो गिरस्तियों का प्रबन्ध करना होता है! यह तो अच्छा ही है कि मेरी बेटी खासी बड़ी हो गयी है और काम-काज में काफ़ी हाथ बंटा देती है। एक हफ़्ते से पीठ तक सीधी नहीं कर पायी हूं, इस बुरी तरह दर्द कर रही है मानो कई दिनों से नमदा बनाती रही हूं। और ज़रा फ़सल की तरफ तो देखो। पानी के बिना सभी बालें सूखी जा रही हैं!" मां ने ये सभी बातें अपनी पगड़ी का सिरा कालर के नीचे दबाते हुए बड़े जोश के साथ कहीं। अपनी पगड़ी का सिरा कालर के नीचे दबाने का मतलब था कि वह गुस्से में है।

"यह आज तुम्हें हुआ क्या है!" उरुज़मत आगे की ओर झुकते हुए हताश होकर बोला। "अगर इस ठूंठ की जगह मेरी टांग क़ायम होती, तो तुम क्या समझती हो कि मैं कभी तुम्हारे पास आता? अरे, मैं तो ख़ुद ही छकड़े में बोरियां डालता, घोड़ों पर चाबुक सटकारता और अनाज लेकर हवा हो जाता! आख़िर कभी मैं यह करता भी तो रहा हूं। मैं जानता हूं कि यह औरतों के करने लायक़ काम नहीं है। मगर मैं मर्द लाऊं, तो कहां से? इसीलिए हमने फ़ौजियों की बीवियों से यह काम लेने का फ़ैसला किया है। तुम अपनी बहू भेजने को तैयार नहीं हो और उधर फ़ार्म का अध्यक्ष मेरे सिर पर सवार है. ..फ़ौजियों को रोटी चाहिए और यह कि हम योजना गड़बड़ किये दे रहे हैं। क्या तुम यह भी नहीं समझ सकतीं?"

चाबुक ज़मीन पर घसीटते हुए मैं इनके पास पहुंचा। टीम-लीडर ने जैसे ही मुझे देखा कि उसकी बाछें खिल गयीं। ज़ाहिर है कि उसे कोई बात सूझ गयी थी।

"तुम अपनी बहू के बारे में बहुत ही ज्यादा घबराती हो। और किसी पर नहीं तो उसके किचिने-बाला पर तो भरोसा कर ही सकती हो। वह किसी को उसके पास तक भी फटकने नहीं देगा।" और उसने ख़ुश होकर मेरी तरफ़ इशारा किया। "तुम ज़रा भी फ़िक्र न करो! सईद भला लड़का है। इसके जैसे भले लड़के ही तो हमारे असली अन्नदाता हैं, यही तो हमारी भंवर में फंसी नाव पार लगा रहे हैं..."

मेरी मां ने उसे टोका।

"हाय अल्लाह! ज़रा अपनी सूरत तो देखो, आवारों जैसी!" वह मेरी तरफ़ इशारा करके चिल्ला उठी। "और तुम्हारे बाल! वे तो घोड़े के अयाल की तरह बढ़े हुए हैं! तुम्हारा बाप भी ख़ूब आदमी है – उसे बेटे का सिर मूंड़ने का भी वक्त नहीं मिलता..."

"तो ठीक है आज बेटा मां-बाप के पास ही आराम करे। और तुम इसका सिर भी मुंड़वा देना," उरुज़मत ने मेरी मां के लहजे में ही कहा। "सईद, आज तुम यहीं टिको, घोड़ों को खिलाओ-पिलाओ और कल सुबह हम जमीला को भी एक छकड़ा दे देंगे। तुम उसके साथ काम करोगे। मगर यह समझ लो, उसकी पूरी जिम्मेदारी तुम्हीं पर ही होगी। अब तुम बिल्कुल बेफ़िक्र हो जाओ बाईबीचे*, सईद उसकी अच्छी तरह हिफ़ाज़त करेगा। इतना ही नहीं, मैं तो दनियार को भी इनके साथ कर दूंगा। उसे तो तुम जानती ही हो। बिल्कुल गऊ है, गऊ! वही, जो अभी मोर्चे से वापस भेजा गया है। ये तीनों मिलकर रेलवे स्टेशन पर अनाज पहुंचा दिया करेंगे। और फिर तुम्हारी बहू के क़रीब जाने की हिम्मत ही भला कौन करेगा? मैं ठीक कह रहा हूं न? तुम्हारी क्या राय है, सईद? हम जमीला को गाड़ीवान बनाना चाहते हैं। मगर तुम्हारी मां तो यह सुनने तक को तैयार नहीं है। तुम ही इसे राज़ी करने की कोशिश करो।"

उरुज़मत की तारीफ से मैं तो फूलकर कुप्पा हो गया था। फिर उसने मुझे सयाना-समझदार आदमी समझते हुए मेरी राय पूछी थी। इतना ही नहीं, यह ख़्याल भी मेरे दिमाग में कौंध गया कि जमीला के साथ स्टेशन तक छकड़ा ले जाने में बहुत मज़ा रहेगा। बहुत संजीदा-सा चेहरा बनाकर मैंने मां से कहा –

* बाईबीचे–बड़ी पत्नी और गृह-स्वामिनी तथा नारी के प्रति आदरयुक्त सम्बोधन। – सं०

"तुम फ़िक्र न करो, कुछ नहीं होगा उसे! रास्ते में कहीं भेड़िये थोड़े ही हैं!"

इतना कहकर मैंने बड़ी लापरवाही से पेशेवर गाड़ीवानों की तरह दांत भींचकर थूका। अपने आपको बड़ा भारी तीसमार-खां जाहिर करता और अपने पीछे चाबुक घसीटता हुआ मैं शान से आगे बढ़ गया।

"ज़रा सुनो तो इसकी बात!" मेरी मां हैरान होकर चिल्लायी। मुझे लगा कि मेरी बात उसे पसन्द आयी है, कि वह ख़ुश है। मगर तभी वह गुस्से में बोली – "तुम भला क्या जानते हो भेड़ियों के बारे में! बड़े आये तीसमार-खां!"

"अगर वह नहीं तो और कौन जानता है – वही तो दोनों परिवारों का जीगित है। तुम इसपर गर्व कर सकती हो!" उरुज़मत ने मेरा पक्ष लेते हुए कहा। वैसे उसकी नज़र मेरी मां के चेहरे पर ही टिकी थी कि वह कहीं फिर से हठ न ठान ले।

मगर मेरी मां ने कोई एतराज़ न किया। वह यकायक ही उदास हो गयी। उसने गहरी सांस लेकर कहा –

"जीगित-वीगित तो ख़ैर वह क्या है। वह तो अभी बच्चा ही है। मगर फिर भी दिन-रात खून-पसीना एक करता रहता है। सिर्फ़ अल्लाह ही जानता है कि हमारे जीगित कहां हैं। हमारे घर तो वीरान ख़ेमों जैसे हो गये हैं..."

मैं अब कुछ दूर जा चुका था, इसलिए अपनी मां के और शब्द न सुन सका। मैंने मकान के कोने पर चाबुक सटकारा, धूल का बादल उड़ाया और झटपट दरवाज़े की तरफ़ बढ़ गया। अपनी बहन की मुस्कान की तरफ ध्यान देने की भी मैंने परवाह न की। वह आंगन में ईंधन के लिए उपले थाप रही थी। मैं सायबान में ठिठका और एक घड़े से पानी उंडेलकर मैंने हाथ धोये। फिर मैं कमरे में गया। कमरे में जाकर मैंने दही का एक प्याला पिया। दही से भरा दूसरा प्याला मैंने खिड़की की ओटक में रखा और उसमें रोटी के छोटे-छोटे टुकड़े डालने लगा।

मेरी मां और उरुज़मत अभी भी अहाते में थे। अब उनमें बहस नहीं हो रही थी। वे शान्त भाव से धीरे-धीरे बातें कर रहे थे। ज़रूर मेरे भाइयों की ही चर्चा हो रही थी। मेरी मां अनमने मन से उरुज़मत की बातें सुनती

हुई सिर हिलाती और आस्तीन से आंखें पोंछती जा रही थी। ज़ाहिर है कि उरुज़मत उसे तसल्ली दे रहा था। मेरी मां ने पेड़ों की चोटियों के ऊपर से दूर तक ऐसे नज़र दौड़ाई मानो उसकी बदली-घिरी, बरसती आंखें वहां अपने बेटों को देखना चाहती हों।

मां का मन तो उदासी भरे ख़्यालों में डूबा-उलझा रहता था। मुझे लगा कि आख़िर वह उरुज़मत की बात मान ही गयी है। उरुज़मत ने खुश होकर अपने घोड़े पर चाबुक फटकारा और अहाते से बाहर हो गया।

जाहिर है कि उस वक़्त न तो मैं और न मेरी मां ही यह जानती थी कि आगे चलकर इसका क्या नतीजा होगा।

जमीला दो घोड़ों का छकड़ा चला लेगी इसका मुझे पूरा भरोसा था। वह बहुत बढ़िया घुड़सवार थी। वह बक़ईर नामक पहाड़ी गांव के नस्ली घोड़े पालनेवाले की बेटी थी। हमारा सादिक़ भी घोड़े पालता था। अक्सर यह सुनने में आया था कि वसन्त की घुड़-दौड़ों में वह जमीला से बाज़ी हार गया था। शायद यह सच था, मगर हमने यह भी सुना था कि जमीला से मात खाकर वह शर्म से पानी-पानी हो गया था और उसे भगा लाया था। कुछ दूसरे लोग इसे प्रेम-विवाह भी बताते थे। ख़ैर कुछ भी हो उनकी शादी को अभी चार महीने ही हुए थे कि लड़ाई छिड़ गयी और सादिक़ मोर्चे पर चला गया।

सही कारण तो मैं नहीं जानता, मगर इतना जानता हूं कि जमीला में मर्दोंवाली कुछ-कुछ बात तो ज़रूर थी। उसमें मर्दों की सी तलख़ी-तेज़ी और यहां तक कि मर्दों का सा रूखापन भी था। वह काम भी करती थी तो मर्दों ही की तरह डटकर। शायद इसका कारण यह था कि जमीला ने बचपन से ही अपने बाप के साथ चरागाहों में घोड़े चराये थे। वह मां-बाप की इकलौती सन्तान थी और इसलिए बाप की नज़र में वही बेटा थी, वही बेटी भी। वैसे तो वह दूसरी औरतों से अच्छे ढंग से पेश आती, पर अगर कोई बिला वजह ही उसके गले पड़ने की कोशिश करती, तो उसकी दाल न गलने देती। ऐसे मौक़े भी आये कि उसने गुस्से से आगबबूला होकर दूसरी औरतों के बाल तक नोच डाले।

पड़ोसिनें शिकायत करने आतीं –

"जाने कैसी है यह तुम्हारी बहू! अभी कल ही तो इसने तुम्हारी दहलीज़ में पांव रखा है और एक ही दिन में उसकी गज़ भर लम्बी जीभ भी हो गयी है! न किसी की इज़्ज़त करती है, न किसी का लिहाज़। न उसमें बहुओं जैसा सलीक़ा है, न हलीमी।"

"मैं खुश हूं कि यह ऐसी है!" मेरी मां जवाब देती। "हमारी बहू तो दूसरे के मुंह पर ही साफ़-साफ़ और सच-सच कह देती है। पीठ पीछे बुराई करते फिरने से तो यह कहीं अच्छा है। कम से कम वह तुम्हारी बहुओं की तरह तो नहीं है कि मन में कुछ और मुंह में कुछ। वे तो मन में ज़हर दबाकर मुंह में शक्कर घोला करती हैं। तुम्हारी बहुओं को तो मैं सड़े हुए अण्डे की तरह समझती हूं – ऊपर से चिकनी-चुपड़ी और अन्दर? अन्दर सड़ांध ही सड़ांध! पास जानेवाले को नाक बन्द करनी पड़ती है।"

सास-ससुर अक्सर बहुओं से कड़ाई से पेश आते हैं, उन्हें दबाकर रखते हैं। मगर मेरे पिता और मेरी छोटी मां जमीला से ऐसा बर्ताव न करते। वे उससे नर्मी से पेश आते और प्यार करते। उनकी सिर्फ़ एक ही चाह थी कि वह अल्लाह और अपने पति के प्रति वफ़ादार और ईमानदार रहे।

मैं अपनी छोटी मां और पिता को ख़ूब समझता था। उन्होंने चार जवान बेटे लड़ाई में भेजे थे। जमीला को देखकर ही उन्हें कुछ चैन मिलता था। दोनों घरों में वही एक तो बहू थी। इसीलिए उन्हें उसकी इतनी ज्यादा फ़िक्र रहती थी। मगर मुझे हैरानी होती थी तो अपनी मां के बारे में। वह किसी पर आसानी से अपना प्यार लुटाने लगे, ऐसा बहुत कम ही होता था। मेरी मां बड़ी तेज़-तरार औरत थी। दूसरों पर अपना दबदबा रखना उसे बहुत पसन्द था। उसने अपने ही कुछ उसूल बना रखे थे और हमेशा उनपर अमल करती थी। मसलन बसन्त आता तो वह अपना ख़ानाबदोशों का पुराना ख़ेमा अपने आंगन में ज़रूर गाड़ती। यह ख़ेमा मेरे पिता ने अपनी जवानी के दिनों में बनाया था। मां इस ख़ेमे में जुनीपर की शाख़ें भी ज़रूर जलाती। उसने हमें डटकर मेहनत और बड़ों की इज़्ज़त करना सिखाया। परिवार के हर आदमी के लिए उसके इशारों पर नाचना लाज़िमी था।

जमीला तो शुरू से ही आम बहुओं जैसी नहीं थी। बेशक वह अपने बड़ों की इज़्ज़त करती थी, उनका हुक्म मानती थी, मगर उनके सामने, पूरी तरह घुटने टेकना उसे क़तई पसन्द न था। दूसरी जवान बहुओं की तरह वह

पीठ पीछे अपने बड़ों की निन्दा-चुगली भी न करती थी। वह जैसा समझती-सोचती, खुलकर कहती। अपने मन की बात को मन में दबाना-घोटना और डरना तो वह जानती ही न थी। मेरी मां अक्सर उसका साथ देती, उससे सहमत होती, मगर अन्त में करती अपनी मनमानी ही।

मुझे यक़ीन है कि वह मन ही मन जमीला को बहुत मानती थी। उसकी साफ़गोई, उसकी ईमानदारी में वह अपने ही मन की तस्वीर देखती थी। वह मन ही मन जमीला को अपने जैसी धड़ल्लेदार गृहस्वामिनी, अपने जैसी बाईबीचे बनाने के सपने देख रही थी।

"अल्लाह का एहसान मानो, बेटी, कि बुहारी की तरह बंधे, घुले-मिले और अच्छे परिवार में आ गयी हो।" मेरी मां अक्सर यह दोहराती। "यह तो तुम्हारी खुशक़िस्मती है। औरत की खुशी तो इसी में है कि बच्चे जने और घर में किसी चीज़ की कमी न हो। खुदा का शुक्र करो हम बूढ़ों ने जो बीज बोये हैं, तुम्हें ही तो उनके फल मिलेंगे। मगर खुशी उन लोगों को ही मिलती है, जो अपनी इज़्ज़त पर धब्बा नहीं लगने देते, अपना दिल और दामन पाक रखते हैं। मेरी यह बात गांठ बांध लो और संभल कर रहो!"

फिर भी जमीला में कुछ ऐसी बात थी कि उसकी दोनों सासें उसके बारे में परेशान रहती थीं। वह बहुत चंचल, बहुत ज़िन्दादिल थी। बिल्कुल बच्चों का सा व्यवहार करती थी। वह कभी-कभी अचानक ही ठठाकर हंस देती, बिना किसी कारण के ही चहकने लगती। काम से लौटती तो थकी-टूटी और मुरझाई-सी होने के बजाय सिंचाई की खाई को फांदती हुई धड़ाधड़ अहाते में आ खड़ी होती। ऐसे बिला वजह ही वह पहले एक और फिर दूसरी सास के गले में बांहें डाल देती और उन्हें चूमने लगती।

जमीला को गाने का बड़ा शौक़ था। वह हमेशा ही कुछ न कुछ गुंगुनाती रहती। बड़ों की हाज़िरी में भी किसी तरह की झिझक, कोई शर्म महसूस न करती। ज़ाहिर है कि हमारे गांव-गंवई के लोगों के लिए ऐसी बहू एक अजीब-सी बात थी। मगर दोनों सासें यह कहकर अपने दिल को दिलासा देतीं कि कोई बात नहीं, अभी बच्ची ही तो है, बड़ी होकर संभल जायेगी। उसकी उम्र में हम भी तो ऐसी ही थीं। मेरे लिए तो जमीला से बढ़कर दुनिया भर में कोई दूसरा न था। हम दोनों खूब ही हंसते-खेलते। खिलखिलाते-हंसते हुए हम अहाते में एक दूसरे के पीछे भागते रहते।

जमीला बहुत ही सुन्दर थी। उसका जिस्म गठा हुआ था, उसमें एक ख़ास खिंचाव था। वह अपने सीधे मोटे बालों की कसी हुई और भारी-भारी दो चोटियां गूंथती और माथे पर टेढ़ा सफ़ेद रूमाल बांधती। उसके सांवले रंग पर यह तो बहुत ही बहार देता। वह मुस्कराती तो बादाम जैसी उसकी नीली-काली आंखों में शरारत भरी चमक नाच उठती। फिर जब कभी वह अचानक ही किसी चुहल भरे देहाती गाने की तान छेड़ देती, तो उसकी प्यारी -प्यारी आंखें साकार-चुहल बन जातीं।

जीगित और ख़ासकर मोर्चे से लौटे जवान तो जमीला को देखते ही लट्टू हो जाते थे। यह मैंने अक्सर देखा था। जमीला मजाक़ दिल्लगी पसन्द करती थी। मगर जैसे ही कोई सीमा लांघकर आगे बढ़ने की कोशिश करता, वह उसे फ़ौरन ही टोक देती। ख़ैर मुझे तो यह हमेशा ही नागवार गुज़रता। छोटे भाई अक्सर अपनी बहनों से ईर्ष्या करते हैं। जमीला के मामले में यही हाल मेरा था। जैसे ही मैं किसी नौजवान को उसके क़रीब-क़रीब मण्डराते देखता, झट से बीच में आ धमकने की पूरी कोशिश करता। मेरी आंखों में ख़ून उतर आता और मैं नफ़रत से उसे घूरता। मेरी आंखें गोया यह कहतीं—"मियां, ज़रा आगा-पीछा सोच लो। वह मेरे भाई की बीवी है। यह मत समझना कि उसकी देखभाल करनेवाला कोई नहीं है!"

ऐसे मौक़ों पर मैं बहुत ही घुल-मिलकर बातें करने लगता और जमीला के चाहनेवालों की खिल्ली उड़ाने की कोशिश करता। जब कभी मेरा बस न चलता, तो मैं आपे से बाहर हो जाता और गुस्से से पागल सांड की तरह फुंकारता हुआ मैदान छोड़कर पीछे हट जाता।

नौजवान ज़ोर का ठहाका लगाते —

"ज़रा इसे तो देखो! अरे हां यह तो ज़रूर इसी की जेने है, लगता है न ऐसा ही! अरे हम तो कभी भूलकर इसकी कल्पना भी न कर पाते!"

मैं अपने पर क़ाबू पाने की पूरी कोशिश करता। मगर मेरे धोखेबाज़ कान जैसे जलते हुए मुझे मेरी असली हालत का एहसास करवाते। दुख और चोट के आंसू आंखों में छलछला आते। मगर जमीला, मेरी जेने, तो मेरे दिल की हालत अच्छी तरह समझती थी। वह अपनी हंसी के फ़व्वारे को अन्दर ही अन्दर दबाकर बड़ी धीर-गम्भीर हो जाती। वह बड़े मज़ेदार अन्दाज़ में उनसे पूछती —

"और तुम क्या समझते हो ज़बान हिलाने भर से जेने मिल जाती है? शायद तुम्हारे यहां ऐसा होता हो, मगर यहां तो मुंह धो रखो! चलो किचिने- बाला, इन्हें झख मारने दो!" और उन नौजवानों को जता-दिखाकर वह गर्व से पीछे की तरफ़ सिर झटक देती, उन्हें चिढ़ाकर कन्धे झटकाती और जैसे ही हम एकसाथ रवाना होते वह दबे-दबे मुस्करा देती।

उसकी इस मुस्कान में खीझ भी होती, ख़ुशी भी। शायद वह यह सोचती – "नादान छोकरे! अगर मैं चाहूं, तो क्या कोई मुझे रोक सकता है? तुम तो क्या, सारा परिवार भी अगर मेरी जासूसी करे, तो क्या होता है! मैं फिर भी मनमानी कर सकती हूं!" ऐसे अवसरों पर मैं जैसे कि विनीत भाव से चुप्पी साध लेता। बेशक मुझे जमीला से ईर्ष्या होती थी, मैं उसका भक्त था, पुजारी था। मुझे इस बात का गर्व था कि वह मेरी जेने है। मुझे उसकी ख़ूबसूरती, उसकी आज़ाद, बेधड़क तबीयत पर नाज़ था। हम दोनों बेहतरीन दोस्त थे। हमारे बीच कोई दुराव-छिपाव न था।

लड़ाई के दिनों में गांव में कुछ इने-गिने जवान लोग रह गये थे। कुछ नौजवान इस मौक़े का फ़ायदा उठाते हुए बेहूदगी की हद तक जा पहुंचे। वे औरतों को हिक़ारत की नज़र से देखते और जैसे कि यह कहते नज़र आते – "कौन परवाह करता है इनकी? जिसे इशारा कर देंगे, वही भागी आयेगी।"

घास काटने का मौसम था। हमारे एक दूर के रिश्तेदार ऊसमान ने जमीला से छेड़-छाड़ शुरू की। वह अपने-आपको यूसुफ़ मानता था। उसका ख़्याल था कि हर औरत पर उसका जादू चल सकता है। जमीला ने गुस्से से उसका हाथ झटक दिया। वह सूखी घास की टाल की छाया में ज़मीन पर लेटी हुई आराम कर रही थी। अब उठकर खड़ी हो गयी।

"ख़बरदार जो मुझे हाथ लगाया!" उसने बिगड़कर कहा और गुस्से से मुंह फेर लिया। "वैसे तुम जैसे आवारा सांड़ों से किसी को और उम्मीद ही क्या हो सकती है!"

ऊसमान टाल के क़रीब टांगें फैलाकर लेटा हुआ था। उसके तर होंठ घृणा से मुड़े हुए थे।

"जो अंगूर लोमड़ी की पहुंच के बाहर होते हैं, उन्हें वह हमेशा खट्टे ही बताती है... इतनी उछल-कूद करने की भी क्या पड़ी है? मैं शर्त लगाकर कह सकता हूं कि तुम्हारे मुंह में तो पानी भर-भर आ रहा है। फिर यह नाज़- नख़रा किसलिये?"

जमीला गुस्से में घूमी।

"शायद आ ही रहा है मेरे मुंह में पानी! मगर हमारी क़िस्मत में ही यदि यह लिखा है, तो हो ही क्या सकता है। पर तुम ज़रूर बेवक़ूफ़ हो कि तुम्हें मज़ाक़ के सिवा कुछ सूझ ही नहीं रहा। मैं सौ बरसों तक किसी फ़ौजी की बेवा बनकर रह सकती हूं, पर फिर भी तुम्हारे जैसे के मुंह पर थूकने को भी तैयार न हूंगी। तुम्हारी तो सूरत देखकर ही मुझे मतली होने लगती है। यह निगोड़ी जंग न छिड़ी होती, तो देखती कि तुम्हें दो टके को भी कौन पूछता!"

यही तो मैं भी कह रहा हूं! जंग छिड़ी हुई है और ख़सम के कोड़े के बिना तुम्हारा दिमाग़ ख़राब हुआ जा रहा है!" ऊसमान बनावटी हंसी हंसा। "आह, कहीं तुम मेरी बीवी होतीं, तब तुम्हारा बात करने का ढंग दूसरा ही होता।"

जमीला उसपर बरसना चाहती थी, मगर चुप्पी लगा गयी। उसने उसे झगड़ा करने के क़ाबिल न समझा। जमीला की नज़रों में नफ़रत ही नफ़रत थी। हताश होकर उसने थूका, दुशाख़ा उठाया और वहां से चल दी।

मैं घास की टाल के पीछे छकड़े में था। जमीला ने मुझे देखा कि तेज़ी से परे हट गयी। वह मेरे दिल की हालत समझती थी। मैं महसूस कर रहा था कि उसकी नहीं, मेरी बेइज़्ज़ती की गयी है, मेरे मुंह पर थूका गया है। कुछ और बस चलता न देखकर मैं मन ही मन जमीला पर ही बरस पड़ा –

"ऐसे लोगों से तुम्हें लेना-देना ही क्या होता है? तुम इन्हें मुंह ही क्यों लगती हो?"

उस दिन जमीला बादल की तरह घुटी-घुटी अन्दर ही अन्दर उमसती रही। मुझसे उसने बात ही न की। हमेशा की तरह हंसी-खिली भी नहीं। मैं छकड़ा उसके सामने ले जाता, तो वह सूखी घास की टाल में दुशाख़ा डालती और उसकी ओट में मुंह करके छकड़े की तरफ़ चली जाती। वह नहीं चाहती थी कि मैं उसके दिल में कसकते दर्द की चर्चा करूं। वह घास की ढेरी छकड़े में ठोंसती और दूसरी ढेरी लाने के लिए झटपट वापस भाग जाती। छकड़ा बहुत जल्द ही भर जाता। छकड़ा हांकते-हांकते मैंने घूमकर उसकी तरफ़ देखा। वह ख़्यालों में डूबी-खोयी निराश-हताश सी दुशाख़े के दस्ते पर झुकी हुई थी। फिर वह एकदम चौंककर संभली और अपने काम में जुट गयी।

हमने जब आख़िरी छकड़ा भी भर लिया, तो जमीला देर तक डूबते सूरज को देखती खड़ी रही। उसे तो जैसे दीन-दुनिया की सुध ही न रही थी। दूर, नदी के पार क़ज़ाख़ स्तेपी के ठीक सिरे पर थका-हारा सूरज तन्दूर के मुंह की तरह जल-दहक रहा था। वह बहुत धीरे-धीरे क्षितिज के नीचे जा रहा था। वह बिखरे-फटे बादलों में नारंगी रंग भरता हुआ बैंगनी स्तेपी पर अपनी आख़िरी किरणों का भण्डार लुटा रहा था। स्तेपी की घाटियों में तो झुटपुटे की नीलिमा छा भी चुकी थी। जमीला ने डूबते सूरज को आंख भर देखा और चहक उठी। वह तो जैसे कोई जादू-टोना, कोई अजूबा देख रही थी। उसके चेहरे पर मृदुलता चमक उठी, उसके खुले होंठ एक बालक की भांति धीरे से मुस्कराये। मैं उसे भला-बुरा कहकर अपने दिल का गुबार निकाल नहीं पाया था। डांट-फटकार के शब्द अभी तक मेरी ज़बान पर चक्कर काट रहे थे। जमीला ने जैसे इन अनकही बातों का जवाब देते हुए और जैसे कि हमारी बातचीत जारी रखते हुए कहा—

"उसके बारे में कुछ न सोचो, किचिने-बाला! कुछ ध्यान न दो उसकी तरफ़! तुम क्या सचमुच उसे इनसान समझते हो?" डूबते सूरज के सिरे को ध्यान से देखते हुए जमीला चुप हो गयी। फिर उसने एक गहरी सांस ली और गहरे ख़्यालों में डूबी हुई सी कहती गयी — "ऊसमान जैसे लोग भला यह कैसे जान सकते हैं कि इनसान की आत्मा में क्या-क्या छिपा है? कोई भी यह नहीं जान सकता... शायद सारी दुनिया में ऐसा कोई है ही नहीं..."

मैं अपने घोड़े मोड़ रहा था कि जमीला औरतों की एक टोली की तरफ़ भाग गयी। मुझे उनकी ख़ुशी भरी, गूंजती-चहकती आवाज़ सुनाई दी। उसमें अचानक ही यह जो परिवर्तन हुआ उसका कारण बताना मुश्किल है। शायद डूबते सूरज के नज़ारे से उसे राहत मिली थी या शायद दिन भर के काम के बाद उसका मनमोर नाच उठा था। मैं घास से लदे छकड़े पर काफ़ी ऊंचा बैठा हुआ जमीला को ग़ौर से देख रहा था। उसने अपने सिर से सफ़ेद रूमाल खींच लिया और घास कटे मटमैले खेतों में अपनी सहेली के पीछे दौड़ने लगी। उसके हाथ मस्ती में लहरा रहे थे और हवा उसकी पोशाक के छोर थपथपा रही थी। अचानक मेरे मन से उदासी के बादल छंट गये—"गोली मारो इस ऊसमान के बच्चे को!"

"चलो बेटो!" घोड़ों पर चाबुक फटकारते हुए मैं चिल्लाया।

उस दिन मैंने टीम-लीडर की सलाह मानकर पिता के घर आने का इन्तज़ार

किया। मैं अपनी हजामत करवाना चाहता था। पिता के आने तक मैं अपने भाई सादिक़ के ख़त का जवाब लिखने बैठ गया। ख़तों के मामले में भी कुछ अलिखित नियम थे। मेरे भाई पिता के नाम ख़त लिखते, गांव का डाकिया ये ख़त लाकर देता मां को और इन्हें पढ़ना और जवाब देना, यह काम था मेरे ज़िम्मे। सादिक़ का ख़त पढ़े बिना ही मैं उसका मज़मून भांप जाता था। कारण कि उसके सभी ख़त एक ही ढंग के होते थे—रेवड़ के मेमनों की तरह। सादिक़ हमेशा ही अपना पत्र "मंगल कामनाओं" से आरम्भ करता। इसके बाद लिखता—"मैं डाक द्वारा अपना यह ख़त तलस की फूलती-फलती और महकती धरती में रहनेवाले अपने सगे-सम्बन्धियों, अपने बहुत ही प्यारे, बहुत ही सम्मानित पिता जोलचूबाई के नाम भेज रहा हूं..." फिर वह मेरी मां, अपनी मां और एक निश्चित क्रम से हम सब की चर्चा करता। इसके बाद अनिवार्य रूप से हमारे क़बीले के आक़साक़ालों* और नज़दीकी रिश्तेदारों की कुशलक्षेम के बारे में प्रश्न होते। आख़िर में और वह भी जैसे जल्दी में सादिक़ यह एक वाक्य भी जोड़ देता — "मेरी बीवी जमीला को मेरी तरफ़ से सलाम।"

ख़त का इस तरह लिखा जाना तो था भी स्वाभाविक ही। जब मां-बाप ज़िन्दा थे, गांव जब आक़साक़ालों और नज़दीकी रिश्तेदारों से भरा पड़ा था, तो ख़त के शुरू में ही बीवी का ज़िक्र करने का सवाल ही कैसे पैदा हो सकता था? ऐसा करना तो बहुत अनुचित भी होता। सीधे बीवी के नाम ख़त लिखने की तो ख़ैर बात सोचना ही बेकार था। न सिर्फ़ सादिक़ ही, बल्कि आत्मसम्मान रखनेवाला हर आदमी यही राय रखता था। यह जानी-मानी रीति थी। कभी किसी ने इसके ख़िलाफ़ आवाज़ न उठायी थी। इसपर बहस करने का तो ख़ैर सवाल ही क्या था, हमने तो कभी भूलकर यह भी न सोचा था कि यह सही है या ग़लत। उन दिनों तो ख़त का आना ही बहुत बड़ी बात थी। बहुत ही ख़ुशी भरी घटना होती थी यह।

मेरी मां मुझसे कई-कई बार हर ख़त पढ़वाती। फिर जैसे धार्मिक श्रद्धा -आस्था के काम कर-करके खुरदरे हुए हाथों में वह काग़ज़ का टुकड़ा थाम लेती। वह इसे इस तरह अटपटे-अजीब ढंग से हाथ में लेती मानो वह ख़त न होकर कोई परिन्दा हो, उड़ने के लिए पंख फड़फड़ा रहा हो। बहुत मुश्किल से ही उसकी अकड़ी हुई उंगलियां आख़िर उस ख़त को तिकोनी तह दे पातीं।

* आक़साक़ाल—सम्मानित लोग। — सं०

"आह, लाड़लो, हम तुम्हारे ख़तों को तावीज़ की तरह संभालकर रखेंगे!" आंखों में आंसू भरकर वह कांपती आवाज़ में कहती। "मेरा बेटा पूछता है कि पिता, मां और रिश्तेदारों का क्या हाल है? हमें भला हो ही क्या सकता है? हम अपने घर में बैठे हैं, अपने गांव में हैं, हमें क्या हो सकता है! मगर तुम बताओ, तुम कैसे हो, बेटा? हमें तो सिर्फ़ इतना लिख भेजो कि तुम जिन्दा हो। बस सिर्फ़ इतना ही। हमें और कुछ नहीं चाहिए..."

मेरी मां देर तक उस तिकोन को देखती रहती। फिर वह और ख़तों के साथ ही इस ख़त को भी एक छोटे-से बटुए में रखकर सन्दूक़ में बन्द कर देती।

जमीला अगर उस वक़्त घर पर होती, तो उसे वह ख़त पढ़ने की इजाज़त दे दी जाती। मैंने देखा कि ख़त हाथ में लेते हुए उसके चेहरे पर सुर्ख़ी दौड़ जाती। वह ख़त को पढ़ने नहीं, जल्दी-जल्दी निगलने लगी। मगर जैसे-जैसे वह ख़त पढ़ती गयी, उसके कन्धे झुकते गये और उसके गालों की चमक और सुर्ख़ी हवा होती गयी। उसके माथे पर बल पड़ गये। उसने पत्र की अन्तिम पंक्तियां बिना पढ़े ही छोड़ दीं। कुछ ऐसी उदासीनता, ऐसी लापरवाही से उसने वह ख़त मेरी मां को लौटा दिया, जैसे कि कोई उधार ली हुई चीज़ वापस दे रही हो।

मेरी मां ने अपने ही ढंग से बहू के मन की बात समझी। उसने उसको दिलासा देने, उसका मन बहलाने की कोशिश की —

"क्या बात है?" सन्दूक़ बन्द करते हुए मां ने कहा। "अरे ख़ुश होने के बजाय तुम तो एकदम उदास हो गयीं! अकेला तुम्हारा ही पति तो मोर्चे पर गया नहीं है! सिर्फ़ तुम्ही तो दुख-मुसीबत के दिन काट नहीं रही हो! सारा देश ख़ून के आंसू रो रहा है। तुम्हें भी दूसरों की तरह अपना दुख-दर्द बर्दाश्त करना चाहिए। तुम क्या समझती हो कि तुम्हारी तरह अकेलापन महसूस करनेवाली और लड़कियां नहीं हैं? क्या उन्हें अपने घर वालों की याद नहीं आती? अपने दर्द को चेहरे पर न आने दो। अपनी भावनाओं को अपने मन तक ही सीमित रखो।

जमीला ने कुछ भी जवाब न दिया। मगर उसके चेहरे पर उदासी और दृढ़ता का भाव उभर आया। वह मानो यह कहती-सी लगी — "ओह मां! तुम कुछ भी तो नहीं समझती हो!"

सादिक़ का इस बार जो ख़त आया था, उसपर सरातोव नगर की मुहर थी। वह वहां एक अस्पताल में था। सादिक़ ने लिखा था कि अगर ख़ुदा की मेहर हुई, तो वह पतझर तक घर आ जायेगा। उसने पहले भी इसके बारे में लिखा था और हम बड़े चाव से उसके घर आने का इन्तज़ार कर रहे थे।

आख़िर उस दिन मैं घर पर न रहा और खलियान की तरफ़ चला आया। रात को मैं अक्सर वहीं सोता था। मैं अपने घोड़ों को अलफ़ालफ़ा के चरागाह में ले गया और उनके पांव बांध दिये। सामूहिक फ़ार्म के अध्यक्ष ने इस चरागाह में पशु चराने की मनाही कर रखी थी। मगर मैं उसके इस क़ानून की परवाह न करता था। कारण कि मैं अपने घोड़ों को अच्छी तरह खिलाना चाहता था। मैं इस घाटी में एक अलग-थलग कोने से वाकिफ़ था। इसके अलावा रात के वक़्त किसी के वहां आने-जाने और देखने की सम्भावना भी न थी। इस बार जब मैं अपने घोड़ों को चरागाह में ले गया, तो देखा कि किसी के चार घोड़े वहां पहले से ही मौजूद हैं। मुझे यह बहुत बुरा लगा। आख़िर मैं दो घोड़ों के छकड़े का मालिक था, इसलिए मुझे बुरा मानने का हक़ हासिल था। बिना किसी हिचक-झिझक के मैंने उन अजनबी घोड़ों को वहां से भगाने का फ़ैसला किया। इस तरह मैं अपने इलाक़े में घोड़े छोड़नेवाले बदमाश को पाठ पढ़ाना चाहता था। पर तभी मैंने उनमें से दनियार के दो घोड़े पहचाने। टीम -लीडर ने उसी दिन उसकी चर्चा की थी। अगली सुबह से हम दोनों को एक साथ ही काम करना था। इसलिए मैंने उसके घोड़े खदेड़ने का इरादा तर्क कर दिया और खलियान में लौट आया।

दनियार को मैंने वहां पाया। वह अपने छकड़े के पहियों में तेल दे चुका था और अब उनकी स्पोकें कस रहा था।

"दनियार, घाटी में क्या वे तुम्हारे घोड़े हैं?" मैंने पूछा।

उसने धीरे-से मेरी तरफ़ अपना सिर घुमाया।

"दो मेरे हैं?"

"और बाक़ी दो?"

"ये उसके हैं, क्या नाम है उसका — जमीला के। कौन है वह, तुम्हारी जेने है न?"

"हां।"

"उन दो घोड़ों को टीम-लीडर खुद यहां छोड़ गया है और मुझे इनकी देखभाल करने के लिए कह गया है..."

ख़ुशक़िस्मती ही समझिये कि मैंने इन घोड़ों को खदेड़ा नहीं!

रात घिर आयी। संध्या समय पहाड़ की तरफ़ से आनेवाले ठण्डी हवा के झोंकों ने अपने पंख समेट लिए। खलियान में हर चीज़ निश्चल थी। दनियार मेरे पास ही भूसे के एक ढेर पर लेट गया। घड़ी भर बाद वह उठा और नदी की तरफ़ चल दिया। वह खड्ड के सिरे पर जाकर रुक गया, मेरी तरफ़ पीठ करके खड़ा रहा। अपने हाथ वह पीछे की तरफ़ बांधे था और उसका सिर एक तरफ़ को झुका हुआ था। उसका लम्बा-चौड़ा गठा हुआ जिस्म हल्की-हल्की चांदनी में साफ़-साफ़ दिखाई दे रहा था। वह तो ऐसे लग रहा था जैसे कि किसी बुततराश ने आड़ा-तिरछा बुत तराश डाला हो। वहां खड़ा हुआ वह मानो पानी के तेज़ बहाव के मधुर संगीत में डूबा हुआ था। वह संगीत, जो रात के वक़्त बहुत साफ़-साफ़ सुनाई देता है। शायद वह हवा में तैरती सरसराती ऐसी आवाज़ें सुन रहा था, जो मुझे सुनाई न दे रही थीं। यक़ीनन वह आज की रात भी नदी तट पर ही गुज़ारेगा, मैंने मन ही मन सोचा और मुस्करा दिया।

दनियार हमारे गांव में अभी हाल ही में आया था, नवागन्तुक था। हुआ यह कि एक दिन एक लड़का दौड़ता और चिल्लाता हुआ खेतों में आया। उसने चिल्लाकर सबको बताया कि एक जख़्मी फ़ौजी गांव में आया है। वह है कौन और कहां का रहनेवाला है, लड़का यह न जानता था। ख़बर तो आग की तरह गांव भर में फैल गयी! जैसे ही मोर्चे से कोई लौटता कि गांव का हर आदमी उससे मिलने के लिए भाग खड़ा होता। लोग उससे हाथ मिलाते और उससे अपने-अपने रिश्तेदारों के बारे में पूछते, ताज़ा ख़बरसार जानने की कोशिश करते। इस बार तो बहुत ही ज़ोर का होहल्ला मचा। हर कोई यही सोच रहा था – "शायद हमारा भाई लौटा है, शायद बहनोई?" घास काटनेवाले सभी लोग इस फ़ौजी को देखने के लिए गांव की तरफ़ भागे।

पता चला कि दनियार वास्तव में हमारे ही गांव का रहनेवाला है। लोगों ने बताया कि वह छुटपन में ही यतीम हो गया था। तीन बरस तक तो वह कभी एक और कभी दूसरे घर में रहा। आख़िर वह चक़माक़ स्तेपी में कज़ाख़ों के पास जाकर रहने लगा। उसका ननिहाल कज़ाख़ों में ही था। हमारे गांव

में दनियार का कोई नज़दीकी रिश्तेदार न था और इसलिए बहुत जल्द ही लोग उसे भूल-भाल गये। लोगों ने उससे पूछा कि अपना जन्म-स्थान, अपना गांव छोड़ने के बाद उसका जीवन कैसे बीता। दनियार ने इस सवाल का जवाब देने में टालमटोल से काम लिया। मगर फिर भी यह तो साफ़ ज़ाहिर ही था कि उसने काफ़ी तकलीफ़ें-मुसीबतें झेली थीं। उसे ज़हर के वे घूंट भी पीने पड़े थे, जोकि अक्सर यतीमों को पीने पड़ते हैं। वह ज़िन्दगी भर इधर-उधर भटकता और ठोकरें खाता रहा था। लम्बे अरसे तक उसने चक़माक़ के खारी मिट्टी के मैदान में भेड़ें चरायीं, बड़ा हुआ तो रेगिस्तानों में नहरें खोदीं और फिर उसने राजकीय कपास-फ़ार्म और ताशक़न्द के नज़दीक आहनगरान की खानों में काम किया। यहीं से उसे मोर्चे पर भेज दिया गया।

उसका अपने जन्म-स्थान, अपने गांव में लौट आना लोगों को अच्छा लगा। उन्होंने कहा – "ख़ैर, बहुत-सी अजनबी जगहों में भटक-भटकाकर आखिर तो अपने ही गांव में लौट आया! इसका मतलब यह है कि उसकी क़िस्मत में अपनी धरती का दाना-पानी लिखा है। वह अपनी ज़बान भी नहीं भूला है और मज़े से क़िर्ग़ीज़ी में बातचीत कर लेता है। कभी-कभी अगर कज़ाख़ी के दो-चार शब्द भी मिला देता है, तो इसमें क्या हर्ज है!"

"तुलपार* को अगर दुनिया के दूसरे सिरे पर भी छोड़ दिया जाये, तो भी वह अपने झुण्ड में लौट आयेगा। अपनी धरती, अपने लोगों को भला कौन भूल सकता है? तुमने अच्छा ही किया कि लौट आये। हम ख़ुश हैं और तुम्हारे बुज़ुर्गों की रूहें भी। अल्लाह ने चाहा तो हम जल्द ही जर्मनों का सफ़ाया करके फिर से अमन-चैन की बंसी बजायेंगे। तब औरों की तरह तुम्हारा भी घर-बार होगा, तुम्हारे चूल्हे से भी धुआं निकलता दिखाई देगा!" बूढ़े आक़साक़ालों ने कहा।

दनियार की वंशावली की जांच-पड़ताल करके उन्होंने उसकी नज़दीकी रिश्तेदारी खोज निकाली। इस तरह एक नया रिश्तेदार – दनियार – हमारे गांव में नमूदार हुआ।

क़द लम्बा, झुके कन्धे और लंगड़ाती चाल, यह था दनियार। टीमलीडर उरुज़मत उसे अपने साथ लेकर खेतों में आया। दनियार कन्धे पर अपना

* तुलपार – एक पौराणिक घोड़ा। – सं०

फ़ौजी कोट डाले हुए था और जल्दी-जल्दी क़दम बढ़ाता हुआ उरुज़मत के छोटे-से घोड़े का साथ देने की कोशिश कर रहा था। लम्बे तड़ंगे दनियार के साथ-साथ, नाटे और बार-बार उछलते हुए टीम-लीडर उरुज़मत को देखकर हमें बरबस फुदकनेवाली दरियाई टिटिहरी की याद आ रही थी। इन्हें साथ-साथ देखकर लड़के तक हंस पड़े।

दनियार का ज़ख़्म अभी तक भरा न था। अभी वह अपनी टांग को अच्छी तरह से हिला-डुला न सकता था इसलिए वह चारा काटने के क़ाबिल न था। उसे हम लड़कों के साथ घास काटने की मशीनों की देखभाल का काम सौंपा गया। सच बात तो यह है कि वह हमको अच्छा न लगा। वह हर वक़्त गुम-सुम रहता और उसकी यह हर वक़्त की खामोशी हमें नागवार गुज़रती। वह कभी भूले-भटके ही एक-आध शब्द मुंह से निकालता। और अगर कुछ कहता, तो ऐसे लगता कि वह सोच कुछ और रहा है और बोल रहा है कुछ और ही। वह हमें अपने ही ख़्यालों में उलझा-उलझाया-सा नज़र आता। वह अपनी सोच में डूबी हुई स्वप्निल-स्वप्निल आंखों से अपने सामने खड़े आदमी को घूरता रहता, पर फिर भी कोई यक़ीन से यह न कह पाता कि दनियार उसकी तरफ़ देख भी रहा है या नहीं।

"बेचारा दनियार! मोर्चे से लौटने के बाद अपने को संभाल ही नहीं पा रहा है!" गांव के लोग कहते।

बेशक वह हर वक़्त सपनों में खोया रहता, पर फिर भी बहुत फुर्ती और सफ़ाई से अपना काम करता। उसकी यह बात बहुत ही अजीब लगती। पहली नज़र में तो देखनेवाले के मन पर यही छाप अंकित होती कि वह बड़ा साफ़गो और खुला हुआ आदमी है। शायद बचपन के बुरे दुख भरे दिनों ने उसे अन्दर ही अन्दर घुलना, गुम-सुम रहना, अपने भाव और अपनी भावनायें छिपाने का आदी बना दिया था। यह बहुत ही मुमकिन था।

दनियार के पतले-पतले होंठ हर वक़्त भिंचे रहते थे और उसके मुंह के कोनों पर गहरी रेखाएं थीं। उसकी आंखों से दुख और उदासी झलकती और थके-हारे मुरझाये चेहरे पर ज़िन्दगी की झलक मिलती तो सिर्फ़ उसकी हिलती-डुलती भौंहों के कारण। कभी-कभी वह अचानक ही चौकन्ना हो जाता। वह मानो हमें सुनाई न देनेवाली कोई अजीब आवाज़ सुनता। तब उसकी भौंहें चढ़ जातीं और आंखों में एक अजीब आग-सी दहकने लगती। उसके चेहरे

पर ख़ुशी की एक लहर-सी दौड़ जाती और वह काफ़ी देर तक क़ायम रहती। हमें यह सब कुछ बड़ा अजीब-अजीब-सा लगता। इतना ही नहीं, उसमें कुछ और भी अनोखी बातें थीं। शाम होती तो हम अपने घोड़े खोल देते और तम्बू के गिर्द जमा होकर खाना तैयार होने का इन्तज़ार करते। मगर दनियार उस वक़्त पास की ऊंची पहाड़ी पर चढ़ जाता और अंधेरा होने तक वहीं बना रहता।

"वह वहां कर क्या रहा है? पहरा दे रहा है क्या?" हम लोग हंसते।

एक दिन अपने मन की जिज्ञासा मिटाने के लिए मैं उसके पीछे-पीछे पहाड़ी पर जा पहुंचा। मुझे वहां कुछ भी ख़ास बात नज़र न आयी। मैदान झुटपुटे में लिलक जैसी नज़र आ रहा था और पर्वतमाला के साथ-साथ दूर क्षितिज तक फैला हुआ था। अंधेरे और झुटपुटे धुंधलके में लिपटे हुए खेत सन्नाटे में धीरे-धीरे घुलते-मिलते जा रहे थे।

दनियार ने मेरी तरफ़ ज़रा भी ध्यान न दिया। वह घुटनों के गिर्द बाहें डाले बैठा था, विचारों में खोया-डूबा। वह दूर, बहुत दूर नज़र गड़ाये था। फिर से मुझे ऐसा लगा मानो वह कोई अबोधगम्य आवाज़ सुन रहा हो। जब-तब वह चौंकता और फिर बुत बन जाता। उसकी आंखें अपलक खुली रह जातीं। ज़रूर कोई न कोई बात इसे परेशान किये दे रही है, मैंने सोचा। मुझे महसूस हुआ कि वह अभी उठेगा और अपना दिल खोलकर रख देगा, मगर मेरे सामने नहीं – मेरी तरफ़ तो वह ध्यान भी नहीं देता था। वह अपना दिल खोलेगा, जब उसके सामने कुछ महान्, विशाल और ऐसा होगा, जो मेरे लिए अज्ञात है। मैंने फिर जो उसपर नज़र डाली, तो उसे पहचान भी न पाया – दनियार झुका हुआ और उदास-उदास-सा बैठा था। मैंने महसूस किया कि वह तो दिन भर की थकान मिटाने के लिए यहां बैठकर बस आराम ही कर रहा है।

हमारे सामूहिक फ़ार्म के खेत कुरकुरेव नदी की बाढ़वाली ज़मीन के साथ-साथ फैले हुए हैं। यह नदी हमारे गांव के नज़दीक एक दरार से बाहर आती है और गरजती-दहाड़ती बहुत तेज़ी से घाटी में पहुंचती है। घास काटने-सुखाने के दिनों में ही पहाड़ी नदियों में बाढ़ें आती हैं। गंदला, झाग उड़ाता हुआ पानी संध्या समय बढ़ना शुरू हो जाता है। रात के वक़्त यह नदी बहुत ज़ोर-ज़ोर से खर्राटे लेती है। मैं इसके खर्राटों की आवाज़ से चौंककर जाग उठता। ख़ामोश

रात और नीले आकाश की चादर में से झांकते हुए सितारों पर मेरी नज़र टिक जाती। हवा के ठण्डे और तेज़ झोंके रुक-रुककर, झपटकर इधर से उधर जाते। धरती गहरी नींद में सोई होती। इस ख़ामोशी, इस गहरे सन्नाटे में मुझे ऐसा लगता कि जैसे नदी हड़बड़ाती, शोर मचाती, तेज़ी से हमारी तरफ़ बढ़ी आ रही है। हम नदी के बहुत नज़दीक न थे, फिर भी मैं नदी के पानी को अपने इर्दगिर्द महसूस करने लगता। अनजाने ही डर का भूत मुझे अपनी बाहों में जकड़ लेता। मुझे अनुभव होता कि अभी तम्बू पानी की बाढ़ में बह जायेगा और यहां पानी ही पानी हो जायेगा। मेरे साथी घास काटनेवालों की गहरी नींद के मज़े लेते रहते, मगर मैं बेचैन होकर तम्बू से बाहर आ जाता।

कुरकुरेव की बाढ़ की ज़मीनों में रात के वक़्त बहुत डर भी लगता है और बहुत मज़ा भी आता है। चरागाह में जहां-तहां पिछाड़ी-बन्धे घोड़ों की काली-काली आकृतियां दिखाई देती हैं। ये घोड़े पेट भर ओस भीगी घास खाने के बाद अब ज़ोरों से ऊंघ रहे हैं, धीरे-धीरे खर्राटे ले रहे हैं। पास ही कुरकुरेव नदी के पानी की अजीब-अजीब आवाज़ें सुनाई देती हैं। अपने किनारों से उफन-उफनकर बाहर आती हुई बेंतों की झाड़ियों पर अपने चपत जमाती और उन्हें झुकाती हुई पत्थरों को साथ बहाये नदी चली आती है और गहरी गम्भीर आवाज़ पैदा करती है। इस बेचैन नदी की उछल-कूद से खामोश रात में चारों तरफ़ भयानक और रोंगटे खड़ी करनेवाली आवाज़ें फैल जाती हैं।

ऐसी रातों में मुझे हमेशा ही दनियार की याद आती। वह अक्सर नदी के किनारे सूखी घास के ढेर पर सोता था। क्या उसे डर नहीं लगता? नदी के शोर से क्या उसके कानों के पर्दे नहीं फटते? क्या वह सचमुच वहां सो सकता है? वह नदी के किनारे अकेला ही अपनी रातें क्यों बिताता है? कौनसा जादू-टोना उसे वहां खींच ले जाता है? मुझे लगता कि वह एक अजीब आदमी है। इस दुनिया से उसे वास्ता नहीं। वह अब कहां है? मैंने घूमकर देखा, मगर वहां कोई भी नज़र न आया। बहुत दूरी पर ढालू पहाड़ियों की तरह नदी के किनारे आंखों से ओझल हो रहे थे और दूर-दूर तक फैली पहाड़ियों पर अंधेरे ने अपने पांव फैला रखे थे। पहाड़ी चोटियों पर खामोशी छाई थी, सितारे झिलमिला रहे थे।

शायद आप सोचेंगे कि दनियार ने इस अरसे में गांव में कुछ दोस्त बना लिये थे। मगर नहीं, वह आज भी पहले की ही तरह अकेला था। वह तो

जैसे दोस्ती और दुश्मनी, हमदर्दी और जलन इन शब्दों के अर्थ ही न जानता था। गांव में उसी जीगित की तरफ़ सभी की नज़र जाती है, जो अपने लिए और अपने दोस्तों के लिए छाती ठोककर सामने आ खड़ा होता है, जो भलाई और कभी-कभी बुराई भी करता है, जो आक़साक़ालों के साथ ख़ुशी और ग़मी के मौक़ों की ज़िम्मेदारी संभालता है। औरतें भी ऐसे ही बांके पर जान देती हैं।

लेकिन अगर कोई दनियार जैसा हो, अपने में ही सिमटा-सिमटाया रहे, गांव की हर दिन की ज़िन्दगी में ज़रा भी दिलचस्पी न ले, तो गांव वाले भी या तो उसकी उपेक्षा करते हैं या फिर दया दिखाते हुए यह कहने लगते हैं –

"वह तो न किसी के भले में है, न बुरे में। बेचारा जैसे-तैसे अपनी गाड़ी चलाये जा रहा है, सो चलाते रहने दो..."

ऐसे लोग अक्सर ही या तो हंसी-मजाक़ के पात्र बनते हैं या दया-सहानुभूति के। हम छोकरे, अपने को अपनी उम्र से बड़ा ज़ाहिर करने की कोशिश करते, जीगितों की बराबरी का दम भरते और दनियार के सामने तो नहीं, मगर पीठ पीछे हम सभी उसकी खिल्ली उड़ाते। वह अपनी फ़ौजी क़मीज़ खुद नदी पर जाकर धोता है, हम तो इस बात का भी मज़ाक़ उड़ाते। वह क़मीज़ धोता और अभी कुछ-कुछ नम ही होती कि पहन लेता – उसके पास दूसरी क़मीज़ जो न थी।

अजीब बात थी कि दनियार वैसे तो नर्म तबीयत का दिखाई देता और चुप-चुप भी रहता, पर हमें उससे घुलने-मिलने की हिम्मत न होती। हमारी इस झेंप का कारण उसका उम्र में बड़ा होना न था। आख़िर तीन-चार साल का फ़र्क़ माने ही क्या रखता है? हम बड़ी आसानी से उसकी उम्र के लोगों के साथ दोस्त का-सा बर्ताव कर सकते थे। इसकी वजह यह भी नहीं थी कि वह कठोर था या घमंडी। अगर ऐसा होता, तो शायद हमारे दिल में उसके लिए इज़्ज़त या कुछ डर का-सा भाव पैदा हो जाता और हम उसके नज़दीक होने की हिम्मत न कर पाते। पर ऐसा कुछ भी तो नहीं था। उसकी अनजानी चुप्पी, उसका उदास-उदास और विचारों में डूबे रहना, इसी में कुछ ऐसा था कि हम उससे छेड़-छाड़ करने का साहस न कर पाते। वैसे हम छोकरे तो हमेशा ही किसी न किसी का मज़ाक़ उड़ाने की ताक में रहते।

दनियार के प्रति हमारे सधे-बंधे व्यवहार के लिए एक विशेष घटना ज़िम्मेदार थी। मैं एक ज्ञानपिपासु लड़का था। अक्सर लगातार सवाल कर-करके लोगों के नाक में दम कर देता था। मोर्चे से लौटे हुए फ़ौजियों से लड़ाई के बारे में जानकारी हासिल करने का तो मुझे जनून था। दनियार जब हमारे साथ काम करने लगा, तो मैं इस भूतपूर्व सैनिक से कुछ जानने-पूछने की ताक़ में रहने लगा।

एक शाम हम अलाव के गिर्द बैठे थे। शाम का खाना खाने के बाद हम लोग वहां बैठकर आराम कर रहे थे।

"दनियार, सोने से पहले हमें लड़ाई के बारे में तो कुछ बताओ," मैंने कहा।

पहले तो वह चुप रहा और कुछ नाराज़-सा भी दिखाई दिया। वह देर तक टकटकी बांधकर आग को देखता रहा और फिर उसने सिर उठाकर हमारी तरफ़ देखा।

"लड़ाई के बारे में?" उसने पूछा। और फिर जैसे कि अपने ही मन के सवालों का जवाब देते हुए धीरे-से बोला – "लड़ाई के बारे में कुछ भी न जानना ही बेहतर है!"

वह घूमा, उसने मुट्ठी भर सूखी टहनियां समेटीं, उन्हें आग में फेंका और हमारी ओर देखे बिना ही फूंक-मार-मारकर उन्हें सुलगाने लगा।

दनियार ने एक भी शब्द और न कहा। उसके गिने-गिनाये वे कुछ शब्द ही हमारे लिए काफ़ी साबित हुए। हमने यह महसूस किया कि लड़ाई कोई हंसी-मज़ाक, आराम से बिस्तर में लेटकर सुनने लायक़ कोई दिलचस्प दास्तान नहीं है। लड़ाई इनसान के दिल में ख़ून का गहरा धब्बा, ख़ूनी दाग़ बनकर रह गयी थी। उसके लिए इसकी चर्चा करना आसान न था। मुझे खुद अपने पर शर्म आयी। फिर तो कभी भूलकर भी मैंने उससे लड़ाई की चर्चा करने की हिमाक़त न की।

हम बहुत जल्द ही उस शाम के बारे में भूल गये। ठीक उसी तरह और उतनी जल्दी ही, जितनी जल्दी कि गांव के लोग खुद दनियार को ही भूल गये थे।

अगली सुबह, मैं और दनियार बहुत तड़के ही घोड़े लेकर खलियान में आ पहुंचे। जमीला भी जल्द ही आ गयी। हम दोनों को वहां देखकर वह दूर से ही चिल्लाई –

"ए किचिने-बाला, मेरे घोड़े यहां ले आओ! साज़ कहां हैं?" इतना कहकर वह ध्यान से छकड़े का मुआइना करने लगी। वह तो कुछ ऐसे लग रही थी कि मानो ज़िन्दगी भर छकड़े ही हांकती रही हो। धुरे की जांच-पड़ताल करने के लिए वह पहियों को ठोक-पीट रही थी।

हम जब उसके पास आये, तो उसे हमारी सूरत बहुत ही दिलचस्प लगी। दनियार किरमिच के बेहद चौड़े-चौड़े बूट पहने था। उसकी लम्बी-पतली टांगें इन बूटों में ठप-ठप कर रही थीं। ऐसा लगता था कि वे बूट किसी भी घड़ी उसके पांव से निकलकर अलग जा गिरेंगे। इधर मैं नंगे पांव चलकर सख़्त हुई अपनी एड़ियां घोड़े की बग़ल में दबाये जा रहा था।

"क्या बढ़िया जोड़ी है!" अपना सिर झटककर जमीला ने कहा। अगले ही क्षण वह हम दोनों पर हुक्म चलाने लगी – "जल्दी करो! गर्मी होने से पहले-पहले ही हमें स्तेपी पार करनी है!"

जमीला ने मज़बूती से लगामें पकड़ीं, घोड़ों को छकड़े के पास ले गयी और जोतने लगी। यह सब कुछ उसने खुद ही किया। सिर्फ़ एक बार उसने मुझे लगामें ठीक करने का तरीका बताने को कहा। दनियार की तरफ़ तो उसने ध्यान ही न दिया। वह तो जैसे वहां था ही नहीं।

जमीला की दृढ़ता, रोब जमाने का ढंग और आत्मविश्वास देखकर दनियार तो भौचक्का-सा रह गया। वह वहां खड़ा-खड़ा ज़ोर से अपने होंठ भींच रहा था। उसकी नज़र में खीझ और साथ ही दबी-छिपी प्रशंसा झलक रही थी। जब दनियार ने कांटे से अनाज की एक बोरी उठाई और चुपचाप उसे छकड़े तक ले गया, तो जमीला ने बिगड़कर कहा –

"तुम क्या समझते हो कि हम इसी तरह अलग-अलग काम करेंगे? नहीं, मेरे दोस्त, यह सब नहीं चलेगा। लाओ, अपना हाथ बढ़ाओ! तुम क्या खड़े-खड़े मुंह तक रहे हो, किचिने-बाला? छकड़े पर चढ़ बोरियां ठीक-ठाक करो!"

जमीला ने दनियार का हाथ थाम लिया। जब उन्होंने जुड़ी हुई बांहों पर एक बोरी उठाई, तो बेचारे दनियार का तो झेंप के मारे बहुत ही बुरा हाल हुआ। और इस तरह वे बार-बार कसकर बांहें पकड़ते और बोरियां उठाते रहे। बोरियां उठाते समय उनके सिर भी एक दूसरे से लगभग छू जाते। मैंने दनियार का तो हर बार ही बुरा हाल होते देखा। वह घबराया-घबराया-सा अपने होंठ काटता और जमीला की आंखों से आंखें बचाने की कोशिश करता। मगर जमीला को

तो कुछ भी परेशानी न हो रही थी। उसे तो जैसे अपने सहायक की उपस्थिति का ज्ञान तक न था। वह तो कांटे पर काम करनेवाली औरत से हंसी-ठिठोली करती रही। आख़िर छकड़े भर गये और हमने लगामें संभालीं। तब जमीला ने शरारत करते हुए आंख मारी और हंसकर कहा –

"ए, क्या नाम है तुम्हारा! दनियार? तुम मर्द जैसे लगते हो, इसलिए तुम्हीं अपना छकड़ा आगे-आगे ले चलो!"

दनियार ने लगामें खींची और चल दिया। "हाय, बेचारा दनियार," मैंने सोचा, "आगे ही क्या कमी थी – और इसपर शर्मीले भी हो! करेला और सो भी नीम चढ़ा।"

हमारा सफ़र काफ़ी लम्बा था – कोई बीस किलोमीटर तो स्तेपी में से जाना था और फिर दर्रे में से गुज़रकर स्टेशन तक पहुंचना था। अच्छी बात थी तो सिर्फ़ यही कि सड़क शुरू से आख़िर तक ढालू थी। इसलिए घोड़ों को ज़्यादा ज़ोर लगाने की ज़रूरत न थी।

हमारा गांव कुरकुरेव नदी के तट के साथ, आलाताव पर्वतमाला की ढाल पर स्थित था। घाटी में दाख़िल होने तक पेड़ों की काली-काली फुनगियोंवाला हमारा यह गांव हमेशा दिखाई देता रहता था।

हम दिन में सिर्फ़ एक ही चक्कर लगाते। हम सुबह-सुबह ही गांव से चलते और बाद दोपहर स्टेशन पर पहुंच जाते।

सूरज आग बरसा रहा था। स्टेशन पर ऐसा भीड़-भड़क्का था कि रास्ता ढूंढ़ना मुश्किल था – घाटी के हर कोने से बोरियों से ठसाठस भरे छकड़ों और गाड़ियों, दूरस्थ पहाड़ी सामूहिक फ़ार्मों से खच्चरों और बैलों पर लादकर लायी गयी अनाज की बोरियां ही बोरियां थीं। इन छकड़ों, गाड़ियों और लद्दू जानवरों को हांकते थे धूप में झुलसकर संवलाये चेहरों, बदरंग कपड़ों, पथरीली सड़कों के पत्थरों पर नंगे पांव चल-चलकर फटे पैरों और गर्मी और धूल के कारण फटे होंठ वाले लड़के और फ़ौजी।

एलीवेटर पर एक बड़ा-सा नारा लिखा हुआ था—"अनाज का हर दाना मोर्चे के लिए!" अहाते में गाड़ीवानों की भारी रेल-पेल थी, चीख़-चिल्लाहट थी। पास ही में एक छोटी-सी दीवार के पीछे इंजन इधर-उधर चक्कर काट रहा था। वह घटी-घुटी गर्म भाप छोड़ता हुआ जले लावे की गन्ध फैला रहा था। रेलगाड़ियां धड़धड़ाती और गड़गड़ाती हुई गुज़र रही थीं। ऊंट उठकर खड़े होने का नाम

न ले रहे थे और गुस्से से अपने लार भरे मुंह खोलकर ज़ोर-ज़ोर से शोर मचा रहे थे।

स्टेशन पर आग की तरह जलती हुई लोहे की छत के नीचे अनाज के ढेर लगे हुए थे। ढालू तख़्तों पर चढ़ते हुए ठीक छत तक बोरियां लेकर जाना पड़ता था। अनाज की बोझिल गन्ध और गर्द से दम घुटता था।

"ए, हज़रत! ज़रा ध्यान से!" अनाज संभालनेवाला कर्मचारी नीचे से चिल्लाया। उनींदा रहने के कारण उसकी आंखें लाल-लाल और चढ़ी हुई थीं। "इन बोरियों को ऊपर ले जाओ, ठीक सिरे तक!" उसने मुक्का दिखाया और गाली दी।

वह गाली क्यों दे रहा है? हमें मालूम है कि इन बोरियों को कहां ले जाना है और हम उन्हें वहां पहुंचा भी देंगे। आख़िर हम ही तो इन बोरियों को कंधों पर लादकर खेतों से यहां तक लाते हैं। उन खेतों से जहां औरतों, बूढ़ों और बच्चों ने अनाज बोया और काटा; जहां आजकल ज़ोरों से फ़सलें काटी जा रही हैं और जहां कम्बाइन-चालक फटे-पुराने ख़स्ताहाल मशीन से ही जैसे-तैसे काम चला रहा है। हम उन्हीं खेतों से तो ये बोरियां लाये हैं, जहां औरतें जलती दरांतियों पर झुकी रहती हैं और जहां बच्चे बड़ी सावधानी से अनाज का एक-एक दाना इकट्ठा करते हैं।

वे बोरियां कितनी भारी थीं, यह तो मुझे आज तक भी याद है। उन्हें उठाना तो किसी हट्टे-कट्टे आदमी का काम था। मैं बोझ से दबते, लचकते तख़्तों पर क़दम रखता हुआ आगे बढ़ता गया। बोरी का एक सिरा मैंने ज़ोर से दांतों तले दबा रखा था ताकि बोरी गिर न जाये, संभली रहे। गर्द-गुबार से गले में जलन महसूस हुई, भार से हड्डियां कराह उठीं और आंखों के सामने चिनगारियां-सी नाच उठीं। बार-बार मुझे चक्कर आये, बार-बार मुझे यह लगा कि बोरी गिरी कि गिरी। मेरे अपने मन में भी कई बार यह ख़्याल आया कि जब इसे गिरना ही है, तो मैं ही क्यों न गिरा दूं और खुद भी इसके साथ लुढ़क-पुढ़क जाऊं। मगर मेरे पीछे और भी बहुत-से लोग थे। वे भी बोरियां उठाये थे – मेरे जैसे छोकरे थे या फ़ौजियों की वे बीवियां, जिनके मेरे जैसे बेटे थे। अगर कमबख़्त लड़ाई के दिन न होते, तो भला कौन इन्हें इतनी भारी बोरियां उठाने देता? जब औरतें भी मेरे जैसा काम कर रही हैं, तो भला मुझे हिम्मत हारने का क्या हक़ है? मुझे कोई हक़ नहीं है।

जमीला मेरे आगे-आगे थी। वह अपना स्कर्ट घुटनों तक चढ़ाये थी। उसकी सांवली ख़ूबसूरत टांगों की पेशियां पूरा ज़ोर लगाती हुई मुझे साफ़ दिखाई दे रही थीं। वह बोरी के बोझ तले दबी जा रही थी। अपने छोटे नाजुक जिस्म को संभाले रखने के लिए उसे बड़ी कोशिश करनी पड़ रही थी। वह कभी-कभी घड़ी भर के लिए रुक जाती – मानो यह भांप रही थी कि हर क़दम के बाद मेरे पांव ज़्यादा से ज़्यादा लड़खड़ाते जा रहे हैं।

"हिम्मत से काम लो, किचिने-बाला! समझो कि पहुंच ही गये!"

मगर मुझे ख़ुद उसकी आवाज़ भी फटी-फटी और निर्जीव-सी लगी।

हर बार ही जब हम अपनी बोरियां ख़ाली करके मुड़ते, तो हमें दनियार ऊपर आता दिखाई देता। वह तख़्तों पर मजबूत और नपे-तुले क़दम रखता, कुछ-कुछ लंगड़ाता हुआ आगे बढ़ता। हमेशा की तरह गुमसुम और उदास। हमारे बराबर पहुंचकर दनियार जमीला को दहकती नज़र से देखता। जमीला अपनी थकी हुई पीठ सीधी करती अपनी पोशाक ठीक करती। वह हर बार ही उसे ऐसे देखता मानो पहली बार देख रहा हो। पर जमीला उसकी उपेक्षा करती रही।

जमीला या तो दनियार पर हंस देती या फिर उसे बिल्कुल ही भूल जाती। उसके मूड पर ही यह निर्भर करता था। हमारे छकड़े सड़क पर होते कि जमीला सहसा ही आवाज़ देती – "चलो चलें!" वह ज़ोर से हुंकारती, अपने सिर पर चाबुक सटकारती और घोड़ों को सरपट दौड़ाना शुरू कर देती। मैं भी ऐसा ही करता। हम धूल का बादल उड़ाते हुए दनियार से आगे निकल जाते। यह धूल काफ़ी देर बाद ही नीचे बैठती। बेशक यह मज़ाक़ में ही किया जाता, मगर फिर भी बहुत कम मर्द ही शायद इसे बरदाश्त करते। पर दनियार को तो इससे जैसे कुछ भी फ़र्क़ नहीं पड़ता था। हम धड़धड़ाते हुए उसके पास से गुज़र जाते और वह छकड़े में सीधी खड़ी हुई हंसती-खिलखिलाती जमीला को प्रशंसा की दृष्टि से बुत-बना निहारता रहता। जैसे ही मैं घूमता, तो धूल को चीरती हुई उसकी एकटक नज़र जमीला पर जमी पाता। उसकी मेहरबान नज़र तो मानो यह कहती लगती तुम्हें सौ ख़ून माफ़ हैं। फिर भी मुझे उसकी इस उदारता में हठीली और छिपी हुई उदासी की झलक मिलती।

जमीला उसका मज़ाक़ उड़ाती है, उड़ाती रहे! जमीला उसकी उपेक्षा करती, दनियार की बला से! वह न कभी ग़ुस्से में आता, न बुरा मानता। उसने तो जैसे यह सब कुछ बरदाश्त करने की क़सम खा रखी थी। शुरू-शुरू में तो मुझे दनियार पर रहम आता। मैं अक्सर जमीला को बुरा भला कहता–"जेने, तुम उस भले आदमी का मज़ाक़ क्यों उड़ाती रहती हो? वह बेचारा तो बिल्कुल गऊ है, हमेशा चुप-चुप रहता है!"

"ओह!" वह हंसती और कन्धे झटक देती। "वह तो सब मज़ाक़ होता है। कुछ बिगड़ थोड़े ही जायेगा उस मिट्टी के माधो का!"

जल्द ही मैं ख़ुद भी यही कुछ करने लगा। मुझे भी दनियार से छेड़छाड़ करने में मज़ा आने लगा। उसकी अजीब-अजीब और हठीली नज़रें मुझे परेशान करती रहतीं। जमीला अपनी पीठ पर अनाज की बोरी उठाती, तो कैसे घूरता था वह उसे! वैसे अनाज जमा करने के इस स्थान पर तो भारी रेल-पेल रहती थी, इधर-उधर दौड़ भाग करते और चीख़ते-चिल्लाते लोगों के गले बैठ जाते थे। ऐसी हड़बड़ी में जमीला की तरह पूरे विश्वास से नपे-तुले और हल्के-हल्के क़दम रखनेवाली जवान लड़की की तरफ़ नज़र का घूम जाना बहुत कुदरती था। उसकी गतिविधि ऐसी होती थी मानो अनाज के घुटन भरे अहाते में नहीं, खुले मैदान में काम हो रहा हो।

रुककर जमीला को देखे बिना आगे निकल जाये, किसी के लिए भी ऐसा करना मुश्किल था। छकड़े के सिरे से बोरी उठाने के लिए जमीला सीधी तनकर घूम जाती। वह अपने कन्धे आगे की तरफ़ झुकाती और सिर इस तरह पीछे की तरफ़ झटकती कि उसकी सुन्दर गर्दन दिखाई देती और धूप में भूरी दिखाई देनेवाली उसकी चोटियां लगभग ज़मीन छूने लगतीं। दनियार ज़ाहिर तो यह करता कि जैसे यों ही रुका है, मगर उसकी आंखें दरवाज़े तक जमीला पर गड़ी रहतीं। यक़ीनन वह तो यही समझता कि उसे कोई भी नहीं देख रहा है, मगर मैं तो हर चीज़ ताड़ता। मुझे उसका ऐसा करना बहुत बुरा भी लगता। इतना ही नहीं, मैं तो इसे अपनी बेइज़्ज़ती भी समझता। मैं सोचता कि दनियार और जमीला पर नज़र रखे – मियां, शीशे में ज़रा अपनी सूरत तो देखो।

"अरे यह भी उसे घूरता है – तो दूसरों को भला कोई क्या कह सकता है!" मैं यह सोचता तो मारे ग़ुस्से के बौखला उठता। मेरा बचकाना अहम, भयानक ईर्ष्या का रूप ले लेता। बच्चे कभी यह पसन्द नहीं करते कि कोई दूसरा आदमी उनका प्रेम-पात्र की तरफ़ ध्यान दे। अब मुझे दनियार पर रहम न आता था।

मैं उससे ख़ार खाने लगा था। कोई भी अब अगर उसका मज़ाक़ उड़ाता, तो मुझे ख़ुशी होती।

पर ख़ैर हमारी बदक़िस्मती ही कहिये कि हंसी-मज़ाक़ का यह सिलसिला एक दिन अचानक ही ख़त्म हो गया। हमारे पास 100 से अधिक किलोग्राम वज़न की, बहुत बड़ी, मोटे-कच्चे ऊन की बनी एक बोरी भी थी। इसे अकेले ही उठाना मुमकिन नहीं था। इसलिए हम मिलकर ही उसे उठाते थे। एक दिन हम दोनों ने खलियान में ही दनियार से चाल चलने की योजना बनायी। हमने यह भारी-भरकम बोरी उसके छकड़े में फेंककर उसके ऊपर दूसरी बोरियां चुन दीं। जमीला और मैं, हम दोनों रास्ते में एक गांव में ठहर गये और किसी बगीचे से हमने कुछ सेब उड़ाये। हम रास्ते भर चुहल करते रहे और जमीला दनियार पर सेब फेंकती रही। फिर सदा की भांति गर्द का बादल उड़ाते हुए हम उससे आगे निकल गये। दर्रा लांघने के बाद रेलवे फाटक पर दनियार भी हमसे आ मिला – वह भी इसलिए कि फाटक बन्द था। वहां से हम एक साथ ही स्टेशन पर पहुंचे। इस लम्बी-चौड़ी बोरी का तो हमें ध्यान ही न रहा। बोरियां उतारकर छकड़े ख़ाली करने के बाद ही हमें उसका ख़्याल आया। जमीला ने मुझे आंख मारी और दनियार की तरफ़ इशारा किया। वह छकड़े में खड़ा हुआ कुछ परेशान-सा उस बोरी की तरफ़ देख रहा था। ज़ाहिर है कि वह यह सोच रहा था कि उस बोरी का क्या करे। तभी उसने इधर-उधर नज़र दौड़ाई। जैसे ही उसने ज़मीला को अपनी मुस्कान दबाते देखा कि झेंप गया। अब मामला भी उसकी समझ में आ गया था।

"अपनी पतलून ऊपर चढ़ा लो, वरना रास्ते में ही साफ़ हो जायेगी!" जमीला चिल्लायी।

दनियार ने गुस्से से हमें घूरा और पलक झपकते में ही वह उस बोरी को घसीटकर छकड़े के सिरे तक ले आया। वह नीचे कूदा, उसने एक हाथ से बोरी को संभाला और धीरे-से पीठ पर लेकर चल दिया। शुरू में तो हमने यह ज़ाहिर किया कि वह कोई ख़ास और मुश्किल काम नहीं कर रहा है। दूसरों ने तो ख़ैर इसकी कुछ भी परवाह न की। परवाह करने की बात ही क्या थी! एक आदमी बोरी उठाये जा रहा था – सभी तो वहां यही कुछ कर रहे थे। दनियार जब ऊपर चढ़ने के तख़्तों के क़रीब पहुंचा, तो जमीला उसके पास गयी –

"बोरी नीचे फेंक दो, मैं तो योंही मज़ाक़ कर रही थी!"

"जाओ यहां से!" वह बड़बड़ाया और तख़्तों पर चढ़ चला।

"देखो, वह उठाये लिये जा रहा है!" जमीला ने जैसे कि अपनी सफ़ाई देते हुए कहा। यह अभी भी हल्की हंस रही थी, मगर अब बहुत दबे-दबे ढंग से। वह तो जैसे अपने को ज़बर्दस्ती हंसने के लिए मजबूर कर रही थी।

हमने देखा कि दनियार अब पहले से कहीं ज़्यादा लंगड़ाने लगा है। हमें पहले ही इस बात का ख़्याल क्यों न आया? अपनी इस बेवक़ूफ़ी, इस हिमाक़त के लिए, मैं आज भी अपने को माफ़ करने को तैयार नहीं हूं। मुझे, मुझ सिरफिरे को ही यह शरारत सूझी थी!

"लौट आओ!" जमीला चिल्लायी। उसकी अंजीब-सी हंसी एक खोखली-फटी आवाज़ में बदलकर रह गयी।

मगर दनियार अब लौट न सकता था – उसके बिल्कुल पीछे ही तो दूसरे लोग थे।

इसके बाद क्या हुआ, लगता है कि मेरी याददाश्त मुझे जवाब दे रही है। मैंने दनियार को इस भारी-भरकम बोझ के नीचे दोहरा होते देखा। उसका सिर झुका हुआ था और वह दांतों से होंठ काट रहा था। अपनी जख़्मी टांग बहुत ही धीरे-धीरे हिलाता हुआ वह चींटी की चाल से आगे बढ़ रहा था। हर क़दम के साथ उसे साफ़ तौर पर बड़े ज़ोर का दर्द होता। वह अपने सिर को झटकता और क्षण भर के लिए रुक जाता। जैसे-जैसे वह ऊपर जा रहा था, अधिक-अधिक लड़खड़ा रहा था। बोरी उसे दोहरा दे रही थी। डर और शर्म से मेरा मुंह सूख गया। मुझे तो डर ने बुरी तरह जकड़ लिया था। मेरे जिस्म का रोयां-रोयां उसकी पीठ का भार महसूस कर रहा था। मेरे शरीर का अणु-अणु उसकी टांग की असहनीय पीड़ा से कराह रहा था। वह फिर लड़खड़ाया, फिर उसने अपना सिर झटका और मेरी आंखों के सामने अंधेरा छा गया। मुझे हर चीज़ घूमती-सी लगी, मेरे पांव तले की धरती खिसक रही थी।

किसी के इस्पाती पंजे ने कसकर मेरा हाथ पकड़ा और मैं चौंककर होश में आया। मैं फ़ौरन ही जमीला को पहचान न पाया। उसके चेहरे का रंग बर्फ़ की तरह सफ़ेद था। उसकी आंखों की पुतलियां फैली हुई थीं। कुछ ही देर पहले की हंसी के कारण उसके होंठ अभी तक मुड़े हुए थे। इसी बीच अनाज

संभालनेवाले कर्मचारी समेत हर आदमी तख़्तों के संकरे मार्ग के पास आ पहुंचा था। दनियार ने दो क़दम और बढ़ाये। उसने बोरी को ठीक से संभालने की कोशिश की। तभी अचानक ही उसका एक घुटना जवाब देने और नीचे को धसकने लगा। जमीला ने अपना मुंह ढांप लिया।

"फेंक दो! फेंक दो बोरी!" वह चीख उठी।

मगर दनियार बोरी फेंकने को तैयार न था। वह चाहता, तो उसे एक तरफ़ को गिरा सकता था। इस तरह पीछे आनेवाले भी गिरने से बच सकते थे। मगर नहीं। जमीला की आवाज़ सुनकर वह आगे की तरफ़ बढ़ा, उसने अपनी टांग सीधी की, एक और क़दम बढ़ाया और फिर लड़खड़ाने लगा।

"फेंक दो इसे, अरे ओ कुत्ते के पिल्ले!" अनाज संभालनेवाला कर्मचारी चिल्लाया।

"फेंक दो!" हर आदमी चिल्ला उठा।

दनियार फिर से संभल गया।

"नहीं, वह नहीं फेंकेगा!" कोई बड़े विश्वास के साथ फुसफुसाया।

दनियार के पीछ-पीछे आनेवाले और नीचे खड़े सभी लोग यह समझ गये कि वह किसी हालत में भी बोरी नीचे नहीं फेंकेगा, अगर बोरी के साथ ही साथ वह खुद भी नीचे लुढ़क जाये, तो बात दूसरी है। चारों तरफ़ एकदम ख़ामोशी छा गयी। दीवार के पीछे इंजन की कानों के पर्दे फाड़ती हुई सीटी गूंजी।

दनियार धीरे-धीरे बढ़ता गया। वह आग की तरह जलते लोहे की छत के नीचे हिलते-डुलते तख़्तों के संकरे मार्ग पर जैसे बेहोशी की हालत में लड़खड़ाता-सा चढ़ता चला गया। अपना सन्तुलन क़ायम रखने के लिए वह हर दो क़दम के बाद ठहर जाता। फिर से अपनी शक्ति समेटता और ऊपर चल देता। उसके पीछे चलनेवाले भी ऐसा ही कर रहे थे। वह ठहरता तो वे भी ठहर जाते। इससे उन्हें भी थकान हो रही थी, उनकी ताक़त जवाब दे रही थी, मगर कोई भी नाराज़ न हो रहा था, कोई भी कोस न रहा था, गालियां न बक रहा था। पीठ पर अपने बोझ लादे वे भी धीरे-धीरे जैसे कि रेंग रहे थे। कोई अदृश्य सूत्र मानो उन्हें एक साथ बांधे हुए था। वे तो जैसे कि किसी ख़तरनाक, फिसलने तंग रास्ते पर बढ़ रहे थे, जहां उनकी ज़िन्दगी एक दूसरे पर निर्भर थी। उनकी चुप्पी और नीरस लड़खड़ाहट में एक ही लय-ताल थी,

बहुत भारी, बहुत बोझिल-सी। एक क़दम बढ़ता, दनियार के पीछे दूसरा क़दम उठता और फिर तीसरा क़दम।

अब तो बस दो-चार डग ही बाक़ी रह गये थे। मगर दनियार एक बार फिर लड़खड़ाया। उसकी जख़्मी टांग अब और ज़्यादा उसके इशारे मानने को तैयार न थी। अभी भी अगर उसने बोरी न गिरायी, तो वह ज़रूर ही गिर पड़ेगा।

"भाग कर जाओ! उसे पीछे से सहारा दो!" जमीला चिल्लाई और परेशानी में खुद ऐसे हाथ फैला दिये मानो उनसे उसकी मदद कर सकती हो।

मैं तख़्तों के संकरे मार्ग पर तेजी से बढ़ चला। लोगों और बोरियों को कोहनियों से दायें-बायें हटाता हुआ मैं आख़िर दनियार के पास पहुंच गया। दनियार ने बांह के नीचे से मुझे देखा। उसके काले पड़े, पसीने से तर-ब-तर माथे की नसें फड़फड़ा रही थीं। उसकी अंगारों जैसी लाल-लाल आंखों में क्रोध की आग दहक रही थी। मैंने बोरी को पीछे से सहारा देना चाहा।

"जाओ यहां से!" दनियार ने मुझे फटकारा और आगे बढ़ गया।

आख़िर वह हांफता और लंगड़ाता हुआ नीचे आया। उसकी बांहें, दायें-बायें झूल रही थीं। लोगों ने उसे गुज़र जाने के लिए रास्ता दे दिया। मगर अनाज संभालनेवाला कर्मचारी अपने को क़ाबू में न रख पाया और बरस पड़ा —

"तुम्हारा क्या सिर फिर गया है? मुझे क्या तुम इनसान नहीं समझते हो? क्या मैं तुम्हें नीचे ही इसे ख़ाली करने की इजाज़त न देता? तुम भला ऐसी भारी बोरियां क्यों उठाते हो?"

"मेरी मर्ज़ी," दनियार ने धीरे-से जवाब दिया।

दनियार ने एक तरफ़ को थूका और छकड़े की तरफ़ चला गया। हमें तो आंखें ऊंची करने की जुर्रत न हो रही थी। हम तो शर्म से पानी-पानी हुए जा रहे थे। हमें दनियार पर गुस्सा भी आ रहा था कि उसने हमारे बेवक़ूफ़ी भरे मज़ाक़ को इतना संजीदा क्यों बना दिया था।

हम रात भर चुप्पी साधे रहे। दनियार तो चूंकि अक्सर इसी तरह गुम-सुम रहता था, इसलिए हम किसी तरह भी यह न जान सकते थे कि वह यह सारी घटना भूल चुका है या अभी तक अन्दर ही अन्दर गुस्सा पी रहा है। मगर हमें तो हमारी आत्मा कचोट रही थी। हम बहुत क्षुब्ध-खिन्न थे।

अगली सुबह हम फिर खलियान में छकड़ों पर अनाज लाद रहे थे। जमीला ने उस क़िस्मत की मारी बोरी को कसकर पकड़ा, उसके एक सिरे पर मज़बूती से अपना पांव रखा और खींचकर टुकड़े-टुकड़े कर डाला।

"लो संभालो अपने इन चिथड़ों को!" जमीला ने बोरी के टुकड़े तौलनेवाली औरत के पांव पर दे मारे। वह हैरान-सी जमीला का मुंह ताकती रह गयी। "और टीम-लीडर से कह देना कि ऐसी और बोरियां हमारे गले न डाले।"

"यह तुम्हें हुआ क्या है? आखिर मामला क्या है?"

"कुछ भी नहीं।"

दनियार अगले दिन सदा की भांति चुपचाप और शान्त रहा। किसी प्रकार भी उसने अपनी भावनायें व्यक्त न होने दीं। मगर आज वह अधिक स्पष्ट रूप से लंगड़ा रहा था। बोरियां उठाते वक़्त तो उसका लंगड़ाना बहुत ही साफ़ नज़र आता था। जाहिर है कि उसका पुराना घाव फिर से हरा हो आया था। यह देखकर तो बार-बार हमें अपने ज़ुर्म, अपने गुनाह का एहसास हो रहा था। अगर वह हंसता, हंसी-ठिठोली करता, तो यह दिमाग़ी तनाव कम हो जाता, दिल का बोझ हल्का महसूस होने लगता।

जमीला भी यह ज़ाहिर करने की कोशिश कर रही थी कि हर चीज़ सदा की तरह साधारण और सामान्य है। जमीला बड़ी मानिनी थी – वह सदा की भांति हंस रही थी। मगर उसके दिल पर क्या बीत रही थी, यह मुझसे छिपा न था।

हमारे स्टेशन से लौटते-लौटते काफ़ी रात हो गयी थी। दनियार हमारे आगे-आगे था। रात ग़ज़ब की थी। अगस्त की इन प्यारी रातों से भला कौन परिचित नहीं है! इन रातों में निकट, फिर भी बहुत दूर और असाधारण रूप से चमकनेवाले सितारों से कौन परिचित नहीं! एक सितारा तो जैसे अपनी जगह जमकर ही रह गया था। वह तो मानो अंधेरे की चादर में लिपटे हुए आकाश से नीचे की धरती को हैरानी भरी फटी-फटी नज़रों से देख रहा था। उसकी जमी हुई पलकें बार-बार जगमगा उठती थीं। दर्रा पार करते हुए मेरी आंखें इसी सितारे पर टिकी रहीं। घोड़े घर लौटने की जल्दी में थे। वे तेज़ी से क़दम बढ़ा रहे थे और पहियों के नीचे बजरी कड़कड़ा रही थी। स्तेपी में चिरायते के पौधे फूले हुए थे। हवा के झोंकों के साथ उनकी कड़वी गन्ध हम तक आ रही थी।

पके हुए गेहूं की ठण्डी हो रही फ़सलों से धीमी-धीमी सोंधी गन्ध आ रही थी। चिरायते और गेहूं के साथ-साथ ही हवा में तारकोल और घोड़ों के पसीने की गन्ध भी थी। वातावरण में मस्ती थी।

एक तरफ़ जंगली गुलाब की झाड़ियों से ढकी हुई पहाड़ी चोटियां सड़क को निहार रही थीं। दूसरी तरफ़, बहुत निचाई पर बेंतों की झाड़ियों और जंगली पोपलारों के बीच से कुरकुरेव नदी कूदती-फांदती, बेतहाशा भागी चली जा रही थी। दूर, फ़ासले के पुल पर से जब-तब कोई रेलगाड़ी गड़गड़ाती हुई गुज़रती। रेलगाड़ी के कहीं दूर, आंखों से ओझल हो जाने के काफ़ी देर बाद तक पहियों की खटाखट सुनाई देती रहती।

ऐसी ठण्डी प्यारी रात में छकड़े की सवारी में एक ख़ास मज़ा आ रहा था। घोड़ों की हिलती-डुलती पीठें, अगस्त की रात में इधर-उधर सुनाई देनेवाली आवाज़ें और हवा में बिखरी हुई गन्धें, यह सभी कुछ बहुत प्यारा लग रहा था। जमीला मेरे आगे थी। लगामें ढीली छोड़कर वह धीरे-धीरे गाती हुई इधर-उधर देख रही थी। मैं उसके दिल की हालत समझ रहा था। हमारी ख़ामोशी उसके दिल पर जैसे भारी पत्थर बनी हुई थी। ऐसी रंगीन, ऐसी प्यारी रात में कोई चुप्पी साधे रहे – तोबा, तोबा! यह रात तो गाने के लिए बनी थी।

आख़िर गीत फूट पड़ा। वह गाने लगी शायद इसलिए कि दनियार के साथ हमारे सम्बन्धों की पहली स्वाभाविकता लौट आये। शायद वह गाने लगी थी इसलिए कि अपने अपराधी मन की परेशानी से कुछ देर के लिए छुटकारा पा सके। उसकी आवाज़ शरारत भरी और गूंजती हुई थी। वह लोकप्रिय देहाती गीत ही गाती थी – जैसे कि "तुम गुज़रोगे साजन मेरे, मैं रूमाल हिलाऊंगी" और यह कि "मेरा प्रियतम दूर, दूर परदेस गया।" उसे बहुत-से गीत याद थे। वे इन्हें बहुत सीधे-सादे ढंग से, भावनाओं में बहकर गाती थी। सुननेवाले उसके गीतों के रस में डूबकर रह जाते थे। जमीला ने अचानक ही गाना बन्द कर दिया और दनियार को आवाज दी –

"ए दनियार! तुम क्यों नहीं कुछ गाते? तुम भी तो जीगित हो न?"

"तुम गाओ, जमीला," घोड़ों की लगामें खींचते हुए उसने कुछ घबराकर जवाब दिया। "मैं सुन रहा हूं, बहुत ध्यान से सुन रहा हूं।"

"मगर कान तो हम लोगों के भी हैं! क्यों हैं न? तुम अगर गाना नहीं

चाहते, तो न गाओ! कोई तुम्हें मजबूर थोड़े ही कर रहा है!" इतना कहकर जमीला फिर से गाने लगी।

जाने क्यों उसने दनियार से गाने के लिए कहा था! शायद यह कोरी सनक थी? शायद वह उसे बातचीत के लिए उकसाना चाहती थी? सम्भवतः वह यही चाहती थी, क्योंकि थोड़ी ही देर बाद वह फिर चिल्लायी —

"अच्छा दनियार, यह तो बताओ कि तुमने कभी किसी से मुहब्बत की?" और वह हंस दी।

दनियार ने कुछ भी जवाब न दिया। जमीला भी ख़ामोश हो गयी।

"बेशक उसने गाने के लिए ख़ूब आदमी खोजा है!" मैने मन ही मन सोचा।

एक छोटी-सी नदी सड़क के बीच से होकर बहती थी। इसके क़रीब पहुंचकर घोड़ों की चाल धीमी पड़ गयी। उनके सुमों के नीचे गीले, सफ़ेद चिकने पत्थर बजने लगे। हमने नदी का छिछला पाट पार किया कि दनियार ने अपने घोड़ों पर चाबुक फटकारा और दबी-घुटी आवाज़ में गाने लगा। सड़क के हर धचके के साथ ही उसकी आवाज़ टूट जाती —

मेरे पर्वत,
नीले, श्वेत-श्वेत वे पर्वत,
मेरे पर्वत।
जन्मभूमि मेरे पुरखों की!

इन पंक्तियों के बाद उसकी आवाज़ लड़खड़ायी, वह खांसा और कुछ-कुछ फटी पर भारी आवाज़ में उसने अगली पंक्तियां गायीं —

मेरे पर्वत,
नीले, श्वेत-श्वेत वे पर्वत,
वे ही जननी
जन्मभूमि
वे मेरे पर्वत...

वह फिर रुक गया। जैसे कि किसी डर ने उसकी आवाज़ दबा दी और चुप हो गया।

मेरी आंखों के सामने उसकी घबराहट की साफ़-साफ़ तस्वीर खिंच गयी। उसके सहमी-सहमी, कांपती-कांपती आवाज़ में, गाने में कुछ ऐसा था जो हृदय

को छूता था, द्रवित करता था। उसका कण्ठ तो शायद बहुत सुरीला था। हमें विश्वास न हो रहा था कि गानेवाला दनियार ही है।

"भई, वाह!" मैं बरबस कह उठा।

"तुमने पहले कभी क्यों नहीं गाया? गाओ! गाओ! तुम तो सचमुच गा सकते हो!" जमीला चिल्लायी।

सामने रोशनी दिखाई देने लगी थी। दर्रा वहां ख़त्म हो जाता था। घाटी की ओर से ठण्डी हवा के झोंके आ रहे थे। दनियार फिर से गाने लगा। उसने पहले की तरह ही सहमे-सहमे, घबराते-घबराते गाना शुरू किया, मगर धीरे-धीरे उसकी आवाज़ में ज़ोर आने लगा। उसकी आवाज़ दर्रे में गूंजने लगी। वह दूर-दूर की पहाड़ी चोटियों से टकरा-टकराकर वापस आने और इधर-उधर फैलने लगी।

उफ़! उसके स्वर में कैसी आग थी, भावनाओं का कैसा उमड़ता-उफ़नता ज़्वार था! इसे क्या कहकर पुकारता, इसे कौनसी संज्ञा देता, न मैं यह तब जानता था और न आज ही जानता हूं। सिर्फ़ उसके कण्ठ का सुरीलापन था या कुछ और? क्या यह उसकी आत्मा की आवाज़ नहीं थी? वही आत्मा की आवाज़, जो सुननेवाले के मन में भी उसी तरह की भावनाओं का तूफ़ान पैदा कर देती है, दिल की गहराइयों में सोई हुई भावनाओं में प्राण फूंक देती है। मैं आज भी इसका निर्णय करने में असमर्थ हूं।

काश मुझमें दनियार के गीत की गूंज को फिर से पैदा करने की क्षमता होती! गीत में शब्द तो इने-गिने थे। मगर शब्द न होते हुए भी उस गीत में से एक गहन-गम्भीर वेदना झांक रही थी। न इससे पहले और न बाद में ही मैं कभी ऐसा गीत सुन पाया। उसकी धुन न तो पूरी तरह क़िर्ग़ीज़ी थी और न कज़ाख़ी ही। उसमें दोनों का मिला-जुला रूप था। दनियार ने हिली-मिली इन दोनों जनताओं की मधुरतम स्वर-लहरियों को एक दूसरी में समो दिया था। उसने इन्हें मिलाकर स्वरों का एक ऐसा ताना-बाना तैयार कर दिया था कि किसी और ने न तो पहले ही कभी ऐसी रस-धारा बहायी थी और न भविष्य में ही यह कभी सम्भव होगा। इस गीत में पहाड़ों की गूंज थी, स्तेपी का नग़मा था। कभी उसका स्वर हवा में तैरता हुआ क़िर्ग़ीज़ पहाड़ों की ऊंचाइयों को छू लेता, तो कभी कज़ाख़ स्तेपी में घूमने और बल खाने लगता।

मैं उसका वह गीत सुनता गया और दंग होता गया —

"तो यह है असली दनियार! गुदड़ी में छिपा हुआ लाल! कौन भला इसकी कल्पना तक कर सकता था?"

नर्म और रौंदी हुई सड़क पर बढ़ते हुए हम स्तेपी पार कर रहे थे। दनियार का स्वर फैलता जा रहा था। एक के बाद एक नयी और अधिक से अधिक सुरीली तानें उसके कण्ठ से फूट रही थीं। तो क्या सचमुच ही उसके अन्दर इतनी प्रतिभा, ऐसी कला छिपी पड़ी है? उसे यह हो क्या गया है। वह तो जैसे इसी दिन, इसी घड़ी के आने का इन्तजार कर रहा था!

क्यों वह बेगाना और अजीब-अजीब-सा लगता था? क्यों उसकी बेगानगी देखकर लोग कन्धे झटक देते थे, मुस्कराते थे? क्यों वह हर वक्त, जैसे कि सपने देखा करता था? क्यों उसे एकाकीपन से प्यार था? क्यों वह चुपचुप रहता था – आज अचानक ही मैं इन सभी बातों का राज़ जान गया। मैं समझ गया कि क्यों वह अपनी शामें गुज़ारता था पहाड़ी चोटी पर और रातें नदी के तट पर। मैं जान गया कि क्यों दूसरों को सुनाई न देनेवाली आवाज़ें उसी के कानों में आकर कुछ भेद फुसफुसाती हैं, आम तौर पर उदास रहनेवाली आंखें क्यों अचानक चमक उठती हैं। यह आदमी बुरी तरह प्यार में टूटा हुआ है। और इसका प्यार? सो भी मामूली, किसी दूसरे आदमी के लिए ही नहीं है। यह और तरह का प्यार है – असीम प्यार – ज़िन्दगी और धरती का प्यार। हां, वह अपना प्यार अपनी आत्मा में, अपने संगीत में ही संजोये रहता है। यह प्यार ही उसका मार्ग-दर्शक है, उसके लिए उजाला और रोशनी है। जीवन से उदासीन कोई व्यक्ति कभी इस तरह न गा पाता, बेशक कितनी ही सुरीली उसकी आवाज़ क्यों न होती।

जैसे ही मुझे यह अनुभव होता कि आख़िरी तान खो बिखर गयी है कि एक नयी तान गूंजने लगती। जादू-सा करती हुई यह स्वर-माधुरी ऊंघती स्तेपी को फिर से जगा देती। स्तेपी आभार मानती हुई स्वरों के रस में बह जाती। गायक की यह प्यारी-प्यारी तानें तो जैसे उसे दुलार रही थीं, थपथपा रही थीं। गेहूं की पकी हुई मटमैली फ़सलें दरांती की प्रतीक्षा में थीं, खेत में कुछ-कुछ उजाला होने लगा था। मिल के क़रीब तो बरसों पुराने विल्लो पेड़ों की फ़ौज की फ़ौज खडी थी। वे अपने पत्तों को हवा में सरसरा रहे थे। नदी के पार खेतिहरों के अलाव बुझते जा रहे थे। झुटपुटे में छाया-सा दिखाई देनेवाला एक घुड़सवार नदी के किनारे-किनारे सरपट घोड़ा दौड़ाता हुआ गांव की तरफ़ जा रहा था। कभी वह बगीचों में लुकता-छिपता, तो कभी फिर सामने आ जाता। सेबों की ख़ुशबू, फूली हुई मकई की दूधिया महक और सूखते हुए उपलों की गन्ध से हवा बोझिल थी।

दीन-दुनिया से बेख़बर दनियार गाता रहा, गाता रहा। मस्त और झूमती हुई अगस्त की रात चुपचाप रस-विभोर होती रही, सुनती रही। घोड़े भी काफ़ी देर पहले से ही क़दम-क़दम चल रहे थे। वे भी रंग में भंग डालने को तैयार न थे।

दनियार की आवाज़ पंचम पर गूंज रही थी कि उसने सहसा तान तोड़ दी। उसने ज़ोर से हुंकार भरी और घोड़ों पर चाबुक चलाया। मैने सोचा कि जमीला भी उसके पीछे सरपट घोड़े दौड़ायेगी। मैं उसका पीछा करने को तैयार था, मगर वह तो हिली-डुली तक नहीं। वह तो एक ओर को सिर लटकाये ज्यों की त्यों बैठी रही। वह तो जैसे हवा में तैरती और कांपती हुई अन्तिम स्वर-लहरी का मजा ले रही थी। दनियार सरपट घोड़े दौड़ाता गया। हम चुप्पी साधे हुए ही गांव में पहुंच गये। बात करने की ज़रूरत भी तो कुछ न थी। शब्द भी मन की बात कह सकें, हमेशा तो ऐसा नहीं हो पाता।

उस दिन के बाद तो हमारे जीवन में एकदम परिवर्तन आ गया। मैं तो जैसे सदा ही से किसी अद्भुत, किसी वांछित सपने के साकार होने की प्रतीक्षा में था। सुबह-सबेरे हम छकड़े में बोरियां लादते, स्टेशन पहुंचते और झटपट काम निपटाकर लौटने की जल्दी करते। लौटते हुए दनियार का संगीत सुनने की बेक़रारी जो होती थी हमें ! दनियार की आवाज़ मेरे जीवन का अंग बन गयी थी। हर वक्त और हर जगह यह मेरे कानों में गूंजती रहती। सुबह ही सुबह मैं गीले, ओंस भीगे अलफ़ालफ़ा पौधों के बीच से गुज़रता हुआ पिछाड़ी-बंधे घोड़ों की तरफ़ जाता और हंसता हुआ सूरज मेरा स्वागत करने के लिए पहाड़ों के पीछे से उचककर सामने आ जाता। तब भी दनियार का संगीत मेरा साथ देता। ओसाई करनेवाले बूढ़े गेहूं को हवा में उड़ाते और धरती पर गेहूं के सरसराते सुनहरे दानों की बरसात होती। इस बरसात की रिमझिम में भी मुझे दनियार का संगीत सुनायी पड़ता। स्तेपी के ऊपर कोई एकाकी बाज़ बड़ी शान से उड़ान भरता, चक्कर काटता तो उसमें तो मुझे दनियार के संगीत का रूप नज़र आता। यों कहिये कि मुझे हर जगह इसी की अनुभूति होती।

संध्या समय हम दर्रा पार करते होते तो मुझे लगता कि मैं किसी दूसरी

दुनिया में पहुंच गया हूं। उसका संगीत सुनते-सुनते मुझपर नशा-सा छा जाता। मेरी अध-मिची आंखों के सामने अजीब ढंग से चिर जाने-पहचाने चित्र घूमने लगते। बचपन से ही ये दृश्य मेरी आत्मा में बसे हुए है। वसन्त के नर्म-नर्म नीले और धुएं रंगे चंचल बादल खेमों के ऊपर से गुजरते; सरपट दौड़ते हुए घोड़ों के झुण्डों की टापों से धरती गूंज उठती – वे गर्मी के चरागाहों की तरफ़ जाते दिखाई देते; माथे पर लम्बे-लम्बे बालों और आंखों में दहकती चिनगारियोंवाले तेज़, जवान घोड़े बड़े गर्व से घोड़ियों से आगे निकल जाते; फिर पहाड़ियों पर भेड़ों के रेवड़ लावा की तरह फैल जाते; फिर किसी पहाड़ी चोटी से कोई जल-प्रपात गिरता दिखाई देता और इसके सफ़ेद फेनिल पानी से मेरी आंखें चौंधिया जातीं; इसके बाद नदी के पार नुकीली घास के झुरमुट में धीरे-से सूरज खो जाता और क्षितिज के दहकते हुए छोर के साथ-साथ जानेवाली कोई एकाकी घुड़सवार जैसे कि डूबते सूरज का पीछा करता नज़र आता – सूरज को छूने के लिए उसे तो बस हाथ ही उठाना होता – और तब, वह भी घास के झुरमट में, झुटपुटे में ग़ायब हो जाता।

नदी पार कज़ाख़ स्तेपी काफ़ी चौड़ी है। अपने लम्बे-चौड़े पैर फैलाने के लिए उसने पहाड़ों को दूर-दूर धकेल दिया है। खुद बीच में अकड़ी हुई और वीरान-सी पड़ी है...

युद्ध की उस स्मरणीय गर्मी में स्तेपी में इधर-उधर अलाव दिखाई देने लगे। रिसाले के घोड़ों के झुण्डों ने स्तेपी को गर्म धूल के बादलों से ढक दिया और घुड़सवार सभी दिशाओं में सरपट घोड़े दौड़ाते दिखाई दिये। मुझे आज भी याद है कि कैसे नदी के दूसरे किनारे के साथ-साथ घोड़ा दौड़ाता हुआ एक कज़ाख़ अपनी चरवाहे की भारी-भरकम आवाज़ में चिल्लाचिल्लाकर कह रहा था –

"क़िर्ग़ीज जवानो! अपने जीन साध लो – दुश्मन आ पहुंचा है!" फिर वह धूल और गर्म हवा की एक लहर में खो गया।

सभी लोग कमर कसकर खड़े हो गये। हमारे पहले घुड़सवार दस्ते गहन -गम्भीर गरज के साथ पहाड़ों से नीचे घाटियों में पहुंचे। हज़ारों रकाबें खनखनायीं, हज़ारों जीगितों ने अपने जीन साधे। उनके आगे-आगे लाल झण्डे लहराये। उनके घोड़ों की टापों द्वारा उड़ायी गयी धूल के पीछे इन जीगितों की माताओं और पत्नियों के दर्द भरे विलाप गूंजे और धरती से टकराये –

"स्तेपी तुम्हारी हिफ़ाज़त करे! हमारे बहादुर मानास की रूह तुम्हारी मददगार हो!"

जहां लोग लड़ाई में गये थे, वहां आंसुओं से भीगी पगडण्डियां पीछे रह गयी थीं...

दनियार ने अपने गीत द्वारा इस दुनिया का सारा सौन्दर्य और चिन्ताएं मेरे सामने प्रस्तुत कर दी। उसने यह संगीत सीखा कहां से? कहां सुना उसने ऐसा गाना? बरसों बरस अपनी मातृभूमि की विरह-वेदना में जलने-घुलनेवाला आदमी ही अपनी धरती के प्यार में इस तरह डूब सकता है। वह गाता तो मुझे लगता कि जैसे वह स्तेपी की सड़कों पर घूमनेवाला एक छोटा-सा लड़का है। शायद तभी छुटपन में ही उसकी आत्मा में मातृभूमि के प्यार के अंकुर फूटे होंगे? या फिर शायद लड़ाई की आग में ही यह प्रेम जन्मा-पनपा?

दनियार का गीत सुनता तो मेरा मन होता कि धरती पर लेट जाऊं, एक बेटे की तरह केवल इसलिए इसे अपनी बांहों में भर लूं, कस लूं कि इनसान इसे इस तरह से प्यार कर सकता है। इन्हीं दिनों मैंने अपने अन्दर किसी नयी चेतना को पलकें खोलते अनुभव किया। इस चेतना को बांध लेने के लिए मेरे पास शब्द न थे। पर यह चेतना मेरे मन में तूफ़ान की तरह उमड़ती-घुमड़ती, मुझसे अभिव्यक्ति की मांग करती। वह तो जैसे मुझसे कहती कि तुम्हारे लिए इस दुनिया को देखना, इसे अनुभव कर लेना ही काफ़ी नहीं है। तुम्हें दुनिया को भी अपनी भावनायें, अपने भाव जानने और अनुभव करने का अवसर देना चाहिए। तुम दनियार की तरह अपनी इस धरती का रूप निखारो-संवारो और लोगों के सामने पेश करो। अपनी इस अनबूझ-अनजानी चेतना की खुशी और डर से मैं दम साधकर रह जाता। उस वक़्त मैं यह न जानता था कि मेरी आत्मा में चित्रकार बसा है और यह कि मैं कभी चित्रकार बनूंगा।

बचपन से ही मुझे चित्रकारी का शौक़ था। मैं अपनी पाठ्यपुस्तकों के रेखाचित्रों की नक़ल तैयार करता, तो लड़के कहते, "बिल्कुल असल जैसी है।" दीवाल-समाचारपत्र के लिए मैं चित्र बनाता, तो अध्यापक मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते। मगर फिर जंग छिड़ गयी, मेरे भाई फ़ौज में चले गये, मैंने स्कूल छोड़ दिया और अपनी ही उम्र के अन्य लड़कों की तरह सामूहिक फार्म पर काम करने लगा। रंग और तूलिकायें तों मैं एकदम भूल ही गया। फिर कभी इनसे नाता जुड़ेगा इसका ख़्याल भी छोड़ दिया। मगर दनियार के गीत ने मेरी आत्मा

के तार झनझना दिये। मैं तो अपने-आपको भूल ही गया। भौचक्का-सा बहकी-बहकी नज़रों से दुनिया को देखने लगा। मैंने तो जैसे धरती पर पहली बार आंख खोली थी।

और जमीला! जमीला में अचानक ही कैसी तबदीली आ गयी थी! चपर-चपर ज़बान चलानेवाली ज़िन्दादिल जमीला तो जैसे कभी थी ही नही। उसकी धुंधली-धुंधली नम आंखों पर वसन्तकालीन उजली-उजली बदली छायी रहती। स्टेशन तक के लम्बे रास्ते में वह अपने ही विचारों में डूबी रहती। एक अनबूझ और स्वप्निल-सी मुस्कान उसके होंठों पर धीरे-से खेल जाती। सिर्फ़ जमीला ही उस मुस्कान का अर्थ समझती थी। बहुत बार वह कन्धे पर भारी बोरी लादे हुए जहां की तहां ठिठककर रह जाती – कोई अनजाना-सा डर उसके पांव जकड़े लेता। उस समय वह मानो किसी तेज चंचल नदी के किनारे पर खड़ी दिखाई देती। पार जाने का ख़तरा मोल ले या न ले, वह यही सोचती लगती। वह दनियार से खिची-खिची रहती, कन्नी काटती, उसे नजर भर देखने की हिम्मत न करती।

एक दिन जमीला ने खलियान में जैसे विवशतावश खीझकर दनियार से कहा –

"अपनी क़मीज़ उतार देते, तो मैं ही इसे धो डालती।"

क़मीज़ उसने नदी में धोयी और सूखने के लिए फैला दी और ख़ुद उसके पास बैठकर बड़ी सावधानी से सिलवटें ठीक करने लगी। धूप की चमक में उसने उस क़मीज के फटे हुए कन्धे देखे, सिर झटका, फिर धीरे-धीरे और उदास होकर उसे ठीक-ठाक करती रही।

सिर्फ़ एक बार जमीला पहले की तरह ठहाका लगाकर हंसी और पहले की तरह उसकी आंखों में चमक दिखाई दी। हुआ यह कि एक दिन युवतियों, लड़कियों और सेना से वापस आये जीगितों का हो-हल्ला मचाता हुआ दल खलियान में आ पहुंचा। वे अलफ़ालफ़ा के खेतों से अपने घर लौट रहे थे।

"हे बाईयो! सफ़ेद रोटी सिर्फ़ तुम्हें ही नहीं, हमें भी अच्छी लगती है! हमारी भी पेट-पूजा करो, वरना हम तुम्हें नदी में फेंक देंगे!" जीगित चिल्लाये और मंज़ाक में उन्होंने दुशाख़े ऊँचे उठाये।

"डराना-धमकाना किसी और को! लड़कियों के लिए तो मैं कुछ ढूंढ़ निकालूंगी, मगर तुम्हें अपना इन्तज़ाम ख़ुद ही करना होगा!" जमीला ने हंसते -हंसते जवाब दिया।

"यह बात है, तो हम तुम सभी को पानी में धकेल देंगे!"

लड़के-लड़कियां एक दूसरे पर पिल पड़े। गुल-गपोड़ा करते, चीखते-चिल्लाते और ठहाके लगाते हुए वे एक दूसरे को पानी में धकेलने लगे।

"पकड़ लो! धकेल दो पानी में !" ज़ोर से चिल्लाती हुई जमीला खिलखिलाकर हंस रही थी। वह अपने विरोधियों को बड़ी होशियारी से चकमा दे रही थी।

बड़ी अजीब बात थी कि सभी जीगितों की नज़र जमीला पर टिकी थी। हर कोई उसे पकड़ने और अपने पास सटाने की कोशिश में था। अचानक तीन नौजवानों ने उसे खींच लिया और नदी के तट की तरफ़ उठा ले गये।

"हमें चूमो, वरना तुम्हें पानी में फेंक देंगे!"

"लाओ, इसे झूलायें!"

जमीला दाये-बायें हो रही थी, निकल भागने के लिए दांव-पेंच लड़ा रही थी। वह हंसती हुई अपनी सहेलियों को मदद के लिए पुकार रही थी। मगर उसकी सहेलियां तो नदी के किनारे-किनारे बेतहाशा भागती हुई पानी में से अपने रूमाल निकाल रही थीं। जीगितों ने ज़ोर का ठहाका लगाया और जमीला को पानी में धकेल दिया। वह पानी से बाहर आयी तो उसके बालों से धार बांधकर पानी बह रहा था, पर वह पहले से कहीं ज़्यादा सुन्दर दीख रही थी। उसकी गीली सूती पोशाक उसके जिस्म से चिपक गयी थी। उसकी गोल-गोल जांघे और कसी हुई छातियां अब ज़्यादा साफ़ और उभरी हुई नजर आने लगी थीं। मगर जमीला का उसकी तरफ़ ध्यान ही न गया। वह तो इधर-उधर हिलती-डुलती हंसती जा रही थी। उसके दमकते हुए चेहरे से लगातार पानी की धारें बह रही थीं।

"हमें चूमो!" जीगित अपनी बात पर अड़े हुए थे।

जमीला ने उन्हें चूमा, मगर फिर पानी में धकेल दी गयी, पानी से भीगे हुए भारी केशों को पीछे की तरफ़ झटकते हुए वह फिर ज़ोर से हंसी।

युवा लोगों के इस हंसी-मज़ाक़ से खलियान में बैठे हर आदमी के पेट में बल पड़ रहे थे। ओसाई करनेवाले बूढ़ों ने अपने फावड़े फेंककर आंखों से आंसू पोंछे। उनके सांवले चेहरों की झुरियां ख़ुशी से चमक रही थीं। घड़ी भर में ही उनके चेहरों पर जवानी का रंग लौट आया था। मैं भी जी भरकर हंस रहा था। जीगितों से जमीला की रक्षा करने के ईर्ष्यापूर्ण कर्तव्य को मैं आज पहली बार भूला था।

एक दनियार ही ख़ामोश था। अचानक ही उसपर मेरी नज़र गयी और मैं भी ठिठककर रह गया। खलियान के सिरे पर वह टांगें चौड़ी करके बिल्कुल अकेला खड़ा था। मुझे महसूस हुआ कि वह तेज़ी से भागकर आगे जायेगा और जमीला को जीगितों से छीन लेगा। वह एकटक जमीला को ही देख रहा था। उसकी नज़र में उदासी थी, प्रशंसा थी, दर्द था और ख़ुशी की झलक भी। जमीला का रूप उसके लिए दुख का कारण था और सुख का स्रोत भी। जीगित जब बारी-बारी से उसे अपने पास सटाकर चूमने के लिए मजबूर करते, तो दनियार सिर झुका लेता। ऐसा लगता कि वह अभी यहां से चल देगा, मगर वहीं का वहीं खड़ा रह जाता।

इसी बीच जमीला ने भी उसे देख लिया। उसकी हंसी तो जैसे एकदम ही हवा हो गयी। उसने सिर झुका लिया।

"बस काफ़ी हंसी-मज़ाक़ हो चुका!" हंसते और शोर-शोर मचाते हुए जीगितों को उसने सहसा ही डांट दिया।

किसी ने जमीला का आलिंगन करना चाहा।

"जाओ यहां से!" उसे पीछे धकेलते हुए उसने कहा। उसने चोरी-चोरी और अपराधी की-सी नज़र से दनियार की तरफ़ देखा और अपनी पोशाक निचोड़ने के लिए झाड़ियों में भाग गयी।

उनके सम्बन्धों में बहुत कुछ मेरी समझ के बाहर था। सच बात तो यह है कि मैं इसके बारे में सोचता हुआ भी घबराता था। जमीला खुद ही दनियार से कन्नी काटती। मगर फिर भी जब इस कारण मैं उसे उदास-उदास देखता, तो मुझे बड़ी बेचैनी अनुभव होती। अगर वह पहले की ही तरह उसपर हंसती, फबतीयां कसती, तो ज़्यादा अच्छा होता। पर साथ ही हर रात गांव वापस लौटते हुए दनियार के संगीत की गूंज मेरे मन में उन दोनों के लिए ख़ुशी की एक अजीब-सी भावना पैदा करती।

हम दर्रा लांघते तो जमीला छकड़े में सवार रहती। स्तेपी में पहुंचकर वह छकड़े के साथ-साथ चलने लगती। मैं भी ऐसा ही करता – छकड़े के साथ-साथ चलते हुए गायक के स्वर का और भी अधिक मज़ा आता। शुरू में तो हम अपने-अपने छकड़े के साथ चलते, मगर जल्द और अनजाने ही कोई अज्ञात शक्ति हमें दनियार के क़रीब खींच ले जाती। हमारे मन में उसके चेहरे और आंखों के भाव पढ़ने की चाह जग जाती। हम यह देखना चाहते

कि गायक क्या सचमुच ही मुरझाया हुआ और अपने में सिमटा-सिमटाया रहनेवाला दनियार है!

हर बार ही मैंने यह देखा कि जमीला दनियार को देखकर भौचक्की सी रह जाती है, द्रवित हो उठती है। वह धीरे-धीरे उसकी तरफ़ अपना हाथ बढ़ाती। पर दनियार को इसका कुछ भी पता न लगता – उसकी आंखें दूर, बहुत दूर कहीं टिकी होतीं। सिर के पीछे हाथ बांधे हुए वह दायें-बायें झूमता रहता। जमीला का हाथ लाचारी में छकड़े के सिरे पर जा गिरता। फिर वह चौंकती, झटपट हाथ पीछे खींच लेती और वहीं खड़ी रह जाती। सिर झुकाये और हतप्रभ-सी वह सड़क के बीचोंबीच खड़ी रहती, नज़र दनियार का पीछा करती और कुछ क्षण बाद वह फिर से चलने लगती।

कभी-कभी मैं यह सोचता कि जमीला और मैं एक जैसी और अनबूझ भावना से बेचैन रहते हैं। मुझे लगता कि जैसे यह अनजानी भावना एक ज़माने से हमारी आत्माओं में लुकी-छिपी बैठी है और अब उसे सजीव करने का वक़्त आ गया है।

जमीला अपने को काम-काज में खो देती। मगर खलियान में आराम के जब कुछ क्षण मिलते, तो वह बहुत बेचैन हो उठती। वह ओसाई करनेवालों के पास जा खड़ी होती, गेहूं से भरे हुए कुछ बेलचे हवा में ऊंचे उछालती, फिर यकायक फावड़ा नीचे फेंकती और भूसे की टालों की तरफ़ चली जाती। यहां वह छाया में बैठ जाती और जैसे कि एकाकीपन से डरकर वह मुझे आवाज़ देती –

"यहां आ जाओ, किचिने-बाला! आओ, थोड़ी देर यहां बैठे।"

मैं हमेशा ही यह आशा लगाये रहता कि वह मुझे कोई महत्त्वपूर्ण बात बतायेगी, अपनी परेशानी का कारण समझायेगी। मगर इसके बारे में वह कभी ज़बान ही न खोलती। वह चुपचाप मेरा सिर अपने घुटनों पर रख लेती और कहीं दूर में अपनी दृष्टि गड़ा देती। वह मेरे खुरदरे बालों में उंगलियां फेरती और अपने गर्म-गर्म कांपते हाथों से धीरे-धीरे मेरा मुंह थपथपाती। मैं नज़र उठाकर उसकी तरफ़ देखता, उसके चेहरे को निहारता और मुझे अनबूझ परेशानी और पीड़ा की झलक दिखाई देती। मैं उसमें अपने को देखता। अवश्य ही कुछ तो उसकी आत्मा को बुरी तरह कचोटता रहता था। अवश्य ही कोई तूफ़ान उसकी आत्मा में उमड़ता-घुमड़ता था और बाहर आने को उद्विग्न था।

मगर जमीला में उसका सामना करने की ताब न थी, वह कांपती डरती थी। वह यह मानने और साथ ही न मानने को बेक़रार थी कि उसे मुहब्बत हो गयी है। जमीला की तरह मैं भी यह चाहता और नहीं भी चाहता था कि वह दनियार से प्रेम करे। आख़िर वह हमारे घर की बहू थी, मेरे भाई की बीवी थी!

ऐसे विचार घड़ी भर को आते। मैं इन्हें अपने दिल में जगह न देता, निकाल बाहर करता। जमीला के बालक की तरह अधखुले होंठों को देखने, आंसुओं से धुंधली पड़ी आंखों पर नज़र जमाये रहने से मुझे सुख मिलता था। कितनी प्यारी, कितनी सुन्दर थी जमीला! क्या जादू था उसकी सूरत में, क्या खिंचाव था उसके चेहरे में! मैं यह अनुभव करता, मगर उस वक़्त सब कुछ समझ न पाता। अब भी मैं कभी-कभी अपने से पूछता रहता हूँ – क्या, प्रेम भी कवि या चित्रकार की प्रेरणा जैसी प्रेरणा है? जमीला को देखते-देखते मेरा कुछ इस तरह मन होता कि उठकर स्तेपी में भाग जाऊं, धरती और आकाश को पुकारूं और पूछूं कि किस तरह मैं अपने मन की अजीब-सी ख़ुशी और अनजानी बेचैनी पर क़ाबू पाऊं? और एक बार मुझे इसका जवाब मिला भी।

हर दिन की तरह हम स्टेशन से लौट रहे थे। रात घिर आयी थी। सितारे मधुमक्खियों की तरह आकाश में भीड़ मचाये थे। स्तेपी ऊंघ रही थी। चारों तरफ़ के गहरे सन्नाटे में सिर्फ दनियार का गीत गूंज रहा था। उसकी आवाज़ ख़ामोशी को चीरती हुई सभी तरफ़ अपने पंख फैलाती और दूर के रेशमी अंधेरे में सिमट जाती। मैं और जमीला उसके पीछे-पीछे चल रहे थे।

जाने उस दिन दनियार के मन पर क्या बीती थी – उसकी आवाज़ में ऐसी गहरी, मन को छूनेवाली कुछ ऐसी उदासी, कुछ ऐसा दर्द था कि दया और सहानुभूति से आंखें छलछला आयीं।

जमीला छकड़े के साथ-साथ चल रही थी। वह कसकर उसे बग़ल से पकड़े थी। उसका सिर लटका हुआ-सा था। पर जब दनियार की आवाज़ फिर पंचम में गूंजी, तो जमीला ने सिर झटका, कूदकर छकड़े में गयी और दनियार की बग़ल में जा बैठी। वह छाती पर हाथ बांधे वहां बुत बनी बैठी थी। मैं छकड़े के साथ-साथ चल रहा था। मैं थोड़ा आगे बढ़कर उनके क़रीब ही चल रहा था और उन्हें कनखियों से देख रहा था। दनियार गाता रहा और ऐसा लगा कि जमीला का पता तक न लगा। मैंने जमीला के हाथ नीचे जाते देखे, वह दनियार की तरफ़ झुकी और धीरे-से उसने अपना सिर उसके कन्धे पर रख

दिया। चाबुक के स्पर्श से जैसे घोड़ा चौंककर अपनी चाल बदल लेता है, वैसे दनियार भी चौंका, उसकी आवाज़ ज़रा कांपी और फिर पहले से ज़्यादा ज़ोर के साथ गूंज उठी। वह प्रणय गीत गा रहा था!

मैं तो सकते में आकर रह गया। स्तेपी में तो जैसे बहार आ गयी। अंधेरे को चीरती हुई वह तो जैसे सजीव होकर सांस लेने लगी और उसके महान विस्तार में मुझे दो प्रेमी दिखाई दिये। पर उनकी आंखें मुझे न देख रही थीं। मैं तो जैसे वहां था ही नहीं। मैं उन्हें गीत की लय के साथ-साथ झूमते हुए देख रहा था। वे अपने को और दुनिया को भूले हुए थे और यही मेरा हाल था। मैं तो उन्हें पहचान नहीं पा रहा था। गले से खुली हुई वही फटी-पुरानी फ़ौजी क़मीज़ पहने हुए यह वही हमारा जाना-पहचाना दनियार था। मगर अंधेरे में उसकी आंखें दहकती-सी दिखाई दे रही थीं। डरी-सहमी, सिमटी-सिमटायी, दनियार से चिपकी हुई, वह मेरी अपनी ही जमीला थी। उसकी बरौनियों पर आंसुओं की बूंदें चमक रही थीं। नया जन्म हुआ था उन दोनों का! असीम और अपार थी उनकी ख़ुशी! और क्या यह परम सुख नहीं था? दनियार अपना यह प्रेरणापूर्ण गान पूरी तरह जमीला को अर्पित कर रहा था, वह उसके लिए गा रहा था, उसके गीतों में वही बसी थी।

दनियार का संगीत मुझमें एक अजीब-सी उत्तेजना भर देता था। अब फिर मुझे वही अनुभूति हुई। मेरा मन क्या चाहता है, सहसा यह बात मेरे मन के दर्पण पर प्रतिबिम्बित हो उठी। मेरी उंगलियां उनका चित्र बनाने के लिए बेक़रार थीं।

अपने इस विचार की चेतना से ही मैं सिहर उठा। मगर मेरी चाह मेरे डर से प्रबल थी। वे जैसे दिखाई दे रहे हैं वैसी ही रेखायें खींचकर मैं उन्हें चित्रपट पर उतारूंगा – इसी तरह ख़ुशी से आत्मविभोर! मगर क्या मैं ऐसा कर भी पाऊंगा? डर और ख़ुशी ने मेरी सांसों को दबोच लिया। मैं तो जैसे जादू में बंधा-सा चल रहा था। मैं भी बहुत ख़ुश था। उस वक़्त यह जो न जानता था कि आगे चलकर अपनी इस प्रबल इच्छा की मुझे क्या क़ीमत अदा करनी होगी। मैंने अपने-आपसे कहा कि अब मैं भी दनियार की नज़र से ही धरती को देखूंगा, कि मैं रंगों में उसके संगीत को ढालूंगा। अपने चित्र में मैं पहाड़ों और स्तेपी को उतारूंगा। उसमें तरह-तरह की घास, बादलों, नदियों और लोगों को भी जगह दूंगा। मैंने तो इस बात पर भी ध्यान दिया था कि रंग

कहां से लाऊंगा? स्कूल से? मगर उन्हें तो खुद भी इनकी ज़रूरत रहती है। अब जैसे कि पहाड़ उठाने के बराबर यही मुश्किल काम था।

दनियार ने अचानक ही गीत की लय तोड़ दी। जमीला ने भावावेश में उसे बांहों में भर लिया। मगर झटपट ही उसने अपनी बांहें खींच लीं। घड़ी भर के लिए तो उसे जैसे काठ मार गया, फिर वह अपनी जगह से खिसकी और छकड़े से कूद गयी। दनियार ने झिझकते-झिझकते लगामें खींच लीं। घोड़े ठहर गये। जमीला दनियार की तरफ पीठ करके सड़क के बीचोंबीच खड़ी थी। फिर उसने सिर झटका, कनखियों से उसे देखा और जैसे-तैसे आंसू पीते हुए कहा –

"इस तरह मुझे क्यों देख रहे हो?" घड़ी भर रुकने के बाद उसने फिर कड़ाई से कहा – "मेरी तरफ़ मत देखो, घोड़े बढ़ाओ!" इतना कहकर वह अपने छकड़े की तरफ़ चली गयी। "और तुम क्या मुंह बाये खड़े हो?" जमीला ने मुझे डांटा। "चलो अपने छकड़े में, संभालो लगामें! ओह, तुम लोग तो मुझे परेशान किये रहते हो!"

"इसे हुआ क्या है?" घोड़े हांकते हुए मैने मन ही मन सोचा। वैसे उसके मन की थाह लेना मुश्किल न था। बहुत भारी गुज़र रही थी उसके मन पर। वह विवाहिता थी, उसका पति जीवित था और सरातोव अस्पताल में था। मैंने फ़ैसला किया कि इस बात को मैं पहेली ही बनी रहने दूंगा। मुझे जमीला पर गुस्सा था, अपने पर खीझ आ रही थी। अगर मुझे यह मालूम हो जाता कि इस दिन के बाद दनियार का नग़मा सो जायेगा, कि फिर कभी उसकी आवाज़ मेरे कानों में न गूंजेगी, तो शायद मैं जमीला से सचमुच ही नफ़रत करने लगता।

मेरी नस-नस दर्द कर रही थी। वापस लौटकर घास के बिछौने में पड़ रहने की प्रतीक्षा भी मेरे लिए दूभर हो रही थी। अंधेरे में दुलकी चलते हुए घोड़ों की पीठे हिल-डुल रही थीं। छकड़े को खड़खड़ाहट मुसीबत बनी हुई थी। लगामें मेरे हाथों से खिसक-खिसक जाती थीं।

खलियान में लौटते ही जैसे-तैसे मैंने घोड़ों का साज़ उतारा और उसे छकड़े के नीचे फेंककर सूखी घास के ढेर पर जा पड़ा। दनियार ही घोड़ों को चरागाह में ले गया।

मैं अगली सुबह उठा तो बहुत खुश था। जमीला और दनियार—मैं उनका चित्र बनाऊंगा! मैने कसकर आंखें बन्द कर लीं। वास्तव में मैं इनका कैसा

चित्र बनाऊंगा मैंने इसकी कल्पना करने का यत्न किया। मेरी आंखों के आकाश पर चित्र खिंच गया। मैं काम शुरू कर सकता हूं। मुझे ज़रूरत है तो बस तूलिका की, रंगों की।

मैं नदी की तरफ़ भागा। नहाया-धोया और फिर पिछाड़ी-बंधे घोड़ों की तरफ़ दौड़ गया। ठण्डी ओस भीगी अलफ़ालफ़ा घास मेरी टांगों के बीच ज़ोर से सरसरा रही थी। वह मेरे फटे हुए तलवों में कांटे से चुभा रही थी। मगर मुझे यह सभी कुछ बहुत प्यारा लग रहा था। मैं भागता हुआ अपने इर्द-गिर्द की हर चीज़ को मन में उतारता जा रहा था। सूरज पहाड़ों की ओट में से सामने आ रहा था। सिंचाई नाले के पास ही जैसे तैसे सूरजमुखी का एक फूल उग आया था। वह सूरज की किरणों को चूम लेने के लिए सूरज की तरफ़ उचक रहा था। ललचाई-ललचाई-सी सफ़ेद झाडियां इस फूल को चारों तरफ से घेरे थीं, मगर फूल दृढ़ खड़ा था। वह प्रभात बेला की किरणों को समेट रहा था, अपनी पीली जीभों द्वारा उन झाड़ियों से उन्हें छीन-छीनकर अपनी बीजों की भारी और कसी हुई टोपी का पोषण कर रहा था। छकड़े के पहियों ने कीचड़ को बिलो डाला था। उन पहियों के चक्रों से अब पानी की बूंदें चू रही थीं। इधर कमर तक ऊंची और महकी हुई घास का द्वीप-सा फैला था। मैं अपनी जन्मभूमि पर भागा जा रहा था, मेरे सिर के ऊपर से अबाबीलों के झुण्ड गुज़र रहे थे। काश, मेरे पास रंग होते! सुबह का सूरज, नीले श्वेत पहाड़, ओस भीगी अलफ़ालफ़ा घास और सिंचाई नाले के किनारे पर खड़ा हुआ एकाकी सूरजमुखी का फूल मैं इन सभी को रंगों में ढाल देता।

मैं खलियान में लौटा। मेरी खुशी एकदम काफ़ूर हो गयी। मैने वहां जमीला को देखा। वह उदास थी, चेहरा उतरा हुआ था और उसकी आंखों के नीचे काले घेरे नज़र आ रहे थे। शायद उसने रात आंखों में काट दी थी। वह न मुस्करायी, न मुझसे बोली ही। पर जब उरुज़मत वहां आ गया, जमीला ने उसके पास जाकर कहा—

"संभालो अपना यह छकड़ा! मुझे जहां चाहो भेज दो, मगर मैं अनाज लेकर स्टेशन पर हरगिज़ नहीं जाऊंगी!"

"यह तुम्हें हुआ क्या है, बेटी? क्या किसी मक्खी ने काट लिया है?" उरुज़मत ने हैरान होकर स्नेहभरी आवाज़ में पूछा।

"मक्खियां काटती हैं बछड़े-बछेड़ों को! मुझसे इसका कारण मत पूछो! बस मैने कह जो दिया कि नहीं जाऊंगी तो नहीं जाऊंगी!"

उरुज़मत के चेहरे से मुस्कान ग़ायब हो गयी।

"मुझे इसकी कुछ परवाह नहीं कि तुम क्या चाहती हो! काम तो तुम्हें करना ही होगा!" उसने अपनी बैसाखी धम से ज़मीन पर मारी। "अगर किसी ने तुम्हें तंग किया है, तो तुम मुझे उसका नाम बताओ। मैं उसी बैसाखी से उसका सिर तोड़ डालूंगा। अगर ऐसा कुछ नहीं तो यह बेवकूफ़ी छोड़ो। जानती हो न यह फ़ौजियों की रोटी का सवाल है! तुम्हारा अपना मियां भी उन्हीं में है!" वह तेज़ी से घूमा और बैसाखी टेकता हुआ दूर चला गया।

जमीला सकपकाकर रह गयी। वह शर्म से गड़ गयी और फिर दनियार की तरफ़ देखकर उसने गहरी सांस ली। वह जमीला की तरफ पीठ किये हुए एक तरफ़ को खड़ा था और घोड़ों का साज़ कस रहा था। उसने सारी बातचीत सुनी थी। जमीला घड़ी भर के लिए तो जहां की तहां खड़ी रहकर चाबुक को खींचती रही। फिर उसने ज़ोर से कन्धे झटककर जैसे मजबूरी ज़ाहिर की और अपने छकड़े की तरफ़ चली गयी।

उस दिन हम मामूल से कुछ पहले लौट आये। दनियार रास्ते भर अपने घोड़े सरपट दौड़ाता रहा। जमीला चुप-चुप और मुरझायी-मुरझायी रही। काली और झुलसी हुई स्तेपी देखकर मुझे आंखों पर विश्वास ही न हुआ। अरे, अभी कल तो यहां बहार ही बहार थी। मुझे लगा कि जैसे किसी परी-कथा में ही मैंने वह सब कुछ देखा-सुना था। किन्तु मेरे मानस पर खिंच जानेवाला ख़ुशी का चित्र तो किसी तरह भी मिटने को ही तैयार न था। मैंने जैसे जीवन का सुखदतम सपना देखा था। इस सपने की हर रेखा मेरी कल्पना में बार-बार उभर रही थी। मेरे दिल-दिमाग़ में आख़िर यही सपना बसकर रह गया। अनाज तौलने वाली लड़की से जब तक मैंने एक मोटा सफ़ेद काग़ज हासिल न कर लिया, मुझे चैन न पड़ा। मैं धड़कते दिल के साथ भूसे की एक टाल के पीछे गया और रास्ते में उठा लिये गये लकड़ी के एक बेलचे के तख़्ते पर उस कागज को बिछा दिया।

"अल्लाह मुझपर मेहर करो!" मैं फुसफुसाया। घोड़े पर पहली बार बिठाते हुए मेरे पिता ने भी कभी यही शब्द कहे थे। तब मैंने काग़ज़ पर पेंसिल चलायी। मुझ बेउस्तादे की ये पहली रेखायें थीं। मगर जैसे ही काग़ज़ पर दनियार का नाक़-नक़्शा उभरा कि मैं सब कुछ भूल गया! मैंने अगस्त की रात में स्तेपी की कल्पना की। अपनी कल्पना की उड़ान में मैने दनियार का

गीत सुना, पीछे की तरफ़ झुका उसका सिर और उघाड़ा गला देखा। फिर मेरे सामने जमीला का चित्र उभरा। वह दनियार के कन्धे पर सिर रखे थी। स्वतन्त्र रूप से मैं यह पहला चित्र बना रहा था। यह रहा छकड़ा और छकड़े में वे दोनों थे। छकड़े के आगे के भाग में लगामें पड़ी थीं। अंधेरे में घोड़ों की पीठे हिल-डुल रही थीं। सामने की ओर दूर तक फैली स्तेपी थी और बहुत दूरी पर थे जगमगाते हुए सितारे।

मैं तो चित्रकारी में पूरी तरह डूब गया था। मुझे तो किसी की आवाज़ तक भी सुनाई न दी। जब किसी ने बहुत ही पास आकर मुझे पुकारा तो मैं चौंका —

"क्या बहरे हो गये हो?"

यह जमीला थी। मैं घबराकर झेंप गया और चित्र झटपट न छिपा पाया।

"छकड़े लद चुके हैं और हम एक घण्टे से तुम्हें पुकार रहे हैं! तुम यहां क्या कर रहे हो? यह क्या है?" चित्र उठाते हुए उसने पूछा। "हूंह!" उसने गुस्से से कन्धे झटके।

काश, धरती फट जाती और मैं उसमें समा जाता! वह उस चित्र को देर तक, बहुत देर तक देखती रही। आख़िर उसने अपनी उदास और नम आंखें ऊपर उठाईं।

"किचिने-बाला, यह मुझे दे दो ... यह तस्वीर मेरे पास यादगार बनकर रहेगी ..." उसने धीरे-से कहा। उसने उस काग़ज़ को तह किया और अपने ब्लाउज में छिपा लिया।

हम सड़क पर आ चुके थे, मगर मैं अभी तक अपने को संभाल नहीं पा रहा था। सब कुछ मुझे सपने जैसा लग रहा था। जो चित्र मेरी आंखों के सामने उभरा था, मैंने उसे वैसे ही काग़ज़ पर उतारा है, इसका मुझे विश्वास न हो रहा था। फिर भी मुझे भोली-सी ख़ुशी महसूस हो रही थी। इतना ही नहीं, मुझे अपने पर गर्व भी अनुभव हुआ। अब एक के बाद एक सजीव, एक के बाद एक सुन्दर सपना मेरी आंखों के सामने नाचने लगा। इन्हीं सपनों के कारण मेरा सिर घूमने लगा। मैं अब बहुत-सी तस्वीरें बनाना चाहता था। मैं पेंसिल के रेखाचित्र नहीं, रंगों के रंगबिरंगे चित्र बनाने के सपने देखने लगा। छकड़े की तेज़ रफ़्तारी की तरफ़ मैंने बिल्कुल ध्यान न दिया। दनियार अपने घोड़ों को ताबड़-तोड़ भगाये जा रहा था। जमीला भी साथ दे रही थी। वह

इधर-उधर देखती हुई कभी-कभी मर्मस्पर्शी और विनम्र ढंग से मुस्करा देती थी। मैं भी मुस्करा रहा था। ज़ाहिर है कि अब वह हमसे नाराज़ न थी। और अगर वह दनियार से कहती तो आज फिर उसके कण्ठ से संगीत फूट पड़ता।

उस दिन हम मामूल से कहीं पहले स्टेशन पर पहुंच गये। हां, हमारे घोड़े तो ज़रूर मुंह से झाग निकाल रहे थे। हमने छकड़े खड़े किये कि दनियार फटाफट बोरियां उतारने लगा। आख़िर उसे हुआ क्या है? ऐसी क्या हड़बड़ी है इसे? बीच-बीच में वह रुकता और पास से गुज़रनेवाली धड़धड़ाती हुई रेलगाड़ी को देर तक खड़ा देखता रहता। जमीला भी दनियार की दिशा में ही देखती थी और मानो उसके मन की थाह पाने का प्रयत्न करती थी।

"इधर तो आना! यह घोड़े का नाल ढीला हो गया है। उसे निकाल फेंकने में ज़रा मेरी मदद तो करो," जमीला ने दनियार को पुकारा।

दनियार ने घोड़े का सुम अपने घुटनों के बीच थामा और नाल उतार दिया। जैसे ही वह सीधा खड़ा हुआ कि जमीला ने उसकी आंखों में आंखें डालकर धीरे-से कहा —

"आख़िर मामला क्या है? तुम सारी स्थिति को समझने की कोशिश क्यों नहीं करते? या यह कि दुनिया में सिर्फ़ मैं ही रह गयी हूं?"

दनियार ने मुंह फेर लिया और कुछ भी जवाब न दिया।

"तुम क्या समझते हो कि मेरे दिल पर कुछ नहीं बीत रही है?" जमीला ने गहरी सांस ली।

दनियार की भौंहें सिकुड़ीं। उसने प्यार और उदासी से जमीला की तरफ़ देखा और बहुत धीरे-से कुछ जवाब दिया। मैं उसके शब्द न सुन सका। फिर वह जल्दी से अपने छकड़े की तरफ़ चला गया। अब वह कुछ कुछ खुश दिखाई दे रहा था। छकड़े की तरफ़ लौटते हुए उसने नाल को सहलाया। जमीला के शब्दों से उसे क्या सान्त्वना मिली होगी? "मेरे दिल पर क्या कुछ नहीं बीत रही है?" इतना कह देने और गहरी सांस लेने से क्या किसी को सान्त्वना मिल भी सकती है?

हम बोरियां उतारकर जाने के लिए तैयार ही थे कि वहां एक घायल और दुबला-पतला फ़ौजी नज़र आया। उसके ग्रेट-कोट पर बुरी तरह सिलवटें पड़ी हुई थी और उसके कन्धे से एक थैला लटक रहा था। कुछ ही मिनट पहले एक रेलगाड़ी स्टेशन पर रुकी थी। फ़ौजी ने इधर-उधर नजर दौड़ाई

और फिर चिल्लाया —

"यहां कोई कुरकुरेव का रहनेवाला है?"

"मैं हूं!" मैंने जवाब दिया। मैं सोच रहा था कि जाने यह कौन है।

"किसके लड़के हो, बेटा?" मेरी तरफ़ आते हुए फ़ौजी ने पूछा। सहसा उसे जमीला दिखाई पड़ गयी। उसके चेहरे पर हैरानी और ख़ुशी की लहर दौड़ गयी।

"करीम? तुम हो?" जमीला चिल्लायी।

"बहन जमीला!" फ़ौजी जमीला की तरफ लपका और उसका हाथ अपने हाथ में लेकर ज़ोर से दबाया।

वह जमीला के ही गांव का था।

"क्या खुशकिस्मती है! यक़ीनन यह मेरी खुशकिस्मती है कि यहां चला आया!" उसने बड़े जोश के साथ कहा। "मैं सीधे सादिक़ के पास से ही आ रहा हूं। हम एक ही अस्पताल में थे। अल्लाह की मेहर रही तो महीने-दो महीने तक वह भी भला चंगा हो जायेगा। चलते-चलते मैने उसे तुम्हारे नाम पत्र लिखने के लिए कहा। मैंने उससे वायदा किया था कि उसका ख़त तुम्हें पहुंचा भी दूंगा। तो लो यह संभालो।" क़रीम ने जमीला को ख़त सौंप दिया।

जमीला ने वह ख़त झपट लिया, उसके चेहरे पर लाली दौड़ गई और फिर उसका रंग सफ़ेद पड़ गया। उसने कनखियों से दनियार की तरफ़ देखा। वह लुटा-लुटा-सा छकड़े के पास अकेला खड़ा था, टकटकी बांधकर जमीला को देख रहा था। उसकी आंखों में गहरी निराशा थी।

इसी बीच सभी ओर से लोग जमा होने लगे। भीड़ में फ़ौजी के कई मित्र और सम्बन्धी निकल आये। चारों ओर से सवालों की बौछार होने लगी। जमीला उस पत्र के लिए धन्यवाद भी न दे पायी कि दनियार का छकड़ा खड़खड़ाता; धूल का बादल उड़ाता हुआ तेज़ी से अहाते में से गुज़रा और ऊबड़-खाबड़ सड़क पर धचके खाता बढ़ गया।

"ज़रूर कोई सनकी है!" लोग चिल्लाये।

फ़ौजी को तो लोग कहीं ले जा चुके थे और मैं और जमीला अहाते के बीच खड़े, तेजी से ग़ायब होते हुए धूल के बादल को देखते रहे।

"आनो चलें, जेने," मैंने कहा।

"तुम जाओ। मुझे अकेली छोड़ दो!" जमीला ने चिढ़कर कहा।

इस तरह पहली बार हम अलग-अलग वापस आये। दम घोटनेवाली गर्मी मेरे झुलसे हुए होंठों को जला रही थी। जगह-जगह फटी और झुलसी हई धरती दिन भर की गर्मी में तपकर अब ठण्डी हो रही थी और उसपर नमकीन सफ़ेदी उभरने लगी थी। हिलता-डुलता और बेढंगा-सा सूरज सफ़ेद-सफ़ेद धुंधलके के बीच से चमक रहा था। धुंधले-धुंधले क्षितिज पर आंधी तूफ़ान के नारंगी-लाल बादल जमा हो रहे थे। जब-तब खुश्क हवा के ज़ोरदार झोंके आते थे। ये घोड़ों की थूथनियों को सफ़ेद फेनिल धूल से ढक देते, उनके अयाल पीछे की तरफ़ उड़ाते और टीलों पर उगे हुए घास-पौधों में लहरें पैदा कर आगे निकल जाते।

"शायद आज बरसात हो?" मैंने सोचा।

मैं बहुत बेचैनी और बेहद अकेलापन महसूस कर रहा था। घोड़े बार-बार क़दम-क़दम चलने लगते थे। मैं बार-बार उनपर चाबुक बरसा रहा था। लम्बी-लम्बी टांगोंवाली हड़ीली बस्टर्ड-चिड़ियां खड्ड में हवा से बातें करने लगीं। सूखे-मुरझाये बुर्दोक के पौधे जो हमारी धरती पर नहीं उगते और कज़ाखस्तान की तरफ़ से आये थे सड़क पर उड़ते फिर रहे थे। सूरज डूब गया। कहीं कोई परिन्दा तक भी न था। दिखाई दे रही थी तो सिर्फ़ गर्मी से परेशान स्तेपी।

मैं खलियान में पहुंचा तो अंधेरा हो चुका था। हवा निश्चल और दम साधे थी। मैंने दनियार को पुकारा।

"वह तो नदी पर गया है," चौकीदार ने जवाब दिया। "बड़ी उमस हो रही है। सभी लोग घरों को चले गये हैं। हवा न हो तो खलियान में किसी को लेना-देना ही क्या है!"

मैं घोड़ों को चरागाह में ले गया और नदी पर जाने का फ़ैसला किया। मैं खड़े किनारे पर दनियार की मनपसन्द जगह से परिचित था।

वह वहां सिमटा-सिमटाया-सा बैठा था। उसने अपना सिर घुटनों पर टिकाया हुआ था। वह नीचे तेज़ी से बहते पानी का शोर सुन रहा था। मेरा मन हुलसा कि मैं उसके पास जाऊं, उसके गिर्द बांहें डाल दूं और दिलासे के दो-चार शब्द कहूं। मगर मैं कह ही क्या सकता था? मैं कुछ देर एक तरफ़ को खड़ा रहा और आख़िर लौट आया। फिर मैं सूखी घास पर लेटा-लेटा बादलों से ढके आकाश को देर तक ताकता रहा। मैं सोचता रहा कि आख़िर जिन्दगी इतनी उलझी हुई क्यों है, इसे समझ पाना इतना मुश्किल क्यों है?

जमीला अभी तक न लौटी थी। जाने वह कहां थी? मैं थककर चूर-चूर

था, फिर भी मेरी आंखों से नींद ग़ायब थी। दूर पहाड़ों पर बादलों के बीच में बिजली कौंधी।

दनियार के खलियान में लौटने तक मैं जाग रहा था। वह बेकार ही, बिना किसी उद्देश्य के, इधर-उधर घूम रहा था। उसकी नज़र सड़क पर जमी थी। फिर वह क़रीब ही सूखी घास के ढेर पर ढह पड़ा। मुझे यक़ीन हो गया था कि वह अब हमारे गांव में हरगिज़ नहीं रहेगा, ज़रूर ही कहीं चला जायेगा! मगर कहां? वह जा ही कहां सकता है? अकेली जान न घर न घाट! न कोई आगे, न पीछे। मैं नींद की गोद में जा ही रहा था कि पास आते छकड़े की खड़खड़ाहट मेरे कानों तक पहुंची। शायद जमीला लौट रही थी...

न जाने मैं कितनी देर सोया कि मेरे पास ही सूखी घास सरसरायी। कोई नज़दीक से गुज़रा, गीले छोर ने जैसे कि मेरा कन्धा छुआ। मैंने आंखें खोलीं। वह जमीला थी। वह नदी से लौटी थी। उसकी पोशाक ठण्डी और नम थी। वह ठिठकी, बेचैनी से उसनें इधर-उधर देखा और फिर दनियार के पास जा बैठी।

"दनियार, मैं आ गयी हूं। मैं खुद ही आ गयी हूं, दनियार," जमीला ने धीरे-से कहा।

चारों तरफ़ गहरा सन्नाटा था। कहीं बिजली चमकी, उसने गुप-चुप धरती को चूमा।

"तुम नाराज़ हो? बहुत नाराज़ हो क्या?"

फिर एकदम ख़ामोशी छा गयी। फिर कोई कगार टूटकर पानी में गिरा। छपाक की हल्की-सी आवाज़ हुई।

"क्या मैं क़ुसूरवार हूँ? तुम भी क़ुसूरवार नहीं हो..."

पहाड़ों पर ज़ोर की गड़गड़ाहट हुई और दूर तक फैल गयी। फिर बिजली कौंधी और उसकी रोशनी में जमीला का सिर जगमगा उठा। वह दनियार से सटी हुई थी। दनियार के बाहु-पाश में उसके कन्धे ज़ोर से हिल रहे थे। फिर वह भूसे पर दनियार के साथ ही लेट गयी।

स्तेपी की ओर से गर्म हवा का झोंका आया। उसने भूसे को इधर-उधर घुमाया, खलियान के सिरे पर खड़े ख़स्ताहाल तम्बू से टकराया और एक सनकी जनूनी की तरह चक्कर काटता, घूमता हुया सड़क पर चला गया। फिर ज़ोर की गड़गड़ाहट हुई और बादलों का तन बेधती हुई बिजलियां चमक उठीं।

दिल दहला भी और खुशी भी हुई – तूफ़ान आ रहा था! गर्मी का आखिरी तूफ़ान।

"तुमने सोचा होगा कि तुमसे वह मेरे मन के ज़्यादा करीब है?" जमीला भावावेश में फुसफुसायी। "कभी नहीं! हरगिज़ नहीं! मुझे कभी उससे प्यार नहीं मिला। पत्र में भी वह तो बस अन्त में यों ही नमस्कार घसीट देता था। मुझे उसकी ज़रूरत नहीं है, देर से मिलनेवाले उसके प्यार की ज़रूरत नहीं है। लोग क्या कहेंगे, इसकी भी मुझे कतई परवाह नहीं है। मेरे प्यारे, नितान्त एकाकी, मैं अब किसी तरह भी तुम्हें अपने से जुदा न होने दूंगी! एक अर्से से तुम्हें अपने मन में बसाये हूं, तुम्हारा प्यार संजोये हूं। तुमसे कोई जान-पहचान न थी, तुम यहां आये भी न थे, मगर मैं तो तब भी तुम्हें प्यार करती थी। तुम शायद जानते थे कि मैं तुम्हारी राह में आंखें बिछाये बैठी हूं, इसलिए तुम खिंचे चले आये!"

पहाड़ी के क़रीब चकाचौंध करती हुई हल्की नीली टेढ़ी-मेढ़ी बिजलियां नदी में कूदीं। बरखा की आड़ी-तिरछी ठण्डी-ठण्डी बूंदें भूसे पर पटापट ताल देने लगीं।

"जमीला, मेरी प्यारी जमीला!" दनियार फुसफुसाया। वह उसे प्यार से कज़ाख और क़िर्ग़ीज़ नामों से पुकार रहा था।

"मेरी तरफ़ मुंह करो। मुझे अपनी आंखों में झांकने दो!"

तूफ़ान ने हमें आ लिया था।

तम्बू की नमदे की छत का एक सिरा खुल गया था और वह एक घायल पंछी की तरह फड़फड़ा रहा था। तेज़ हवा के झोंके बरसते पानी पर नीचे की तरफ़ से कोड़े बरसा रहे थे। पानी, धार बांधकर ज़ोरों से बरस रहा था और मानो धरती को चूम रहा था। आकाश में रह-रहकर ज़ोरों की गरज और गड़गड़ाहट होती थी और वह तूदों की तरह इधर-उधर घूमती-डोलती लगती थी। पहाड़ चकाचौंध करती बिजली में चमक-चमक उठते थे। खड्डों-खाइयों में क़ूदती-फांदती हवा सांय-सांय, भांय-भांय कर रही थी।

मूसलाधार बारिश हो रही थी और मैं भूसे में दुबककर लेटा हुआ था। मेरा दिल नाच रहा था। मैं खुश था। मुझे लग रहा था कि जैसे मैं किसी लम्बी बीमारी के बाद पहली बार खुले में, प्यारी-प्यारी धूप में आया हूँ। बरखा के छींटे और बिजली की चमक, दोनों ही मेरे पास भूसे में पहुंच रहे थे, मगर मैं सुख-सन्तोष अनुभव कर रहा था। मैं मुस्कराता हुआ नींद की थपकियों

का मज़ा लेने लगा। मेरे कानों में कुछ धीमी-धीमी आवाज आ रही थी। वह धीमी पड़ती हुई बरखा की आवाज़ थी या दनियार और जमीला की खुसुर-फुसुर, मेरे लिए यह कहना मुश्किल है।

बरसात का मौसम शुरू होने ही वाला था। कुछ ही दिनों बाद पतझर आ जायेगी। हवा में पतझर के दिनों जैसी चिरायते और भीगे भूसे की कुछ सीली-सीली गन्ध थी भी। पतझर में क्या होनेवाला है? न जाने क्यों, मगर उन दिनों मैने इस प्रश्न पर माथापच्ची न की।

दो साल के वक़्फ़े के बाद मैं उसी पतझर में, फिर से स्कूल गया। पढ़ाई के बाद मैं अक्सर ढालू नदी तट पर आता और अब वीरान-सुनसान पड़े खलियान की बग़ल में जा बैठता। यहीं मैंने शुरू-शुरू के चित्र बनाये। मुझे याद है कि उन दिनों भी मुझे अपने चित्रों से असन्तोष ही रहता था।

"ये रंग तो कौड़ी काम के नहीं हैं! काश कि कहीं असली रंग मिल जायें!" मैं हमेशा यही सोचता। "असली रंग" होते कैसे हैं, मैं तो यह भी न जानता था।

बहुत दिनों बाद ही छोटी-छोटी ट्यूबों में बन्द असली तेल रंगों से मेरी जान-पहचान हुई।

कारण तो चाहे कुछ भी क्यों न रहा हो, बात मेरे अध्यापकों की ही ठीक निकली। मुझे किसी उस्ताद की ज़रूरत थी। मगर मेरे लिए यह चीज़ एक सपने के समान थी। मेरे भाइयों की अभी तक कुछ ख़बर-सार न मिली थी। मेरी मां अपने इकलौते बेटे, अपने "जीगित और दो कुनबों के अन्नदाता" को कहीं दूसरी जगह जाने की इजाज़त भला कैसे दे सकती थी! मैं तो यह बात छेड़ने तक की जुर्रत न कर सकता था। पतझर ने भी जैसे घाव पर नमक छिड़का – वह तो जैसे पुकार पुकारकर कह रही थी– "उठाओ तूलिका!"

ठण्डी बर्फ़ीली कुरकुरेव सिमट गयी थी, छिछली हो गयी थी। जलप्रपातों के सिरों के पत्थरों पर गहरी हरी और नारंगी काई छा गयी थी। शुरू के पाले में पातहीन सरकट लाल-लाल दिखाई दे रहे थे। मगर छोटे-छोटे पोपलार अपने मज़बूत, नन्हे-नन्हे पीले पत्तों को अभी तक अपनी शाख़ों से छिपकाये हुए थे।

बाढ़ों की लपेट में आनेवाले चरागाह की लाल-भूरी घास में कुछ काले-काले धब्बे दिखाई दे रहे थे। ये धुएं से काले पड़े और बरसात में तर-ब-तर चरवाहों के तम्बू थे। इन तम्बुओं के धुएं के सूराख़ों के ऊपर कड़वे और नीले-बैंगनी

धुएं के सांप से चक्कर काट रहे थे। दुबले-पतले घोड़े ज़ोरों से हिनहिना रहे थे। घोड़ियां दूर-दूर खिसकती जा रही थीं। वसन्तागमन तक उन्हें झुण्ड में रखना टेढ़ा काम होगा। कुछ रेवड़ पहाड़ों से उतर आये थे। रौंदी गयी पगडण्डियों के कारण ख़ुश्क, काली पड़ी स्तेपी टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं का जाल-सा बनकर रह गयी थी।

कुछ ही दिनों बाद स्तेपी की हवा चलने लगी। आकाश मटमैला और धूलि-धूसरित हो उठा। हिमपात की सूचना देनेवाली ठण्डी बरसात होने लगी। इस पानी ने धो-पोंछकर हिमकणों के लिए धरती तैयार की। एक सुहाने दिन मैं नदी पर गया। छिछले पानी में रेतीले टीले पर उगी हुई जंगली रसभरी की दहकती-सी झाड़ी ने मुझे बरबस अपनी तरफ़ खींच लिया था। मैं उतारे के क़रीब ही सरकट के झुरमुटों के बीच जा बैठा। शाम घिर रही थी। अचानक दो इनसानों पर मेरी नज़र जा पड़ी। उन्होंने शायद छिछला पाट पार किया था। वे थे दनियार और जमीला। मेरी नज़र तो उन्हीं पर जमकर रह गयी। चिन्ता के साथ-साथ उनके चेहरे पर दृढ़ता की झलक थी। दनियार अपने कन्धे से एक थैला लटकाये था। वह जल्दी-जल्दी क़दम बढ़ा रहा था। उसके खुले हुए फ़ौजी कोट के पल्ले उसके फटे-फटाये किरमिच के बूटों के सिरों को छू रहे थे। जमीला सिर पर सफ़ेद रूमाल बांधे थी, जो पीछे की तरफ़ कुछ खिसक गया था। वह सुन्दर छापेदार पोशाक़ पहने थी। मेलों-त्योहारों के वक़्त ही वह इसकी नुमाइश करती थी। इस पोशाक के ऊपर से वह मख़मली कुरती पहने थी। उसके एक हाथ में छोटी-सी थैली थी और दूसरा हाथ दनियार के थैले के पट्टे पर था। वे कुछ बातचीत कर रहे थे।

वे खड्ड पार कर, कंटीली घास के झुरमुट में से जानेवाली पगडण्डी पर जा रहे थे। मैं उन्हें एकटक देख रहा था। क्या करूं, मेरी समझ में यह बात न आ रही थी। क्या मैं उन्हें पुकारूं? मगर आवाज़ मेरे गले में अटककर ही रह गयी।

पहाड़ों के ऊपर बादल तेज़ी से चल रहे थे। डूबते सूरज की आख़िरी लाल किरणें इन बादलों के बीच से तैर-सी गयीं। अचानक अंधेरे ने अपना हाथ बढ़ाना शुरू किया। दनियार और जमीला जंकशन की दिशा में बढ़े जा रहे थे। उन्होंने एक बार भी पीछे मुड़कर न देखा। झुरमुट में से उनके सिर एक-दो बार नज़र आये और फिर पूरी तरह ग़ायब हो गये।

''जमीला-आ-आ-आ!'' मैं गला फाड़कर चिल्लाया।

''आ-आ-आ!'' मेरी बेबस आवाज़ गूंजकर मेरे पास ही लौट आयी।

''जमीला-आ-आ-आ!'' मैं फिर चिल्लाया और एक पागल की तरह नदी के उस पार उनके पीछे भाग चला।

बर्फ़ जैसे ठण्डे पानी के छींटे मेरे चेहरे से टकरा रहे थे। मेरे कपड़े पानी से तर-ब-तर हो गये, मगर मैं भागता रहा। पांव तले की धरती पर तो मेरी नज़र टिक ही न पा रही थी। मैंने ठोकर खाई और गिर पड़ा। मैं औंधे मुंह गिरा और ज्यों का त्यों पड़ा रहा। गर्म-गर्म आंसुओं की धार मेरा मुंह धोती रही। मेरे ऊपर अंधेरा गहरा आया। कंटीली घास के पतले-पतले तने कोई दर्दीला गीत अलापते रहे।

''जमीला! जमीला!'' मैं सिसक रहा था, आंसुओं से मेरा गला रुंधा जा रहा था।

ये दोनों ही तो मेरे दिल के निकटतम थे, यही तो मुझे सबसे अधिक प्यारे थे। मैं इन्हें ही अलविदा कह रहा था। मैं धरती पर पड़ा सिसक रहा था। सहसा मुझे अनुभव हुआ कि मैं जमीला से प्यार करता हूं। हां, मैं उसे प्यार करता था। वह मेरा प्रथम प्रणय, मेरा पहला प्यार, मेरे बचपन का प्यार था।

आंसू-भीगी बांहों में सिर धंसाये हुए मैं देर तक वहीं पड़ा रहा। जमीला और दनियार को ही नहीं, मैं अपने बचपन को भी अलविदा कह रहा था।

रात के अंधेरे में मैं जब घर पहुंचा, तो अहाते में लोगों की भारी भीड़ दिखाई दी। रकाबें खनखना रही थीं, लोग अपने ज़ीन साध रहे थे। शराब के नशे में धुत्त ऊसमान इधर-उधर अपना घोड़ा नचाता हुआ गला फाड़-फाड़कर चिल्ला रहा था—

''हमें उस ख़ानाबदोश कुत्ते को एक ज़माने पहले ही गांव से निकाल बाहर करना चाहिये था! यह हमारे समूचे ख़ानदान की इज़्ज़त पर बट्टा लग गया है! कभी अगर वह मेरे सामने आ गया, तो वहीं उसका काम तमाम कर डालूंगा! इसके लिए अगर मुझे ख़ुद भी फांसी चढ़ना पड़ा, तो भी कुछ परवाह नहीं। हर ऐरा-ग़ैरा हमारी औरतों पर हाथ साफ़ कर जाये, यह मैं हरगिज़ न होने दूंगा! चलो जीगितो! वह बचकर जायेगा कहां। हम उसे स्टेशन पर ही धर लेंगे!''

मेरा तो दम निकल गया। जाने ये कौनसी सड़क से जायेंगे? मगर यह

यक़ीन हो जाने पर कि वे बड़ी सड़क से ही स्टेशन पर गये हैं, मैंने इत्मीनान की सांस ली और चुपके से घर के अन्दर जा घुसा। मैंने पिता के भेड़ की खाल के कोट से सिर ढक लिया – मैं नहीं चाहता था कि कोई मेरे आंसू देखे।

इसके बाद तो गांव भर में जमीला की ख़ूब ही चर्चा हुई। लोगों ने जी भरकर इधर-उधर की हांकी, बेपर की उड़ायी। औरतें तो जमीला को भला-बुरा कहने में एक दूसरी से बाज़ी मारने की कोशिश करती –

"वह तो बिल्कुल सिरफिरी है। ऐसा अच्छा ख़ानदान छोड़कर उसने अपनी किस्मत को ठोकर मार दी है!"

"मेरी समझ में तो यही नहीं आता कि उसे उसमें नज़र ही क्या आया? ले-देकर फ़ौजी कोट और फटे-पुराने जूते ही तो उसकी दौलत है।"

"मेरी बात लिख लो, कुछ ही दिनों में उसका नशा उतर जायेगा और अक्ल ठिकाने आ जायेगी। मगर तब तो वह बस हाथ मल-मल के पछताती ही रह जायेगी।"

"यही तो मैं कहती हूं! सादिक़ में आख़िर किस चीज़ की कमी है? अच्छा ख़सम नहीं है या कमाऊ नहीं है? अरे, वह तो गांव का सबसे अच्छा जीगित है!"

"और सास? किसी ख़ुशनसीब को ही ऐसी सास मिलती है! ऐसी बाईबीचे पाने के लिए तो चिराग़ लेकर खोज करनी पड़ती है! बेवक़ूफ़ ने यों ही बैठे-बिठाये अपनी ज़िन्दगी बरबाद कर डाली है!"

जमीला – मेरी कुछ दिन पहले तक की भाभी – के बारे में भला-बुरा न कहनेवाला शायद सिर्फ़ मैं ही एक आदमी था। बेशक दनियार के पास पुराना फ़ौजी कोट और ख़स्ताहाल जूते थे, लेकिन मैं तो यह जानता था कि दनियार की आत्मा में जो बेशक़ीमत हीरे-मोती छिपे पड़े हैं, वे हममें से किसी के पास नहीं हैं। मैं यह विश्वास करने को तैयार न था कि जमीला दनियार के साथ दुखी रहेगी। मगर अपनी मां के लिए मेरा मन ज़रूर दुखता। जमीला क्या गयी कि जैसे उसकी कमर ही टूट गयी। उसमें वह पहले का-सा कस-बल ही बाक़ी न रहा। वह बड़ी लुटी-लुटी थकी-थकी-सी दिखाई देने लगी। मैं आज अपनी मां की परेशानी का राज़ समझ पा रहा हूं। क़िस्मत का एक झटका ही सारे बने-बनाये ताने-बाने को तार-तार कर सकता है। वह किसी तरह भी यह बात

अपने गले से नीचे उतारने को तैयार न थी। किसी फूले-फले पेड़ को अगर तूफ़ान जड़ से ही उखाड़ फेंके तो वह फिर कभी नहीं उठ पाता। कभी मेरी मां में इतना गर्व था कि किसी से सुई में धागा डाल देने के लिए कहना भी अपनी बेइज़्ज़ती समझती थी। मगर जब मैं एक दिन स्कूल से लौटा, तो देखा कि उसके हाथ कांप रहे है – सुई की नोक उसे नज़र न आ रही थी और उसकी आंखों से आंसू झर रहे थे।

"लो, ज़रा धागा तो डाल दो," उसने मुझसे कहा और गहरी सांस ली। "जमीला का अन्त अच्छा न होगा... आह, वह कैसी बढ़िया गृहिणी बनती! मगर वह तो चली गयी ...हमें छोड़कर चली गयी... पर वह गयी क्यों? क्या यहां वह कुछ बहुत ही बुरी रह रही थी?"

मेरा मन हुआ कि मां को बांहों में भर लूं, और उसे दिलासा दूं, उसे समझाऊं कि दनियार वास्तव में क्या था। मगर मेरी हिम्मत न हुई। यह कहकर तो मैंने उसके दिल को बड़ी ठेस लगायी होती।

फिर भी इस सारे क़िस्से में मेरी छोटी-सी भूमिका राज़ न बनी रह सकी।

जल्द ही सादिक़ घर लौट आया। जाहिर है कि उसे तो दुख होना ही था, हुआ भी। वैसे नशे में झूमते हए उसने ऊसमान से कहा –

"अच्छा ही हुआ, बला टली! वह तो कहीं सड़क किनारे ही दम तोड़कर पड़ी-सड़ती रहेगी। काफ़ी औरतें हैं रंगरलियां मनाने के लिए! औरों की तो ख़ैर बात ही क्या, किसी सुनहरे बालोंवाली को भी मैं तो किसी लुंजपुंज मर्द-बच्चे के क़ाबिल नहीं समझता हूं।"

"सोलह आने सही है!" ऊसमान ने जवाब दिया। "मुझे तो सिर्फ़ इसी बात का रंज है कि वह बदमाश मेरे हत्थे नहीं चढ़ा, वरना मैं तो वहीं उसकी गर्दन मरोड़ देता! और लड़की के बाल तो मैं अपने घोड़े की दुम के साथ बांध देता! वे शायद दक्षिण में, कपास के फ़ार्मों की तरफ़ या फिर कज़ाख़स्तान में चले गये हैं, जहां-तहां भटकना दनियार के लिए कोई नयी बात तो है नहीं! मगर मेरे दिमाग़ में तो यही बात नहीं घुस पा रही है – यह सब हुआ कैसे? किसी को कानों-कान भी तो ख़बर न हुई। कौन भला सपने में भी यह सोच सकता था? उस कुतिया ने यह सारी हेरी-फेरी अपने आप ही कर डाली! काश कहीं एक बार वह मेरे क़ाबू आ जाये!"

मेरा मन हुआ कि कहूं – "वहां खेत में तुम्हें जो मुंह की खानी पड़ी थी, तुम तो उसे कभी नहीं भूल सकते। कमीना कहीं का!"

एक दिन मैं घर पर बैठा हुआ स्कूल के दीवार-समाचारपत्र के लिए एक तस्वीर बना रहा था। मेरी मां अंगीठी से मत्था पच्ची कर रही थी। अचानक सादिक़ झपटता हुआ कमरे में पाया। उसके चेहरे का रंग फक था। तेज़ी से मेरी ओर बढ़ता हुआ वह गुस्से से आंखें मिचमिचा रहा था। उसने एक काग़ज़ मेरे सामने दे मारा।

"यह चित्र तुमने बनाया?"

मुझे तो सांप सूंघ गया। यह मेरा पहला रेखाचित्र था। काग़ज़ के उस टुकड़े से मेरी ओर देखते हुए दनियार और जमीला बिल्कुल सजीव लग रहे थे।

"हां।"

"यह कौन है?" काग़ज़ पर उंगली मारते हुए उसने पूछा।

"दनियार।"

"ग़द्दार!" सादिक़ चीख़ उठा। उसने तस्वीर के टुकड़े-टुकड़े कर डाले और ज़ोर से पांव पटकता हुआ बाहर चला गया। जाते-जाते उसने खटाक से दरवाज़ा बन्द किया।

लम्बी और तनावभरी चुप्पी के बाद मेरी मां ने पूछा –

"तुम्हें क्या सब कुछ मालूम था?"

"हां।"

वह अंगीठी का सहारा लेकर खड़ी थी। उसकी आंखों में गहरी निराशा और तिरस्कार की झलक थी। जब मैंने कहा – "मैं फिर से उनका चित्र बनाऊंगा!" मां उदासी से सिर हिलाकर रह गयी।

मैंने फ़र्श पर पड़े काग़ज़ के टुकड़ों की तरफ़ देखा। मेरे दिल को गहरी चोट लगी। मुझे महसूस हुआ कि जैसे मेरा दम घुट रहा है। ये लोग मुझे ग़द्दार समझते हैं, मेरी बला से। किससे मैंने ग़द्दारी की है? अपने ख़ानदान से? अपने रिश्तेदारों से? मगर मैंने सचाई से, हक़ीक़त से, उन दोनों की सचाई से तो ग़द्दारी नहीं की है! मैं यह सब कुछ कह न सकता था। कारण कि मेरी अपनी मां भी मेरे मन की बात न समझ सकती थी।

मेरी आंखों के सामने हर चीज़ घूमने-सी लगी। मुझे लगा कि काग़ज़ के वे टुकड़े सजीव हैं, कि वे फ़र्श पर हिल-डुल रहे हैं। काग़ज़ के टुकड़ों से अपनी ओर देखते हुए दनियार और जमीला की स्मृति में मैं कुछ ऐसे डूब-खो

गया कि मेरे कानों में दनियार का गीत गूंज उठा। वही गीत जो उसने अगस्त की उस चिरस्मरणीय रात में गाया था। फिर मेरी आंखों के सामने उनके गांव छोड़ते समय का चित्र उभरा। कोई तूफ़ानी चाह मुझे जीवन -पथ की तरफ़ धकेलने लगी। हां, मैं भी उन्हीं की तरह अपनी मंज़िल की तरफ़ बढ़ूंगा-दृढ़ता से, हिम्मत से। सुख की खोज में कंटीले मार्ग पर बढ़ूंगा।

"मैं पढ़ाई के लिए जाना चाहता हूं... पिता जी से कह देना कि मैं चित्रकार बनना चाहता हूं।" मैंने मां से कहा।

मुझे यक़ीन था कि वह मुझे कोसने लगेगी, आंखें भर लायेगी। लड़ाई में काम आनेवाले मेरे भाइयों की दुहाई देगी। मगर जब ऐसा कुछ न हुआ तो मैं हैरान ही रह गया। माँ ने धीरे से उदास होकर कहा –

"ठीक है ... अब तुम सब बड़े हो गये हो, सभी बच्चों के पंख निकल आये हैं ... तुम जहां और जिधर भी चाहो, उड़ान भर सकते हो ... तुम्हारे पंखों में कितनी ऊंची उड़ान भरने की शक्ति है, यह भला हम कैसे जान सकते हैं? शायद तुम ठीक ही रास्ता चुन रहे हो। ठीक है तो जाओ ... शायद वहां जाकर तुम अपना इरादा बदल लो। पेंसिल से लकीरें खींचना या कागज रंगना-रंगाना यह कोई काम का धन्धा नहीं है ... तुम पढ़-लिखकर ख़ुद ही यह जान लेना ... और हमें भुला न देना..."

उसी दिन छोटा घर हमसे अलग हो गया। जल्द ही मैंने पढ़ाई के लिए घर छोड़ दिया। बस, इतनी ही कहानी है।

चित्रकला-स्कूल का स्नातक होने के बाद अकादमी के लिए मेरी सिफ़ारिश की गयी। बरसों तक जो चित्र मेरे दिल-दिमाग़ पर छाया रहा था, वही मैंने डिप्लोमा पाने के लिए पेश किया।

यह चित्र क्या था, आप आसानी से इसका अनुमान लगा सकते हैं। यह जमीला और दनियार का ही चित्र था। पतझर के मौसम में वे स्तेपी को लांघते हुए आगे बढ़े जा रहे हैं। उनके सामने है फैला हुआ और उजला क्षितिज।

मेरा यह चित्र दोषहीन हो ऐसी बात नहीं है – आख़िर हाथ तो मंजते -मंजते मंजता है। मगर तो भी यह मुझे बहुत प्यारा है। इसी में तो मेरी पहली सच्ची सृजनात्मक अनुभूति निहित है।

कभी-कभी मुझे अपने काम से असन्तोष होने लगता है। ऐसी मुश्किल

घड़ियां भी आती हैं कि आत्मविश्वास साथ छोड़ता दिखाई देता है। ऐसे क्षणों में यही तस्वीर, दनियार और जमीला मेरा सहारा बनते हैं। मैं टकटकी बांधकर देर तक उन्हें देखता रहता हूं और हर बार उनसे बातें करता हूं—

"कहां हो तुम दोनों? कौनसी मंज़िलें तय कर रहे हो? कज़ाख़स्तान की स्तेपी में से गुज़रती हुई आलताई तथा साइबेरिया तक अब बहुत-सी नयी राहें बन गयी है। बहादुर लोग वहां काम कर रहे हैं। शायद तुम भी वहीं हो? मेरी जमीला, तुम ऐसी गयीं कि कभी मुड़कर भी नहीं देखा। शायद तुम थक गयी हो? शायद आत्मविश्वास तुम्हारा दामन छोड़ गया है? तुम दनियार का सहारा ले लो। उससे कहो कि वह तुम्हें सुनाये प्रेम, धरती और जीवन के रस में डूबा हुआ गीत! मैं कामना करता हूं कि स्तेपी के कण-कण में वही गीत झलक उठे। हर रंग और हर रूप में उस गीत का रस स्तेपी में फूटे, फूले-फले और महके! मेरी यही चाह है कि तुम्हें अगस्त की वह रात हमेशा-हमेशा याद रहे! तुम अपनी राह पर बढ़ती जाओ, जमीला! जो कुछ किया है, उसके लिए कभी हाथ न मलना, कभी न पछताना। तुमने अपनी ख़ुशी पा ली है, बहुत मुश्किल से मिलनेवाली ख़ुशी!"

मैं इन्हें देखता रहता हूं, और दनियार की आवाज़ गूंजने लगती है। वह तो जैसे पुकार-पुकारकर मुझे कहता रहता है — "चल दो!" मतलब यह कि अब मुझे सफ़र की तैयारी करनी चाहिये। मैं स्तेपी लांघकर अपने जन्म- स्थान, अपने गांव में पहुंचूंगा। वहां नये रंग मेरा स्वागत करेंगे।

यही कामना है कि मेरी तूलिका के हर स्पर्श में दनियार का गीत गूंजे! यही चाहता हूं कि मेरी तूलिका का हर स्पर्श जमीला के दिल की धड़कनों की दास्तान कहे!

पहला अध्यापक

मैं खिड़की खोल देता हूं। झरने के स्वच्छ प्रवाह की भांति हवा बह-बहकर कमरे में आने लगती है। धीरे-धीरे छनते हुए नीले धुंधलके में मैं अपने उस चित्र के ख़ाकों को, रेखांकनों को बड़े ध्यान से देखने लगता हूं, जिसे मैंने शुरू कर रखा है। ये रेखांकन, ये ख़ाके भारी संख्या में हैं, ... क्योंकि मैं अनेक बार इसे नये सिरे से शुरू कर चुका हूं। परन्तु समूचे तौर पर चित्र के बारे में निर्णय कर पाने का अभी वक़्त नहीं आया। मुझे अभी तक वह प्रमुख, चिर-वांछित तत्त्व नहीं मिल पाया, जो पलक मारते, अनिवार्य रूप से, उत्तरोत्तर बढ़ती हुई स्पष्टता के साथ, अकथनीय सूक्ष्मता के साथ, आत्मा की गहराइयों में उतर जाता है, वैसे ही जैसे ग्रीष्म ऋतु का यह प्रभात। पौ फटने से पहले की निस्तब्धता में मैं चहलक़दमी करता और अपने चित्र के बारे में सोचता रहता हूं। और यही कुछ हर बार होता है। और हर बार मुझे स्वीकार करना पड़ता है कि मेरा चित्र अभी तक मेरे मस्तिष्क में ही बसता है।

मुझे यह पसन्द नहीं कि काम पूरा होने से पहले ही उसकी चर्चा की जाये, अपने घनिष्ठ मित्रों से उसका जिक्र किया जाये; इसलिए नहीं कि अपने काम के बारे में मैं बहुत ईर्ष्यालु हूं — किन्तु इसलिए कि जो बच्चा अभी पालने में ही है, उसके बारे में कहना कठिन होता है कि वह बड़ा होकर कैसा निकलेगा। इसी भांति उस रचना के बारे में भी निर्णय करना बड़ा कठिन है, जो अभी तक अधूरी है। परन्तु अब की बार मैंने अपना नियम बदल लिया है। मैं खुल्लमखुल्ला उस चित्र के बारे में, जो अभी तक आंका नहीं गया है, अपने दिल की बात कह डालना चाहता हूं।

यह सनक नहीं है। मैं इसके अतिरिक्त कुछ कर भी नहीं सकता, क्योंकि मैं महसूस करता हूं। कि यह काम मुझ अकेले के बस का नहीं है। मुझे लगता है कि यह कहानी, जो मेरे अन्तर्तम को मथ रही है, जो मुझे तूलिका उठाने को मजबूर कर रही है, अत्यधिक विशाल है, इतनी विलक्षण कि मैं अकेला इसे

संभाल नहीं सकता। मैं डरता हूँ कि यह जाम कहीं छलक नहीं जाये। मैं चाहता हूं कि लोग मेरी सहायता करें, अपने परामर्श दे, मैं चाहता हूं कि बेशक अपनी कल्पना में ही वे फलक के पास मेरे साथ खड़े हों, कि वे भी मेरी भांति मानसिक हलचल अनुभव करें।

अपने हृदयों को उछेलित होने दीजिये, निकट आइये, मैं यह कहानी कहे बिना नहीं रह सकता...

हमारा कुरकुरेव गांव पहाड़ों के दामन में बसा है, जहाँ ठाठें मारती पहाड़ी नदिया अनेक दर्रों में से बहती है। गांव के नीचे एक सुनहरा मैदान दूर-दूर तक फैला है – विशाल कज़ाख़ स्तेपी – जिसकी सीमाओं को काले पहाड़ों की श्रेणियां और मैदान को पार करके क्षितिज के साथ-साथ पश्चिम की ओर जानेवाली रेलवे लाइन की अन्धियारी रेखा आंकती है।

गांव के ऊपर, एक टीले पर, पोपलार के दो विशालकाय पेड़ खड़े हैं। जिस दिन से मैने होश संभाला है, ये पेड़ मेरे स्मृति-पटल पर अंकित हैं। जिस किसी दिशा से हमारे गाँव की ओर जाओ, दोनों विशालकाय पेड़, सदा एक दूसरे की बग़ल में खड़े, प्रकाश-स्तम्भों की भांति नज़र आते हैं। या तो इस कारण कि बचपन के दिनों में मन पर अंकित होनेवाले प्रभाव मनुष्य को विशेष रूप से प्रिय होते हैं, या फिर शायद इसलिए कि मैं चित्रकार हूं – मेरे लिए इसकी व्याख्या करना कठिन है – हर बार रेलगाड़ी से उतरने के बाद स्तेपी को लांधकर गांव की ओर जाते हुए, मेरी आंखें बरबस अपने इन प्यारे पेड़ों को खोजने लगती हैं।

वे कितने ही ऊंचे क्यों न हों, और शायद इतनी दूरी से उन्हें फ़ौरन देख पाना संभव भी नहीं है, मगर मैं सदा उनकी उपस्थिति को महसूस कर लेता हूं, मुझे वे सदा नज़र आ जाते हैं।

कितनी ही बार, दूर-पार के इलाक़ों से कुरकुरेव को लौटते हुए, मैं बड़ी आतुरता से यह सोचता हूं कि क्या मैं शीघ्र ही उन जुड़वां पोपलार वृक्षों को देख पाऊंगा? इससे भी अधिक व्यग्रता के साथ मैं गांव में पहुंचना चाहता हूं कि जल्दी से जल्दी उस टीले पर पहुंचूं और पेड़ों के तनों के पास खड़ा रहकर पोपलार वृक्षों के पत्तों के अनन्त संगीत को सुन पाऊँ।

गांव में तरह-तरह के अनेकों पेड़ है, परन्तु इन पोपलार वृक्षों की अपनी विशेषता है – इनकी अपनी विशेष भाषा है और शायद इनकी विशिष्ट संगीतमय

आत्मा भी है। रात हो या दिन, जब भी यहां आओ, इनके शिखर निरन्तर हिलते हुए, पत्ते और टहनियां झुमती हुई, ये पोपलार के पेड़ सांय-सांय करते रहते हैं, इनका संगीत कभी थमता नहीं।

बाद में, बहुत-से साल बीत जाने पर मैं इन पोपलार वृक्षों का रहस्य समझ पाया। ऊंचे टीले पर खड़े, चारों ओर की हवाओं के प्रति उन्मुख, इन पोपलार वृक्षों को हवा के हल्के-हल्के झोंके भी उद्वेलित करते रहते हैं, उनका एक-एक पत्ता कांप-कांप जाता है।

इस सीधी-सादी हक़ीक़त के जाहिर हो जाने से मैं निराश नहीं हुआ हूं, हृदय पर अंकित बचपन की वह अनुभूति आज तक ज्यों की त्यों बनी है। ये दोनों पोपलार वृक्ष मेरे लिए आज भी विलक्षण है – मानो वे सप्राण और सजीव हों। वहां, उनके निकट, मेरा बचपन जैसे हरे रंग के कांच के अद्भुत टुकड़े की भांति पड़ा रह गया था...

गर्मी की छुट्टियां शुरू होने से पहले, पढ़ाई के आख़िरी दिन, हम लड़के यहां पक्षियों के घोंसले तोड़ने चले आते थे। शोर-गुल मचाते, सीटियां बजाते, हर बार जब हम टीले पर भागते हुए चढ़ते, तो विशालकाय, झुलते हुए पोपलार अपने शीतल साये और प्यार भरी सरसराहट के साथ हमारा स्वागत करते। और हम, मनचले लड़के, नंगे पांव, एक दूसरे का सहारा लेते हुए टहनियों और डालों को पकड़-पकड़कर, हाथों और पैरों के बल पेड़ों पर चढ़ जाते। पक्षियों के राज्य में हलचल मच जाती। ची-चीं करते हुए पक्षियों के झुण्ड हमारे ऊपर से उड़ जाते, लेकिन हम इस सबकी ओर कोई ध्यान नहीं देते थे। उल्टे हम ऊपर ही ऊपर चढ़ते जाते, कौन अधिक साहसी है, कौन अधिक फुरतीला। और सहसा उस गगन चुम्बी शिखर से, पक्षियों की उड़ान की ऊंचाई से हमारी आंखों के सामने मानो जादू की छड़ी से, प्रसार और प्रकाश का अद्भुत संसार खुल जाता।

पृथ्वी की महिमा के सामने हम मन्त्रमुग्ध से रह जाते, अपनी-अपनी टहनियों-शाख़ों पर बैठे हम दम साध लेते, पक्षियों और उनके घोंसलों को भूल जाते। यहां से हमें सामूहिक फ़ार्म का अस्तबल, जिसे हम संसार सबसे बड़ी इमारत समझते थे, साधारण-सी कोठरी नज़र आता। गांव के पीछे अछूती स्तेपी का अनन्त प्रसार फैलता हुआ धुन्धलके में खो जाता था। हम उसकी नीलिमा से ढकी दूरियों में जहां तक नज़र जाती आंखें फाड़-फाड़कर देखा करते और

हमें धरती के अनेकानेक क्षेत्र नज़र आते, जिनके अस्तित्व की पहले हम कल्पना तक नहीं करते थे, ऐसी नदियां नज़र आतीं, जिनके बारे में हम पहले कुछ भी नहीं जानते थे। क्षितिज पर नदियां चांदी के बारीक धागों की भांति झिलमिलातीं। पोपलार वृक्षों पर बैठे हुए हम सोचा करते – क्या यह दुनिया का छोर है या इसके आगे भी ऐसा ही आकाश है, ऐसे ही बादल है, स्तेपी और नदियां है? पोपलार वृक्षों पर बैठे हम ऊंचाइयों पर बहनेवाली हवाओं की अलौकिक ध्वनियां सुनते और जवाब में पेड़ों के पत्ते बड़े मैत्रीपूर्ण ढंग से फुसफुसाते। हमें लगता जैसे वे उन लुभावने, रहस्यपूर्ण प्रदेशों की चर्चा कर रहे हैं, जो नीलिमा से ढकी दूरियों के पीछे छिपे हुए हैं। मैं पोपलार वृक्षों की सांय-सांय सुनता रहता और मेरा दिल भय और आह्लाद से धक-धक् करने लगता। पोपलारों की इस अन्तहीन सरसराहट पर मैं उन अजनबी दूरियों का स्वप्न देखा करता। परन्तु एक बात के बारे में मैंने उन दिनों कभी नहीं सोचा था। वह यह कि किसने यहां ये पेड़ लगाये थे। उसके मन में क्या था, उसके ओंठों पर कौनसे शब्द थे, जब उसने पेड़ों को रोपा था, किन आशाओं को दिल में लिए हुए उसने यहां, पहाड़ी पर, इन्हें पाल-पोसकर बड़ा किया था?

हमारे गांव में इस टीले को, जहां ये पोपलार खड़े हैं, किसी कारण "दूइशेन का स्कूल" नाम से पुकारा जाता था। मुझे याद है, अगर कभी किसी का घोड़ा खो जाता और वह उसे खोजता हुआ किसी राह-जाते से पूछता – "सुनो तो, तुमने मेरा कुम्मैती घोड़ा तो कहीं नहीं देखा है?" तो उसे अक्सर यही जवाब मिलता, "वहां, दूइशेन के स्कूल के पास, रात को घोड़े चर रहे थे, वहां जानो, मुमकिन है तुम्हें वहां अपना घोड़ा भी मिल जाये।" बड़ों की नक़ल करते हुए छोटी उम्र के हम छोकरे बिना सोचे-समझे दोहराया करते – "आओ, दोस्तो, दूइशेन के स्कूल को चलें, पोपलार के पेड़ों पर चढ़कर चिड़ियों को उड़ायें!"

सुनते थे कि किसी ज़माने में इस टीले पर एक स्कूल हुआ करता था। हमने उसका नाम-निशान तक नहीं देखा। बचपन में मैने बड़ी कोशिश की कि कहीं उसके खण्डहर ही देख पाऊं, इसके लिए मैं बहुत घूमता फिरा, पर मुझे कुछ भी नज़र नहीं आया। फिर मुझे यह बात बड़ी अजीब सी लगती थी कि एक हरियालीहीन टीले को "दूइशेन का स्कूल" का नाम दिया जाये। बाद में मैंने बड़े-बूढ़ों से पूछा कि यह दूइशेन कौन था। एक बुजुर्ग ने लापरवाही से हाथ झटककर कहा, "दूइशेन कौन था? वही जो अभी भी यहां रहता है,

लंगड़ी भेड़ वालों की औलाद! बहुत मुद्दत पहले वह युवा कम्युनिस्ट लीग का सदस्य हुआ करता था। टीले पर तब एक टूटा-फूटा बाड़ा था। दूइशेन ने वहां एक स्कूल खोला था, बच्चों को पढ़ाया करता था। वह क्या कोई स्कूल था? केवल नाम से ही स्कूल था। वे दिन भी ख़ूब थे! तब जो कोई घोड़े की पीठ पर बैठ, रकाब में पांव रख लेता, वही संचालक बन बैठता। दूइशेन भी ऐसा ही आदमी था। जो मन में आता, वही करता। अब तो उस बाड़े की एक ईंट भी नहीं बच पायी है, हां, उसका नाम जरूर बच रहा है..."

दूइशेन को मैं बहुत कम जानता था। मुझे याद है, वह अधेड़ उम्र का, ऊंचा-लम्बा, बेडौल-सा आदमी था, उक़ाब जैसी उसकी भौंहें लटकती रहती थीं। उसका घर नदी के उस पार, दूसरे ब्रिगेड की सड़क पर था। जिन दिनों मैं गांव में रहा करता था, वह सामूहिक फ़ार्म में मीर-आब का काम करता था। वह बहुत कम नज़र आता, सारा वक्त खेतों में ही खोया रहता था। कभी-कभी दूइशेन घोड़े पर सवार हमारी गली में से गुज़रता, बड़ी-सी कुदाल उसकी ज़ीन से बंधी रहती थी; उसका घोड़ा भी अपने मालिक ही की तरह हड़ियल और पतली टांगोंवाला था। फिर दूइशेन बूढ़ा हो गया और कहते हैं, वह डाकिये का काम करने लगा। लेकिन यह तो मैंने प्रसंगवश कहा है। बात दर असल दूसरी है। उस ज़माने के बारे में मेरी धारणा यह थी कि एक कोम्सोमोल सदस्य काम में बड़ा जोशीला, ज़बान का धनी, गांव में सबसे सरगर्म आदमी हुआ करता था, जो सभाओं में भाषण देता और अख़बार में कामचोरों और लुटेरों के बारे में लेख लिखता। मैं इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकता था कि यह दढ़ियल, चप्पा-सा आदमी कभी कोम्सोमोली रहा होगा और सबसे ज़्यादा हैरानी की बात कि बच्चों को पढ़ाया करता होगा, जब कि वह खुद बहुत कम पढ़ा हुआ था। यह कैसे हो सकता था? मेरे दिमाग़ में यह बात नहीं बैठती थी। साफ़-साफ़ कहूं तो मैंने समझा कि यह भी उन क़िस्से-कहानियों में से एक होगी, जो हमारे गांव में बहुत प्रचलित हैं। लेकिन जो बात निकली, वह क़िस्सा-कहानी जैसी नहीं थी...

पिछले साल पतझड़ के दिनों में मुझे गांव से एक तार मिला। मेरे हमवतनों ने मुझे नये स्कूल के उद्घाटन समारोह में भाग लेने के लिए आमन्त्रित किया था। यह स्कूल सामूहिक फ़ार्म ने अपने साधनों से खड़ा किया था। मैंने फ़ौरन जाने का फ़ैसला कर लिया। यह मुमकिन नहीं था कि ऐसे आह्लादपूर्ण अवसर

पर मैं घर बैठा रहूं। बल्कि मैंने वहां कुछेक दिन पहले जाने का निश्चय किया। मैंने सोचा, मैं वहां घूमं-फिरूंगा, कुछ देखूंगा, नये रेखाचित्र तैयार करूंगा। पता चला कि आमन्त्रित किये गये मेहमानों में से अकादमीशियन सुलैमानोवा की भी प्रतीक्षा की जा रही है। मुझे बताया गया कि वह दो-एक दिन वहां ठहरेगी और वहीं से सीधे मास्को चली जायेगी।

मैं जानता था कि यह महिला, जिसने इस समय इतनी ख्याति प्राप्त कर ली है, बचपन में हमारे ही गांव से शहर गयी थी। चूंकि मैं खुद भी शहर में रहता था, इसीलिए मेरी उससे जान-पहचान हुई। वह बड़ी उम्र की थी, शरीर गदरा गया था, ख़ूब कसकर काढ़े हुए बालों में सफ़ेद बालों की झलक मिलती थी। हमारे ही गांव की यह प्रतिष्ठित महिला विश्वविद्यालय में एक विभाग की संचालिका थी, दर्शनशास्त्र पढ़ाती थी, अकादमी में काम करती थी और अक्सर विदेशों में जाती रहती थी। वह बहुत ही व्यस्त रहती, इसलिए मुझे उसे निकट से जानने का अवसर नहीं मिला, परन्तु फिर भी जब कभी हम मिलते, वह ज़रूर हमारे गांव के जीवन की गतिविधि के बारे में पूछा करती और मेरी रचनाओं के बारे में भी दो-एक शब्द अवश्य कहा करती। एक बार मैंने उससे कहा –

"आल्तीनाई सुलैमानोव्ना, यदि आप कभी गांव का चक्कर लगायें, तो बहुत अच्छा हो। अपने हमवतनों से मिलिये। वहां सभी लोग आपको जानते हैं, आपपर उन्हें बड़ा नाज़ है। पर वे केवल सुनी-सुनायी बातों के आधार पर ही आपको जानते हैं। वे कहते हैं कि लगता है हमारी प्रसिद्ध वैज्ञानिक महिला अपने गांव का रास्ता भूल गयी है, हमसे दूर रहना चाहती है।"

"ठीक है," आल्तीनाई सुलैमानोव्ना ने जवाब दिया, एक अवसादपूर्ण मुस्कान उसके होंठों पर आयी। "मैं खुद बड़ी मुद्दत से कुरकुरेव जाने के स्वप्न देख रही हूं, एक युग बीत गया वहां गये हुए। यह सच है कि मेरे अपने सगे-सम्बन्धी गांव में नहीं हैं। पर बात यह नहीं। मैं ज़रूर जाऊंगी, मुझे ज़रूर वहां जाना है, अपनी जन्म-भूमि को देखने के लिए मेरा भी दिल तड़पता है।"

समारोह के दिन अकादमीशियन सुलैमानोवा गांव में देर से पहुंची। स्कूल में जलसा बस शुरू होने ही वाला था। सामूहिक किसानों को खिड़की में से उसकी मोटर नज़र आ गयी और वे सबके सब सड़क पर आकर जमा हो गये। परिचित और अपरिचित, बूढ़े और बच्चे – सभी उससे हाथ मिलाने के लिए

उत्सुक थे। शायद आल्तीनाई सुलैमानोव्ना को ऐसे स्वागत की आशा नहीं थी और मुझे लगा कि वह कुछ घबरा रही थी। छाती पर दोनों हाथ रखे उसने झुक-झुककर लोगों का अभिवादन किया और बड़ी मुश्किल से मंच तक पहुंच पायी, जहां अध्यक्ष-मण्डल था।

जीवन में एक बार नहीं, अनेकों बार ऐसी घड़ियां आयी होंगी, जब उसने छोटे-बड़े जलसों, सम्मेलनों और कांग्रेसों में भाग लिया होगा और उसका आदर-सत्कार किया गया होगा, परन्तु यहां, साधारण ग्रामीण स्कूल में, हमवतन लोगों की हार्दिकता के कारण वह बहुत ही भावोद्वेलित और उत्तेजित हुई और अपने आंसुओं को छिपाने की कोशिश करती रही, जो उसकी आंखों में बरबस उमड़ रहे थे।

सभा की समाप्ति पर पायनियरों ने अपनी प्रिय अतिथि के गले में लाल पायनियर टाई बांधी, उसे फूल भेंट किये और उसके नाम से नये स्कूल की सम्मान-पुस्तक खोली। उसके बाद स्कूल की शौक़िया कलामण्डली ने कान्सर्ट प्रस्तुत की, जो बड़ी दिलचस्प और सजीव रही। इसके बाद स्कूल के डायरेक्टर ने हम सबको– अतिथियों, अध्यापकों और सामूहिक फ़ार्म के सरगर्म कारकुनों को अपने यहां आमन्त्रित किया।

वहां और भी ज़्यादा उत्साह के साथ आल्तीनाई सुलैमानोव्ना का आदर-सत्कार किया गया। उसे सबसे सम्मानपूर्ण स्थान पर बिठाया गया, जिसे क़ालीनों से सजाया गया था, प्रत्येक व्यक्ति उसके प्रति अपना आदरभाव व्यक्त करना चाहता था। जैसा कि अक्सर ऐसे अवसरों पर होता है, शोर बहुत था, लोग बड़े जोश-ख़रोश के साथ बातें कर रहे थे, सेहत के जाम पर जाम पिये जा रहे थे। उसी समय गांव का एक लड़का आया और मेज़बान के हाथ में तारों का एक पुलिन्दा दिया। लोग तार पढ़ने लगे – स्कूल के भूतपूर्व विद्यार्थियों ने स्कूल के उद्घाटन पर अपने हमवतनों को बधाई के संदेश भेजे थे।

डायरेक्टर ने पूछा –

"सुनो, क्या ये तार बूढ़ा दूइशेन लाया है?"

"जी हां," लड़के ने जवाब दिया। "कहता है रास्ता भर घोड़े को चाबुक मारता रहा हूं, चाहता था कि सभा के समय पहुंच पाऊँ ताकि तार लोगों के सामने पढ़कर सुनाये जा सकें। पर आक़साक़ाल को थोड़ी देर हो गयी, बहुत दुःखी है।"

"पर वह बाहर क्यों खड़ा है, उसे अन्दर बुला लाओ!"

लड़का दूइशेन को बुलाने बाहर चला गया। आल्तीनाई सुलैमानोव्ना, जो मेरे पास बैठी थी, किसी कारण चौंकी और कुछ अजीब से ढंग से मानो सहसा उसे कुछ याद आ गया हो, मुझसे पूछने लगी –

"यह दूइशेन कौन है, जिसके बारे में बात कर रहे हैं?"

"सामूहिक फ़ार्म का डाकिया है, आल्तीनाई सुलैमानोव्ना। क्या आप बूढ़े दूइशेन को जानती हैं?"

उसने अनिश्चित ढंग से सिर हिलाया, फिर कुर्सी पर से उठने की कोशिश की, पर ऐन उसी वक़्त खिड़की के पास से घोड़े की चाप सुनाई दी और लड़के ने लौटकर मेज़बान से कहा –

"मैंने कहा, लेकिन वह नहीं रुका – उसे अभी और चिट्ठियां बांटनी है।"

"बांटने दो, उसे रोकने की क्या ज़रूरत है। वह बाद में अपने बुढ़ऊ साथियों के साथ ही बैठेगा," किसी ने बड़बड़ाकर कहा।

"वाह, आप दूइशेन को नहीं जानते। बड़ा क़ानूनी आदमी है। जब तक काम पूरा न कर ले, पानी तक नहीं पियेगा," दूसरा बोला।

"ठीक है, अजीब आदमी है। जंग के बाद अस्पताल से निकलकर उक्रइना में पड़ा रहा। अब पांच साल हुए यहां लौटा है। कहता है, बुढ़ापे में अपने वतन में मरने के लिए आया हूँ। सारी ज़िन्दगी निपट अकेला रहा और अब भी अकेला है..."

"ठीक है, अच्छा होता अगर वह अन्दर आ जाता, लेकिन जो नहीं आया, तो कोई बात नहीं," मेजबान ने हाथ हिलाकर कहा और गांव के एक सम्मानित व्यक्ति ने, जो क़ालीन पर दस्तरख़ान के सिरे पर बैठा था, अपना जाम उठाया–

"साथियो, ज़माना था जब हम दूइशेन के स्कूल में पढ़ा करते थे, अगर किसी को याद हो; और दूइशेन खुद वर्णमाला के सभी अक्षर तक नहीं जानता था," कहते हुए उसने पलकें मूंदकर सिर हिलाया। उसके चेहरे पर विस्मय और व्यंग की झलक थी।

"ठीक है, सचमुच ऐसा ही था," जवाब में कुछेक आवाज़ें आयीं।

सभी लोग हंस पड़े।

"कहने को है ही क्या! और कौनसा ऐसा काम था, जिसमें उन दिनों दूइशेन ने टांग न अड़ायी हो। हम लोग, हम भी तो उसे सचमुच अध्यापक समझते थे।"

जब हंसी-मज़ाक़ कुछ थमा, तो उस व्यक्ति ने, जिसने जाम उठा रखा था, अपनी बात जारी रखते हुए कहा –

"और अब लोग हमारे देखते ही देखते कहां के कहां पहुंच गये हैं। अकादमीशियन आल्तीनाई को सारा देश जानता है। लगभग हम सभी ने माध्यमिक शिक्षा प्राप्त की है और बहुत-से इससे भी ज़्यादा तालीम पा चुके हैं। आज हमने अपने यहां नया माध्यमिक स्कूल खोला है। इसी एक तथ्य से पता चल जाता है कि ज़िन्दगी कितनी बदल गयी है। तो आइये, हमवतनो, कुरकुरेव के बेटों-बेटियों के नाम पर जाम पियें। हमारी कामना है कि वे अपने ज़माने के सबसे अग्रणी लोग बनें!"

एक बार फिर वाह-वाह हुई, सभी ने एकस्वर से उक्त शब्दों का समर्थन किया, केवल आल्तीनाई सुलैमानोव्ना के चेहरे पर लाली दौड़ गयी, वह विचलित-सी हो गयी, अपने में सिमट गयी और जाम को होंठों से केवल छू भर दिया। समारोह की ख़ुशी और बातचीत के शोर में लोगों का उसके चेहरे की तरफ ध्यान नहीं गया।

आल्तीनाई सुलैमानोव्ना ने कई बार घड़ी की ओर देखा। बाद में, जब मेहमान सड़क पर आ गये, तो मैंने देखा कि वह सभी लोगों से हटकर सिंचाई-नहर के पास खड़ी एकटक टीले की ओर देख रही थी, जहां पतझड़ में लाल हुए पत्तोंवाले पोपलार हवा में झूम रहे थे। दूर, धुंधलके में खोयी, स्तेपी की बैंगनी सीमारेखा पर सूरज डूब रहा था। अस्तप्राय सूर्य के कान्तिहीन प्रकाश में टीले पर खड़े पोपलारों के शिखर म्लान, अवसादपूर्ण, नील-लोहित आभा से ढके थे।

मैं आल्तीनाई सुलैमानोव्ना के पास गया।

"इस समय इनके पत्ते झड़ रहे हैं। इन्हें तो वसन्त में देखते बनता है, जब इनपर बौर आता है," मैंने कहा।

"मैं भी यही सोच रही हूं," गहरी सांस लेकर आल्तीनाई सुलैमानोव्ना ने कहा और फिर धीरे-से बुदबुदायी मानो अपने आपसे बातें कर रही हो, "हर जीवधारी का अपना वसन्त और अपना पतझड़ होता है।"

उसके मुरझाये हुए चेहरे पर, जहां आंखों के इर्द-गिर्द हल्की-हल्की झुर्रियों

का जाल बिछा था, अवसादपूर्ण और गहरी चिन्ता की छाया दौड़ गयी। वह बहुत ही स्त्री-सुलभ ढंग से पोपलार वृक्षों की ओर देखे जा रही थी। आंखों में पश्चात्ताप का भाव था। सहसा मैंने देखा कि मेरे सामने अकादमीशियन सुलैमानोवा नहीं, बल्कि एक बिल्कुल ही साधारण क़िर्ग़ीज़ नारी खड़ी है, जो अपनी ख़ुशी और गम में सहज और निष्कपट बनी रहती है। लगता था जैसे इस स्त्री-वैज्ञानिक को अपनी जवानी के दिन याद हो आये हैं। जैसा कि हमारे गीतों में गाया जाता है – पहाड़ की ऊंची से ऊंची चोटी पर से भी बीती जवानी को पुकारो, तो लौटकर नहीं आती। लगता था जैसे पोपलारों की ओर देखते हुए वह कुछ कहना चाहती थी, पर बाद में शायद उसने अपना विचार बदल लिया और झट से आंखों पर चश्मा चढ़ा लिया, जिसे वह हाथ में पकड़े हुए थी।

"मास्को जानेवाली गाड़ी शायद ग्यारह बजे यहां से गुज़रती है?"

"हां, रात के ग्यारह बजे।"

"तब तो मुझे जाने की तैयारी करनी चाहिए।"

"इतनी जल्दी क्यों? आल्तीनाई सुलैमानोव्ना, आपने तो वचन दिया था कि आप कुछेक दिन यहां रहेंगी, लोग आपको जाने नहीं देंगे।"

"नहीं, मुझे बहुत ज़रूरी काम है। मुझे अभी जाना होगा।

लोगों ने उसे बहुत मनाने की कोशिश की, नाराज़ भी हुए, लेकिन आल्तीनाई सुलैमानोव्ना टस से मस न हुई, इसी बात की रट लगाये रही। कि उसे ज़रूरी काम है।

शाम के साये घिरने लगे। गांव के लोग, जो मन ही मन क्षुब्ध हुए थे, उसे मोटर तक छोड़ने आये, उससे वचन लिया कि वह दूसरी बार यहां कम से कम एक हफ़्ते तक रहेगी। मैं आल्तीनाई सुलैमानोव्ना को स्टेशन तक पहुंचाने गया।

आल्तीनाई सुलैमानोव्ना ने क्यों इतनी जल्दी चले जाने का निश्चय किया? अपने हमवतनों को यों नाराज़ करना और वह भी ऐसे अवसर पर मुझे बिल्कुल नासमझी की बात लगी। रास्ते में मैंने कई बार उससे इस बारे में पूछना चाहा, लेकिन साहस नहीं बटोर पाया। इस डर से नहीं कि ऐसा करने से बेअदबी ज़ाहिर होगी, बल्कि इसलिए कि मैं समझता था कि वह अपने दिल की बात किसी से भी नहीं कहेगी। सारा रास्ता वह चुपचाप बैठी रही और किसी गहरी सोच में डूबी रही।

स्टेशन पर मैंने आखिर पूछ ही लिया –

"आल्तीनाई सुलैमानोव्ना, न जाने क्यों आप उदास लग रही हैं, क्या हमसे कोई भूल हुई है?"

"हाय क्यों, ऐसा सोचिये भी मत! मैं क्यों नाराज़ होऊंगी? अगर नाराज़ हो सकती हूं, तो केवल अपने से। हां, अपने से नाराज़ हो सकती थी।"

आल्तीनाई सुलैमानोव्ना चली गयी। मैं शहर लौट आया और कुछेक दिन बाद अचानक ही मुझे उसका एक पत्र मिला। उसने सूचना दी कि मास्को में जितने दिन के लिए उसे रुकने की आशा थी, उससे ज़्यादा देर तक रुकना पड़ रहा है। उसने लिखा था, "मुझे बहुत-से ज़रूरी और फ़ौरी काम करने हैं, फिर भी मैंने सब काम छोड़कर आपको यह पत्र लिखने का निश्चय किया है... मेरा आपसे साग्रह अनुरोध है कि जो कुछ मैं यहां लिखूं अगर आपको रुचिकर लगे, तो आप इसे लोगों तक पहुंचाने के साधन के बारे में विचार कीजिये। मैं समझती हूं कि इसकी न केवल हमारे हमवतन ग्रामवासियों को ही, बल्कि जनता को भी ज़रूरत है, विशेष रूप से युवक-युवतियों को। मैं बड़े सोच-विचार के बाद इस नतीजे पर पहुंची हूं। लोगों के सामने मैं अपनी आप-बीती कह रही हूं। मुझे अपना ऋण चुकाना होगा। जितने अधिक लोगों को इसका पता चलेगा, उतना ही कम मैं सन्ताप की आग में जलूंगी। मुझे कठिन परिस्थिति में डालने से घबराइये नहीं। कुछ भी मत छिपाइये..."

कई दिन तक मेरे मन पर उसका वह पत्र जैसे छाया रहा। और मैं सोचता हूं, यही सबसे उचित होगा कि मेरी कहानी को स्वयं आल्तीनाई सुलैमानोव्ना के मुंह से ही जारी रखा जाये।

यह घटना 1924 में घटी थी, हां, उसी साल...

उस जगह पर जहां इस समय हमारा सामूहिक फ़ार्म खड़ा है, उन दिनों ग़रीबों की एक छोटी-सी बस्ती हुआ करती थी। उस समय मेरी उम्र चौदह बरस की थी। मैं एक अनाथ लड़की थी और अपने सम्बन्धियों के पास, अपने पिता के चचेरे भाई के यहां रहा करती थी।

उस साल पतझड़ के दिनों में जब बहुत-से धनी लोग पहाड़ों पर अपने शिशिर-पड़ाव डालने के लिए जा चुके थे, हमारी बस्ती में एक अपरिचित-सा युवक आया, जिसने फ़ौजियों का ग्रेटकोट पहन रखा था। मुझे यह ग्रेटकोट याद

है, क्योंकि वह न जाने क्यों काले रंग की बनात का बना था। इस व्यक्ति का सरकारी ग्रेटकोट में प्रगट होना हमारे गांव के लिए, जो शाहराह से दूर, पहाड़ों के दामन में बसा हुआ था, एक बहुत बड़ी घटना थी।

पहले तो यह दावे के साथ कहा गया कि वह फ़ौज में कमांडर था, इसलिए बस्ती में संचालक बनेगा। बाद में पता चला कि वह कोई कमांडर नहीं रहा था, बल्कि उसी ताश्तानबेग का बेटा था, जो अकाल के ज़माने में ही बहुत साल पहले रेलवे में काम करने के लिए चला गया था और कहीं खो गया था। और जान पड़ता था उसके बेटे दूइशेन को स्कूल खोलने और बच्चों को पढ़ाने के लिए गांव में भेजा गया था।

उन दिनों "स्कूल" और "पढ़ाई" जैसे शब्द बिल्कुल नये थे और लोगों की समझ के परे थे। कोई इन अफ़वाहों पर विश्वास करता, तो कोई उन्हें कपोल-कल्पना कहकर उड़ा देता, और हो सकता है स्कूल की बात लोगों को बिल्कुल ही भूल जाती, अगर एक दिन सहसा सभा न बुलायी गयी होती। मेरा चचा बड़ी देर तक बड़बड़ाता रहा, "यह भी ऐसी-वैसी ही सभा होगी, छोटी-छोटी बात पर लोगों का वक़्त बर्बाद करते रहते हैं।" परन्तु बाद में उसने हर स्वाभिमानी पुरुष की भांति अपने घोड़े पर ज़ीन कसा और सभा में भाग लेने के लिए चल दिया। पास-पड़ोस के लड़के-लड़कियों के साथ मैं भी हो ली।

जिस समय हम लोग हांपते हुए टीले पर चढ़े, जहां अक्सर सभाएं हुआ करती थीं, तो सभा की कार्रवाई चल रही थी। पैदल और घोड़ों पर सवार लोगों की भीड़ के सामने वही काले ग्रेटकोट और पीले चेहरे वाला युवक टीले पर खड़ा भाषण दे रहा था। हमतक उसकी आवाज़ नहीं पहुंच रही थी। हम और निकट जाने ही वाले थे कि उसी समय फटे-पुराने कपड़े पहने एक बुढ़ऊ मानो सहसा होश में आकर उसकी बात काटते हुए बोला –

"सुनो बेटा," उसने हकलाकर कहना शुरू किया, "पहले मुल्ला लोग बच्चों को पढ़ाया करते थे। हम तुम्हारे बाप को जानते हैं, वह भी हम जैसा ही ग़रीब फटेहाल आदमी था। अब ज़रा मेहरबानी करके बता तो तू कहां से मुल्ला बन बैठा है?"

दूइशेन झट से उसकी ओर मुख़ातिब हुआ –

"मैं मुल्ला नहीं हूं, आक़साक़ाल, मैं कोम्सोमोल सदस्य हूं। अब बच्चों को

मुल्ला लोग नहीं, अध्यापक पढ़ाया करेंगे। मैंने फ़ौज में पढ़ना सीखा था और इससे पहले भी मैंने थोड़ी-बहुत पढ़ाई की थी। ऐसा ही मुल्ला हूं मैं।"

"हुं, यह बात है..."

"शाबाश!" प्रशंसा की आवाज़ें आयीं।

"युवा कम्युनिस्ट लीग ने मुझे आपके बच्चों को पढ़ाने के लिए भेजा है। इसके लिए हमें किसी न किसी मकान की ज़रूरत है। मैं सोचता हूं कि आपकी सहायता से ज़रूर स्कूल का प्रबन्ध इस टीले वाले वीरान अस्तबल में किया जा सकता है। इस बारे में आपकी क्या राय है, भाइयो?"

लोग असमंजस में पड़ गये , मानो वे मन ही मन अनुमान लगा रहे हों कि यह बाहर का आदमी न जाने क्या चाहता है, उसका मक़सद क्या है। इस चुप्पी को झगड़ालू सातिमकूल ने तोड़ा – उसके अड़ियलपन के कारण लोगों ने उसका यही नाम रख छोड़ा था। काफ़ी देर से वह ज़ीन पर कोहनी टिकाये बातचीत सुन रहा था और कभी-कभी दांतों के बीच से थूक रहा था।

"ठहरो, छोकरे," सातिमकूल ने आंखें सिकोड़ते हुए कहा, मानो निशाना साध रहा हो, "बताओ तो, हमें इसकी, इस स्कूल की क्या ज़रूरत है?"

"क्या ज़रूरत है?" दूइशेन इस सवाल से चकराया।

"ठीक ही तो है!" भीड़ में से किसी ने आवाज़ उठाई और एकाएक हलचल-सी मच गयी, लोग ज़ोर-ज़ोर से बोलने लगे।

"हम किसान है, मेहनत करके ज़िन्दगी बसर करते हैं, हमारी कुदाल हमें रोटी देती है। हमारे बच्चे भी इसी तरह ज़िन्दगी बसर करेंगे। उन्हें पढ़ने-लिखने की कोई ज़रूरत नहीं है। पढ़ाई की ज़रूरत होती है अफ़सरों-अधिकारियों को, हम तो सीधे-सादे लोग हैं। हमें उल्टे-सीधे फेर में नहीं डालो!"

शोर कुछ थमा।

हक्का-बक्का दूइशेन लोगों के चेहरों की ओर एक-टक देख रहा था, सारी बात अभी तक उसकी समझ में नहीं आ पायी थी – "क्या सचमुच आप लोग बच्चों की तालीम के ख़िलाफ़ हैं?"

"अगर ख़िलाफ़ हैं, तो क्या तुम हमारे साथ ज़बरदस्ती करोगे? वह ज़माना लद चुका है। अब हम आज़ाद हैं, जैसा चाहेंगे वैसा जीवन बितायेंगे!"

दूइशेन के चेहरे का रंग उड़ गया। कांपती उंगलियों से ग्रेटकोट के अंकुड़े

तोड़कर उसने फ़ौजी कमीज़ की जेब में से एक कागज़ निकाला, जो चौहरी तय में रखा हुआ था, जल्दी से उसे खोला और ऊंचा हिलाते हुए बोला –

"मतलब यह कि आप लोग इस फ़रमान के ख़िलाफ़ हैं, जिसमें बच्चों की तालीम के बारे में लिखा गया है, जिसपर सोवियत सत्ता की मुहर लगी है? उस सोवियत सत्ता की, जिसने आपको ज़मीन दी है, पानी दिया है, आज़ादी दी है? कौन सोवियत कानूनों का विरोध करता है? कौन है वह? जवाब दो!" उसने "जवाब" शब्द इतने ज़ोर के साथ, इतनी गूंजती क्रोधभरी आवाज़ में कहा कि इस शब्द ने गोली की आवाज़ की तरह पतझड़ के मौन को भंग कर दिया और गोली की आवाज़ की तरह ही चट्टानों में हल्की-सी गूंज उठी। किसी के मुंह से एक शब्द भी नहीं निकला। लोग चुपचाप सिर झुकाये खड़े रहे।

"हम गरीब किसान हैं," अब की बार दूइशेन ने धीमी आवाज़ में कहा, "हमें हमेशा रौंदा गया है, हमेशा हमारा अपमान किया गया है। अब सोवियत सत्ता चाहती है कि हम आंखें खोलें, लिखें-पढ़ें। और इसके लिए ज़रूरत है बच्चों को पढ़ाने की..."

जवाब के इन्तज़ार में दूइशेन चुप हो गया। तब वही फटे-पुराने कोट वाला आदमी, जिसने उससे सवाल किया था कि वह मुल्ला कब से बन बैठा है, सुलहकुन आवाज़ में बुदबुदाया –

"ठीक है, अगर तुम यही चाहते हो, तो पढ़ाओ, हमारी बला से...हम कानून के खिलाफ़ नहीं हैं।"

"पर मैं आपसे मदद की दरख़्वास्त करता हूं। हमें टीले पर ज़मींदार के इस अस्तबल की मरम्मत करने की ज़रूरत है। नदी पर पुल बनाने की ज़रूरत हैं, स्कूल के लिए ईंधन की ज़रूरत है..."

"ठहर, ठहर, जीगित, बहुत तेज़ी न दिखा!" अड़ियल सातिमकूल दांतों के बीच से थूककर और एक आंख फिर से सिकोड़कर, मानो निशाना बांध रहा हो, कहने लगा, "तू जो सारे गांव को चिल्ला-चिल्लाकर सुना रहा है, स्कूल खोलूंगा, स्कूल खोलूंगा! तेरी अपनी हैसियत क्या है – फ़र कोट तेरे तन पर नहीं, घोड़ा तेरे पास नहीं, चप्पा भर अपनी ज़मीन नहीं, जिसपर हल चला सके। आंगन में एक भी ढोर नहीं – तो प्यारे, बता तो सही गुज़र कैसे करेगा? क्या घोड़े चुराने का धन्धा करेगा?"

"जैसे बन पड़ेगा, रहूंगा। तनख़्वाह पाऊंगा।"

"अगर यह बात है, तो पहले से कहना चाहिए था!" और सातिमकूल विजेता की भांति ज़ीन पर सीधा तनकर बैठ गया। "अब सारी बात साफ़ हो गयी है। तू खुद कर अपना सारा काम और अपनी तनख़्वाह पर बच्चों को पढ़ा, ख़ज़ाने में रुपये की कुछ कमी नहीं है। हमें हमारे हाल पर छोड़ दो। भगवान की कृपा से हमारी अपनी चिन्ताएं बहुत काफ़ी हैं..."

यह कहकर सातिमकूल ने अपना घोड़ा घुमाया और घर की ओर रवाना हो गया। अन्य लोग भी जाने लगे। दूइशेन हाथ में अपना कागज़ पकड़े ज्यों का त्यों खड़ा रहा। वह बेचारा नहीं जानता था कि कहां जाये...

मुझे उसपर बड़ा तरस आया। मैं एकटक उसकी ओर देखे जा रही थी। मेरे चचा ने पास से गुज़रते हुए मुझे पुकारा –

"अरी, झबरैलो, मुंह बाये यहां खड़ी क्या कर रही है, चल, घर भाग!" मैं लपककर अपनी सहेलियों की ओर दौड़ी। "इन्हें भी अभी से सभाओं की लत पड़ गयी है।"

दूसरे दिन जब मैं और पड़ोस की कुछेक लड़कियां पानी लाने गयीं, तो दूइशेन को नदी पार करते हुए देखा। उसके हाथों में फावड़ा, कुदाल, कुल्हाड़ा और एक पुरानी-सी बाल्टी थी।

उस दिन के बाद हर रोज़ सुबह दूइशेन अकेला वहां देखने में आता, काला ग्रेटकोट पहने, पगडण्डी पर चलता हुआ वह टीले पर उजड़े हुए अस्तबल की ओर जाता और शाम के वक़्त नीचे गांव की ओर उतरता। अक्सर हम उसे घास या भूसे का भारी गट्ठा पीठ पर लादे जाते देखते। लोग उसे दूर से देखकर आंखों पर हाथों की ओट किये हुए अपनी रकाबों में थोड़ा ऊपर को उठते और हैरानी से एक दूसरे से पूछते –

"सुनो, क्या वह अध्यापक दूइशेन तो नहीं जो गट्ठा उठाये टीले पर चढ़ रहा है?"

"वही है।"

"बेचारा! पढ़ाने का काम भी कोई हंसी-मज़ाक़ नहीं है।"

"और तुम क्या समझते हो? देखो तो अमीर की नौकरानी जितना बोझा उठाये हुए है।"

"बातें तो बड़े विद्वानों जैसी करता है!"

"इसलिए कि उसके पास मुहर वाला कागज़ जो है – उसमें सब ताक़त है।"

एक दिन उपले बटोरने के बाद, जिन्हें हम आम तौर पर गांव के ऊपर पहाड़ी की ढाल पर से चुना करती थीं, हम स्कूल की ओर गई – हमें यह देखने की बड़ी उत्सुकता थी कि अध्यापक वहां क्या कर रहा है। मिट्टी का बना यह पुराना बाड़ा कभी एक अमीर का अस्तबल हुआ करता था। जाड़े के मौसम में यहां घोड़ियों को रखा जाता था, जो उस बुरे मौसम में बच्चे जनती थीं। सोवियत सत्ता क़ायम होने पर अमीर कहीं भाग गया और उसका अस्तबल उजड़ी हुई हालत में पड़ा रह गया। वहां कोई भी आता-जाता नहीं था और अस्तबल के चारों ओर झाड़-झंखाड़ उगने लगे थे। अब उन्हें काट डाला गया था और उनका बड़ा-सा ढेर एक ओर को पड़ा था। आंगन को साफ़ कर दिया गया था। बारिश के कारण टूटी-फूटी और दरारोंवाली दीवारों पर अब मिट्टी का लेप कर दिया गया था। एक ही क़ब्ज़े पर लटकनेवाले और गर्मी के कारण खस्ताहाल हुए दरवाज़े पर लकड़ी के तख़्ते जड़ दिये गये थे और उसे अपनी जगह पर पक्का कर दिया गया था।

जब हमने सांस लेने के लिए उपलों से भरे बोरे नीचे रखे, तो दरवाज़े में से दूइशेन निकल आया। वह सिर से पांव तक मिट्टी से लथपथ था। हमें देखते ही वह कुछ हैरान-सा हुआ, फिर चेहरे पर से पसीना पोंछते हुए मिलनसारी से मुस्कराया।

"तुम कहां से टपक पड़ीं, लड़कियो?"

हम बोरों के पास ही ज़मीन पर बैठी थीं। झेंप के कारण हम एक दूसरी की ओर देखने लगीं। दूइशेन समझ गया कि हम बहुत ज़्यादा संकोची और शर्मीली हैं। हमारा उत्साह बढ़ाने के लिए उसने आंख मारकर कहा –

"बोरे तो तुमसे भी बड़े हैं। तुमने बहुत अच्छा किया, लड़कियो, जो इधर झांक लिया – तुम्हें यहां पढ़ना जो है। और तुम्हारा स्कूल भी, मैं कहूंगा, अब लगभग तैयार ही समझो। मैंने अभी-अभी कोने में अंगीठी बना दी है और छत में से धुआ-कश भी लगा दिया है, देख रही हो न? अब सर्दियों के लिए जलावन लाना है। पर कोई फ़िक्र की बात नहीं! आसपास घास बहुत है। फर्श पर ख़ूब भूसा बिछा लेंगे और पढ़ाई शुरू कर देंगे। कहो, पढ़ना चाहती हो न, स्कूल आया करोगी न?"

अपनी सहेलियों में मैं सबसे बड़ी थी, इसलिए मैंने ही उसकी बात का जवाब देने का निश्चय किया।

"अगर चाची आने देगी, तो आया करूंगी," मैंने कहा।

"आने क्यों नहीं देगी? ज़रूर आने देगी। तुम्हारा नाम क्या है?"

"आल्तीनाई," मैने जवाब दिया और फटे हुए फ्राक में से बाहर झांकते नंगे घुटने को हथेली से ढंक लिया।

"आल्तीनाई – कितना अच्छा नाम है और तुम स्वयं भी तो बड़ी अच्छी लड़की हो, क्यों?" यह कहते हुए उसके चेहरे पर इतनी सुन्दर मुस्कान खिल उठी कि मेरा रोम-रोम पुलकित हो उठा। "तो फिर आल्तीनाई, तुम और लड़कों-लड़कियों को भी स्कूल में लाना, उन्हें अपने साथ लिवा लाना। लाओगी न?"

"हां, चाचा।"

"मुझे मास्टर जी कहकर बुलाओ। स्कूल देखना चाहती हो? चलो, अन्दर चलो, शर्माओ नहीं।"

"नहीं, हम घर जायेंगी। हमें जाना है।" हमें झिझक होने लगी थी।

"अच्छी बात, घर जाओ, जब सभी मिलकर पढ़ने आओगी, तभी देख लेना। मैं अभी एक बार और घास लाने जाऊंगा, अभी दिन थोड़ा बाकी है।"

उसने हंसिया और रस्सी उठाई और मैदान की तरफ़ चल दिया। हम भी उठीं और बोरे उठाये हुए गांव की ओर चली गयीं। सहसा मेरे मन में एक अप्रत्याशित-सा विचार उठा।

"ठहरो लड़कियो," मैंने अपनी सहेलियों को पुकारा, "आओ, ये उपले स्कूल में ही छोड़ दें, जाड़ों में अंगीठी ज़्यादा गरम रहेगी।"

"तो क्या घर ख़ाली हाथ जायें? वाह, कैसी सयानी हो!"

"हम वापस लौटकर और इकट्ठे कर लेती है।"

"नहीं, देर हो जायेगी, घर पर नाराज़ होंगे।"

और बिना मेरा इन्तज़ार किये लड़कियां तेजी से घर की ओर चल दीं।

आज तक मैं नहीं समझ पायी हूं कि किस कारण मैने ऐसा करने का निश्चय किया। इस कारण कि मेरी सहेलियों ने मेरे सुझाव पर कान नहीं दिया था और इसे मैंने अपना अपमान मानते हुए अपनी बात पर डटे रहना चाहा था, या इस कारण कि बचपन से ही मेरी इच्छाएं, अभिलाषाएं उजड्ड लोगों की डांट-डपट और मार-पीट के नीचे दबी रही थीं और इसलिए सहसा यह इच्छा पैदा हुई कि किसी तरह पहली बार मिलनेवाले उस अजनबी की मुस्कराहट के

लिए, जिससे मेरा रोम-रोम पुलिकत हुआ था, मेरे प्रति उसके मामूली से विश्वास के लिए, उसके मुंह से निकले कुछेक सद्भावनापूर्ण शब्दों के लिए आभार प्रकट करूं, मैं यह कह नहीं सकती...पर मैं एक बात भली भांति जानती हूं, मुझे इसका पक्का विश्वास है कि मेरा वास्तविक भाग्य, यातनाओं और खुशियों का मेरा जीवन उसी दिन से शुरू हुआ था, उपलों के उसी बोरे से शुरू हुआ था। मैं यह इसलिए कह रही हूं कि उसी दिन ज़िन्दगी में पहली बार, बिना कुछ सोचे-विचारे, बिना डरे मैंने जिस काम को ज़रूरी समझा, उसे करने का निश्चय किया और उसे किया भी। जब मेरी सहेलियां मुझे छोड़ गयीं, तो मैं भागकर दूइशेन के स्कूल की ओर गयी, दरवाज़े के पास बोरा ख़ाली कर दिया और उसी वक़्त भागती हुई उपले बटोरने के लिए पहाड़ी घाटियों और खड्डों की ओर चली गयी।

मैं बेफ़िक्र भाग रही थी, खुद नहीं जानती थी कि कहां जा रही हूँ, मानो मेरे अन्दर उत्साह छलक रहा हो, मेरा दिल बल्लियों उछल रहा था, इतना उद्वेलित था, मानो मैंने कोई बहुत बड़ा कारनामा कर दिखाया हो। और सूरज को जैसे मालूम था कि मैं क्यों इतनी खुश हूं। मैं समझती हूं कि वह जानता था कि मैं क्यों इतनी अलमस्त और निश्चिन्त भागी जा रही हूं। इस कारण कि मैंने कोई छोटा-सा नेक काम किया था।

सूरज पहाड़ों की ओर झुक चुका था, परन्तु मुझे लगता था जैसे उसकी गति धीमी पड़ गयी हैं मानो वह आंख भरकर मुझे देखना चाहता है। उसने मेरे रास्ते को सजा-संवार कर दिया था: पतझड़ की खुरदरी धरती मेरे पांवों के नीचे रक्तवर्ण, गुलाबी और बैंगनी रंगों में बहती चली जा रही थी। सूरज की झिलमिलाती लौ में जंगली पौधों के सूखे डंठल उड़-उड़कर आ रहे थे। ढेर सारे पैबंद लगी जाकेट पर चांदी का मुलम्मा चढ़े बटन तप रहे थे। मैं आगे ही आगे भागती जा रही थी और मन ही मन फूली नहीं समाती थी, धरती, आकाश और हवा को सम्बोधन करती हुई मैं कहती – "देखो मेरी ओर! देखो मैं कितनी मानिनी हूँ! मैं पढ़ूंगी, हां, मैं स्कूल जाऊंगी और अपने साथ औरों को भी ले जाऊंगी!"

मैं नहीं जानती कि कितनी देर तक मैं भागती रही, पर मुझे सहसा याद आया – हाय, मुझे तो उपले बटोरने हैं। और अजीब बात है, गर्मी का सारा मौसम यहां अनगिनत ढोर घूमते रहे थे और यहां पर अनगिनत उपले हुआ करते थे, क़दम-क़दम पर और अब इन्हें जैसे धरती निगल गयी थी। या

शायद मेरी आंखें उन्हें देख नहीं पा रही थीं? मैं यहां-वहां, एक जगह से दूसरी जगह भागती हुई उपले ढूंढ-ढूंढकर बटोरने लगी, और जितनी दूर जाती, उतने ही वे कम मिलते। जब मैंने सोचा कि सूरज डूबने से पहले बोरा भर उपले तो मैं इकट्ठे नहीं कर पाऊंगी, तो मैं और भी डर गयी। जैसे-तैसे मैं आधा बोरा इकट्ठा कर पायी। इस बीच सूरज डूब गया। घाटियों में शाम के साये जल्दी-जल्दी फैलने लगे।

मैं पहले कभी भी इतनी देर तक अकेली बाहर नहीं रही थी। निर्जन, मूक पहाड़ियों को रात ने अपनी काली चादर से ढंक दिया था। भय के कारण सुध-बुध खोये, मैने बोरे को कन्धे पर रखा और गांव की ओर भाग चली। मुझे बेहद डर लग रहा था और संभव है मैं रोने-चिल्लाने तक लगती, लेकिन यह अनोखा और अकथनीय विचार मुझे रोके रहा कि अगर दूइशेन ने मुझे इस अटपटी अवस्था में यों रोते हुए देख लिया, तो क्या कहेगा। मैंने हिम्मत नहीं हारी, मुड़कर एक बार भी पीछे नहीं देखा, मुझे ऐसा जान पड़ता था कि मास्टर जी सचमुच मेरी ओर देख रहा है।

हांपती हुई, पसीने और धूल में लिपटी मैं घर जा पहुंची। जब मैंने देहली लांघकर घर के अन्दर क़दम रखा, तो मैं बेदम हो रही थी। चूल्हे के पास बैठी चाची भयानक सूरत बनाये मेरी तरफ़ लपकी। वह बड़ी दुष्ट और उजड्ड औरत थी।

"तू कहां मर गयी थी?" वह झट से मेरे पास पहुंची और मेरे मुंह से अभी एक शब्द भी न निकला था कि उसने बोरा मुझसे छीनकर एक ओर पटक दिया। "दिन भर में तू सिर्फ़ इतने ही बटोर पायी है?" जाहिर था कि मेरी सहेलियों ने आकर उसे ख़बर दे दी थी। "कलमुंही कहीं की! स्कूल में तेरा क्या काम था? तू वहीं मर क्यों नहीं गयी?" चाची ने मुझे कान से पकड़ा और सिर पर तडातड़ थप्पड़ मारने लगी। "मनहूस कहीं की, हड़ियल! भेड़िये के बच्चे को कोई घर कैसे बिठाये। लोगों के बच्चे सब कुछ घर में ला रहे है और यह घर से बाहर ले जा रही है। मैं तुझे स्कूल का मज़ा चखाऊंगी! उसके नज़दीक तो अब जाकर देख, तेरी टांगें न तोड़ दी तो कहना, मैं तेरी जान ले लूंगी। मेरे घर में अब स्कूल का नाम तो लेकर देख..."

मैं कुछ नहीं बोली, केवल इतनी कोशिश करती रही कि मैं रोऊं-चिल्लाऊं नहीं। केवल बाद में जब मैं चूल्हे के पास बैठी आग की निगरानी कर रही

थी, तो मैं अपनी भूरी बिल्ली को धीरे-धीरे सहलाती हई रोने लगी, पर दिल ही दिल में, भीतर ही भीतर। मेरे रोने का उसे हमेशा पता चल जाता था और वह कूदकर मेरे घुटनों पर आ बैठती थी। मैं इसलिए नहीं रो रही थी, कि चाची ने मुझे पीटा था, उसकी तो मुझे आदत पड़ चुकी थी, मैं तो इसलिए रो रही थी कि चाची कभी भी मुझे स्कूल नहीं जाने देगी...

इसके दो दिन बाद सुबह के वक्त गांव में ज़ोर-ज़ोर कुत्ते भूंकने लगे और लोगों की आवाज़ें सुनाई देने लगीं। पता चला कि दूइशेन घर-घर जाकर बच्चों को स्कूल ले जाने के लिए इकट्ठा कर रहा है। उन दिनों सड़कें नहीं थीं, मिट्टी के बेढब से हमारे अंधेरे घर बिना किसी क्रम के छितरे थे, जहां किसी का जी चाहता, अपना घर खड़ा कर लेता। दूइशेन घर-घर जा रहा था और बच्चे शोर-गुल मचाते उसके साथ-साथ जा रहे थे।

हमारा घर गांव के ठीक छोर पर था। उस वक़्त अपनी चाची के साथ हम लकड़ी की ओखली में बाजरे का छिलका कूट-कूटकर निकाल रही थीं, और चचा कोठरी के पास गढ़े में से गेहूं निकाल रहे थे – वह मण्डी में गेहूं ले जानेवाले थे। हम, लोहारों की तरह बारी-बारी से ओखली में भारी सोंटा मारतीं, फिर भी मैं कनखियों से देख लेती कि मास्टर जी अभी कितनी दूर है। मैं डर रही थी कि कहीं वह हमारे आंगन तक नहीं आयेगा। और हालांकि मैं जानती थी कि चाची मुझे स्कूल नहीं जाने देगी, फिर भी मैं चाहती थी कि दूइशेन इधर आये और कम से कम यह देख ले कि मैं कहां पर रहती हूं। मैं मन ही मन मास्टर जी की मिन्नतें कर रही थी कि वह हमारे आंगन तक आये बिना चले नहीं जाये।

"सलाम अलैकुम, घर-मालकिन, ख़ुदा आपकी मदद करे, वरना हम सब आपकी मदद करेंगे! देखिये तो, हम कितने हैं!" दूइशेन ने मज़ाक़ में कहा। उसके पीछे स्कूल के भावी छात्र खड़े थे।

चाची जवाब में कुछ बुदबुदायी, पर चचा ने अनाज वाले गढ़े में से सिर ऊपर नहीं उठाया था।

दूइशेन घबराया नहीं। बड़े कामकाजी ढंग से वह लकड़ी के कुन्दे पर बैठ गया, जो आंगन के बीचोंबीच पड़ा था, और पेंसिल और काग़ज़ हाथ में लेकर बोला –

"आज स्कूल में पढ़ाई शुरू होनेवाली है, आपकी बेटी की उम्र क्या है?"

कोई जवाब दिये बिना चाची ने गुस्से से सोंटे को ओखली में पटका। स्पष्ट था कि वह बात करना नहीं चाहती थी। मैं अन्दर ही अन्दर सिमटी जा रही थी – अब क्या होगा? दूइशेन ने मेरी ओर देखा और मुस्करा दिया और जैसे कि उस बार हुआ मेरा रोम-रोम पुलक उठा।

"आल्तीनाई, तू कितने साल की है?" उसने पूछा।

जवाब देने की मुझे हिम्मत नहीं हुई।

"इससे तेरा क्या मतलब? बड़ा आया है इन्स्पेक्टर!" चाची झुंझलाकर बोली। "यह नहीं पढ़ेगी। जिन बच्चों के मां-बाप हैं, वे भी नहीं पढ़ते और इस यतीम की तो बात ही क्या हो सकती है! तूने काफ़ी भीड़ इकट्ठी कर ली है, जा इसे स्कूल ले जा, यहां तेरा कोई काम नहीं है।"

दूइशेन उछलकर खड़ा हो गया –

"ज़रा सोचिये तो, क्या कह रही हैं आप। कोई यतीम हो तो इसमें उसका क्या दोष? क्या कोई ऐसा भी क़ानून है, जिसके मुताबिक़ यतीमों को पढ़ने की इजाज़त न हो?"

"मुझे तेरे कानूनों से कोई मतलब नहीं। मेरे अपने कानून हैं; तेरा हुक्म यहां नहीं चल सकता!"

"सभी के लिए हमारे क़ानून एक जैसे हैं। अगर तुम्हें इस लड़की की ज़रूरत नहीं, तो हमें – सोवियत सत्ता को – इसकी ज़रूरत है। अगर तुम हमारे ख़िलाफ़ कार्रवाई करोगी, तो हम तुम्हें हुक्म भी देंगे!"

"बड़ा आया हुक्म देनेवाला!" हाथ कमर पर रखते हुए चाची ने ललकारा। "इसपर कौन हुक्म चलायेगा, मैं जो इसे खिलाती-पिलाती हूं या तू, जिसका बाप भी आवारागर्द था और जो ख़ुद भी आवारागर्दी करता हुआ यहां आ टपका है..."

न जाने यह काण्ड कैसे ख़त्म होता, पर उसी वक़्त गढ़े में से चचा नमूदार हुआ । वह कमर तक नंगा था। जब भी कभी उसकी बीवी इस तथ्य को भूलकर कि घर में घर का मालिक – उसका ख़ाविंद – मौजूद है, बढ़-चढ़कर बातें करती, तो चचा आपे से बाहर हो जाता था। इसके लिए वह चाची को बड़ी बेरहमी से पीटा करता था। इस बार भी लगता था वह गुस्से से उबल रहा था।

"अरी, ओ!" गढ़े में से निकलते हुए उसने चिल्लाकर कहा। "कब से तू

घर की कर्ता-धर्ता बन गयी है, कब से तूने हुक्म चलाना शुरू कर दिया है? थोड़ा बोला कर, ज़्यादा काम किया कर। और तू ताश्तानबेग के बेटे, ले जा लड़की को, चाहे तो पढ़ा, चाहे भून डाल इसे, और अब निकल जा आंगन में से!"

"वाह, यह अच्छी रही, वह तो स्कूल में मौज उड़ाये, और मैं अकेली घर में पिसा करूं?" चाची चिल्लायी, पर चचा ने उसे चुप करा दिया – "चुप रह, जो कहना था, कह दिया!"

बुराई के अन्दर भी भलाई छिपी रहती है। इस तरह मैं पहली बार स्कूल गयी थी।

इस दिन के बाद हर रोज सुबह दूइशेन हमें घर-घर से इकट्ठा करता और पढ़ाने ले जाता।

पहले दिन उसने हमें भूसा बिछे फ़र्श पर बिठाया, हमें एक-एक कापी, एक-एक पेंसिल और एक-एक तख़्ती बांट दी।

"लिखते वक़्त तख़्ती को घुटने पर रखते हैं," उसने हमें समझाया।

फिर उसने हमें एक रूसी व्यक्ति का चित्र दिखाया; जो दीवार पर चिपका हुआ था।

"यह लेनिन हैं," उसने कहा।

लेनिन का वह छविचित्र मुझे आज तक याद है। न जाने क्यों, बाद में मुझे कभी भी लेनिन का वैसा छविचित्र देखने को नहीं मिला और मैंने उसे मन ही मन "दूइशेन वाला" नाम दे रखा था। उस छविचित्र में लेनिन ने एक ढीली-ढाली फ़ौजी जाकेट पहन रखी थी, गाल चिपके हुए थे, दाढ़ी बढ़ी हुई थी। उनका ज़ख्मी बाज़ू पट्टी में लटका हुआ था और उनकी टोपी के नीचे से, जो उन्होंने पीछे की ओर करके पहन रखी थी, बड़ी सजग आंखें शान्ति से देखे जा रही थीं। उनकी कोमल, सहानुभूतिपूर्ण आंखें, लगता जैसे हमसे कह रही हैं, "काश कि तुम जानते , बच्चो, कैसा उज्ज्वल भविष्य तुम्हारी राह देख रहा है!" ऐसा प्रतीत होता, जैसे उस निस्तब्ध घड़ी में वह मेरे भविष्य के बारे में सोच रहे थे।

लगता था जैसे दूइशेन उस छविचित्र को मुद्दत से अपने साथ लिये घूम रहा था। चित्र एक सीधे-सादे इश्तहारी काग़ज़ पर छपा था। काग़ज़ जहां-तहां घिस गया था, और किनारे मुड़े हुए थे। बस, इस छविचित्र को छोड़कर हमारे

स्कूल की चारों दीवारों पर और कुछ भी नहीं था।

"बच्चो, मैं तुम्हें पढ़ना, गिनती करना सिखाऊंगा और यह दिखाऊंगा कि अक्षर और आंकड़े कैसे लिखे जाते हैं," दूइशेन कहने लगा, "जितना कुछ मैं जानता हूं, तुम्हें सिखा दूंगा..."

और सचमुच उसने अजीब धैर्य के साथ हमें वह सब सिखाया, जो वह स्वयं जानता था। हर शिष्य के ऊपर झुक-झुककर उसने दिखाया कि पेंसिल कैसे पकड़ते हैं और उत्साह से हमें वे शब्द समझाये, जो हमारी समझ के बाहर थे।

मैं आज भी सोचती हूं तो हैरान रह जाती हूं कि किस प्रकार वह अर्द्ध-शिक्षित युवक, जो मुश्किल से अक्षर जोड़-जोड़कर पढ़ पाता था, जिसके पास एक भी पाठ्य-पुस्तक नहीं थी, यहां तक कि सबसे प्राथमिक वर्णमाला की पुस्तक तक नहीं थी, कैसे एक ऐसे काम में हाथ डालने का साहस कर पाया, जो वास्तव में महान था। ऐसे बच्चों को पढ़ाना क्या मज़ाक़ है, जिनकी पिछली सात पीढ़ियों ने स्कूल का नाम तक न सुना हो। और निश्चय ही दूइशेन कार्यक्रम के बारे में, अध्यापन के तरीक़ों के बारे में कुछ भी नहीं जानता था। या यों कहें कि इन चीजों के अस्तित्व तक से वह अनभिज्ञ था। दूइशेन हमें अन्तःप्रेरणा के बल पर पढ़ाया करता था, अपनी सूझ के अनुसार पढ़ाता, जैसे पढ़ा सकता था, जैसा उसे आवश्यक जान पड़ता था। परन्तु मुझे पूर्ण विश्वास है कि उसका वह उत्साह, निष्कपट उत्साह, जिसके साथ उसने हमें पढ़ाने की कोशिश की, निष्फल नहीं रहा। उसने अनजाने ही एक कारनामा कर दिखाया। हां, कारनामा, क्योंकि उन दिनों हम क़िर्ग़ीज़ बच्चों के लिए, जिन्होंने अपने गांव से बाहर कभी क़दम नहीं रखा था, उस स्कूल में – अगर उस कच्चे बाड़े को स्कूल का नाम दिया भी जा सकता हो, जिसकी चौड़ी दरारों में से पहाड़ों की बर्फ़ से ढकी चोटियां नज़र आया करती थीं – उस कच्ची कोठरी में, हमारी आंखों के सामने एक नया संसार खुल गया, एक ऐसा संसार, जिसके बारे में हमने न कभी सुना था और न ही उसे कभी देखा था।

तभी हमें मालूम हुआ कि मास्को शहर, जहां लेनिन रहते थे, ताशक़न्द से भी कई गुना बड़ा है, कि संसार में ऐसे बड़े-बड़े सागर हैं, जो तालास की घाटी जैसे विशाल हैं, कि उन सागरों में पहाड़ों जैसे बड़े-बड़े जहाज़ तैरते हैं। हमें पता चला कि बाज़ार से जो हम किरासिन लाते हैं, वह ज़मीन के नीचे

से प्राप्त होता है। तभी हमने जाना कि जब लोग ज़्यादा धनी हो जायेंगे, तो हमारा स्कूल एक बड़े-से सफ़ेद घर में लगा करेगा, जिसमें बड़ी-बड़ी खिड़कियां होंगी और विद्यार्थी कुर्सियों-मेज़ों पर बैठा करेंगे।

जैसे-तैसे केवल प्रारंभिक अक्षरों का बोध होने पर, जब हम अभी 'पिता'', ''माता'' भी नहीं लिख पाते थे, हमने काग़ज़ पर ''लेनिन'' शब्द बनाया। हमारा राजनीतिक शब्दकोष ऐसी धारणाओं से बना था, जैसे ''अमीर'', ''कमेरा'', ''सोवियतें।'' और दूइशेन ने हमें वचन दिया कि एक साल के बाद वह हमें ''क्रान्ति'' शब्द लिखना सिखायेगा।

दूइशेन की बातों को सुनते हुए हम कल्पना करने लगते कि हम भी उसके साथ श्वेत गार्डों के विरुद्ध मोर्चों पर लड़ रहे हैं। और लेनिन के बारे में दूइशेन इतना अधिक और ऐसे जोश से बातें करता, जैसे उसने स्वयं अपनी आंखों से लेनिन को देखा हो। अब मैं समझती हूं कि उनमें से बहुत-सी बातें लेनिन सम्बन्धी दन्तकथाएं थीं, परन्तु हम, ''दूइशेनी छात्रों'' के लिए वे सफ़ेद दूध की भांति निर्मल सत्य थीं।

एक बार हमने बिना किसी गुप्त प्रयोजन के पूछा –

''मास्टर जी, आपने लेनिन से हाथ मिलाया था?''

तब हमारे मास्टर ने झेंपकर सिर हिला दिया –

''नहीं बच्चो, मैंने लेनिन को कभी नहीं देखा।'' और अपराधियों की भांति ठण्डी सांस भरी, हमारे सामने वह अटपटा महसूस करने लगा था...

हर महीने के अन्त में दूइशेन अपने किसी काम से हलका केन्द्र जाया करता। वहां वह पैदल जाता और दो-तीन दिन के बाद लौट आता था।

अपने अध्यापक की अनुपस्थिति में हम खिन्न और उदास महसूस करते। अगर मेरा अपना सगा भाई होता, तो मैं उसका भी इतनी बेचैनी से इन्तज़ार न करती, जिस बेचैनी से मैं दूइशेन के लौटने का इन्तज़ार किया करती थी। चोरी-छिपे, ताकि चाची न देख पाये, मैं बार-बार आंगन के पिछवाड़े भागती हुई जाती और देर तक स्तेपी की सड़क पर आंखें गाड़े खड़ी रहतीः किस वक़्त मास्टर जी नज़र आयेंगे पीठ पर थैला रखे, किस वक़्त रोम-रोम को पुलकित कर देनेवाली उसकी मुस्कान देख पाऊंगी, किस वक़्त उसके मुंह से ज्ञान से भरे शब्द सुनने को मिलेंगे?

दूइशेन के शिष्यों में मैं सबसे बड़ी थी। शायद इसी कारण मैं पढ़ाई

में सबसे आगे थी। पर नहीं, मुझे लगता है, केवल यही कारण नहीं था। मास्टर जी का एक-एक शब्द, एक-एक अक्षर जो वह हमें सिखाता था। मेरे लिए पवित्र था। मेरे लिए इससे बड़ा, इससे ऊंचा कोई कर्तव्य न था कि मैं दूइशेन द्वारा पढ़ाई गयी बातों को किसी भांति ग्रहण कर पाऊं। स्कूल में मुझे जो कापी दी गयी थी, उसे मैं संभालकर रखे हुए थी, इसलिए मैं दरांती की नोक से ज़मीन पर अक्षर बनाती थी, कोयले से दीवारों पर, बर्फ़ तथा सड़क की धूल पर लिखती। संसार भर में मेरे लिए दूइशेन से बड़ा कोई विद्वान और बुद्धिमान व्यक्ति नहीं था।

सर्दी का मौसम आया।

पहली बर्फ़ पड़ने तक हम एक पथरीले पहाड़ी नाले को लांघकर स्कूल जाया करते थे, बाद में यह असह्य हो गयाः बर्फ़ीला पानी इतना ठण्डा होता कि हड्डियां तक सुन्न हो जातीं, ख़ास तौर पर छोटे बच्चों को तो बहुत ही कष्ट भोगना पड़ता, उनकी आंखों में आंसू भर आते। तब दूइशेन ने उन्हें ख़ुद उठा-उठाकर नाले के पार लाना शुरू कर दिया। एक बच्चे को वह पीठ पर बिठा लेता, दूसरे को गोद में उठा लेता और इस तरह, बारी-बारी से वह सभी को पार ले पाता।

आज, उन दिनों को याद करते हुए मुझे यक़ीन नहीं होता, कि ऐसा भी कभी हो सकता था। पर उन दिनों अपनी अशिष्टता या अपनी नासमझी के कारण लोग दूइशेन पर हंसा करते थे। विशेषकर वे धनी लोग, जो जाड़े में पहाड़ों पर रहते थे। वे यहां पनचक्की पर आया करते। कितनी ही बार, जब हम नाला लांघ रहे होते, तो ये लोग लाल लोमड़ी की खाल की टोपियां पहने, भेड़ की खाल के बढ़िया कोट डाटे, मोटे-ताज़े बेक़ाबू घोड़ों की पीठ पर सवार, हमारे बराबर आ जाते, हैरत से आंखें फाड़-फाड़कर दूइशेन की ओर देखते, फिर ठहाका मारकर हंस देते और एक दूसरे को कोहनी मारकर कहते –

''देखो, वह क्या कर रहा हैः एक को पीठ पर उठा रखा है, दूसरी को बांहों में!''

इसपर दूसरा अपने फुंकारते घोड़े को एड़ी मारकर कहता –

''मैं भी कैसा उल्लू हूं! पहले कहां था! यह रहा वह आदमी जिसे अपनी दूसरी बीवी बनाना चाहिए था, मेरे सब काम कर देता!''

और घोड़ों के खुरों से उड़ती मिट्टी और कीच के छींटों से हमें तर-बतर करते हुए, वे हंसते, मज़ाक करते हुए चले जाते।

उस वक्त मेरा जी चाहता कि दौड़कर इन मोटे-मोटे फ़र-कोटों वालों के पास जा पहुंचूं, इनके घोड़ों की लगामें पकड़ लूं और इन्हें चिल्लाकर कहूं, "तुम मूर्ख हो, पाजी हो! तुम्हारी हिम्मत कि हमारे मास्टर जी के बारे में यों बकवास करो।"

पर एक साधारण बालिका की ओर कौन ध्यान देता? मैं केवल ठेस के कड़वे आंसू पीकर रह जाती। पर दूइशेन का इस तिरस्कार की ओर बिल्कुल ध्यान न जाता, मानो उसने कुछ सुना ही न हो। वह कोई न कोई चुटकला-मज़ाक़ सोच लेता और हम सब कुछ भूलकर, खिलखिलाकर हंसने लगते।

दूइशेन कितनी ही कोशिश क्यों न करता, नाले के ऊपर पुल बना देने के लिए लकड़ी हासिल कर पाना उसके बस की बात नहीं थी। एक बार छोटे बच्चों को नाला पार करा चुकने के बाद हम दूइशेन के साथ नाले के किनारे खड़े हो गये। हमने पत्थरों और घास-मिट्टी की मदद से नाले के आर-पार रास्ता बनाने का निश्चय किया।

निष्पक्ष रूप से सोचा जाये, तो गांव वालों के लिए इतना भर कर देना काफ़ी था कि वे मिलकर नाले के आर-पार दो-तीन लकड़ी के कुन्दे डाल देते, इस तरह स्कूली बच्चों के लिए पुल तैयार हो जाता। परन्तु उन दिनों लोग अपनी अज्ञानता के कारण शिक्षा को कोई महत्त्व नहीं देते थे और दूइशेन को एक अजीब-सा जीव समझते थे, जो बच्चों के साथ या तो इसलिए उलझा रहता था कि उसके पास करने को कुछ नहीं था, या फिर अपने मनबहलाव के लिए। उनका रवैया थाः अगर तुम्हें ज़रूरत है, तो इन्हें पढ़ाओ, वरना घर भेज दो। वे स्वयं घोड़ों पर चढ़कर जाते थे, उन्हें पुलों की क्या ज़रूरत थी। परन्तु एक बात की ओर लोगों को जरूर ध्यान देना पड़ता थाः किसलिए यह नौजवान, जो औरों से न तो बुरा था न ही कम-अक्ल, कठिनाइयों और अभाव को सहन करता हुआ, लोगों की हंसी और तिरस्कार सहन करता हुआ उनके बच्चों को इतनी दृढ़ता से, मानवेतर दृढ़ता से पढ़ाये जा रहा था?

जब हम नाले के तल पर पत्थर आदि रखकर रास्ता बनाने लगे, तो चारों ओर बर्फ़ पड़ चुकी थी और पानी इतना ठण्डा था कि झुरझुरी आती थी। मैं इस बात की कल्पना नहीं कर सकती कि दूइशेन किस धैर्य के साथ नंगे पांव नाले में बड़े-बड़े पत्थर घसीटकर ला रहा था। मैं बड़ी मुश्किल से पानी में पांव रख पायी थी, नाले का तल जैसे जलते हुए कोयलों से ढका था। सहसा मेरी

पिंडलियों में अकड़ाव आ गया। न मैं चिल्ला सकती थी न सीधी खड़ी हो सकती थी। मैं धीरे-धीरे पानी में गिरने लगी। मुझे देखते ही दूइशेन ने पत्थर को छोड़ दिया और लपककर मेरे पास पहुंच गया और मुझे बांहों में भरकर बाहर ले आया। किनारे पर उसने मुझे अपने ग्रेटकोट पर बिठा दिया। मेरे ठण्ड से नीले पड़े पांव सुन्न हो रहे थे। वह कभी मेरे ठिठुरे पैरों को मलता और कभी बर्फ़ हुए मेरे हाथों को अपनी हथेलियों में लेकर अपनी सांसों से उन्हें गर्माता।

"नहीं नहीं, आल्तीनाई, इसकी कोई ज़रूरत नहीं, तुम यहीं बैठो, अपने को गर्म करो," दूइशेन कहता गया, "मैं ख़ुद इस काम से निबट लूंगा..."

अन्त में, जब पत्थर लगा दिये गये और रास्ता बन गया, तो बूट पहनते हुए दूइशेन ने मेरी ओर देखा – मैं गुडी-मुड़ी-सी बैठी ठिठुर रही थी – और मुस्कराकर बोला –

"कहो, सहायिका, कुछ गर्माहट आयी बदन में? कोट को अच्छी तरह लपेट लो, ऐसे!" फिर थोड़ी देर तक चुप रहने के बाद बोला, "उस रोज़, आल्तीनाई, तुम्हीं स्कूल के बाहर उपले छोड़ गयी थीं न?"

"जी," मैने जवाब दिया।

एक हल्की-सी मुस्कान उसके होंठों के कोनों पर खिल उठी, मानो वह मन ही मन कह रहा हो, "मैने ऐसा ही समझा था!"

मुझे याद है, उस वक़्त मेरे गाल जल रहे थेः इसका मतलब है मास्टर जी को पता चल गया है और वह इस घटना को भूला नहीं है, हालांकि यह कितनी छोटी-सी बात थी। मैं बेहद ख़ुश थी, सातवें आसमान पर थी। दूइशेन मेरी ख़ुशी को समझ गया।

"तुम तो मेरी आशाओं का तारा हो," बड़े स्नेह से मेरी ओर देखते हुए उसने कहा। "पढ़ने में होशियार हो... काश कि मैं तुम्हें किसी बड़े शहर में पढ़ने के लिए भेज सकता। तुम क्या से क्या बन जातीं!"

दूइशेन तेज़ी से डग भरता हुआ नदी की ओर चला गया।

आज भी उसकी आकृति मेरी आंखों के सामने आ जाती है–उस पथरीली, कोलाहलमयी नदी के किनारे खड़ा, सिर के पीछे दोनों हाथ बांधे, चमकती आंखों से, दूर, सामने की ओर देखे जा रहा था, जहां हवा सफ़ेद बादलों को पहाड़ों के ऊपर से उड़ाये लिये जा रही थी।

उस घड़ी वह क्या सोच रहा था? शायद, सचमुच अपने सपनों में उसने

मुझे किसी बड़े शहर में पढ़ने के लिए भेज दिया था? उस समय, दूइशेन के ग्रेटकोट को अपने इर्द-गिर्द लपेटती हुई, मैं सोच रही थी, "कितना अच्छा होता अगर मास्टर जी मेरा सगा भाई होता! कितना अच्छा होता अगर मैं उनकी गर्दन में बाहें डालकर उन्हें छाती से लगा लेती और आंखें मूंदकर उनके कान में सुन्दर से सुन्दर शब्द फुसफुसाकर कहती! हे भगवान, इन्हें मेरा सगा भाई बना दो!"

मैं सोचती हूं कि हम अपने अध्यापक को उसकी मानवीयता के कारण, उसके शुभ विचारों के कारण, हमारे भविष्य सम्बन्धी उसके विचारों के कारण ही प्रेम करते थे। हम उस समय बच्चे थे, फिर भी मैं सोचती हूं कि हम इस बात को अच्छी तरह से समझते थे। वरना हमारे लिए कौन-सी मजबूरी थी कि हम इतनी दूर गहरी बर्फ़ और अंधड़ों में से पहाड़ी की तीखी ढलान पर चढ़कर स्कूल जायें, कौन-सी मजबूरी थी कि उस ठिठुरन भरी कोठरी में बैठें, जहां सर्दी के कारण जमी सांस की चेहरे, हाथों और कपड़ों पर सफ़ेद तह जम जाती थी। कोई हमें धकेलकर वहां नहीं ले जाता था, हम स्वयं स्कूल में जाया करते थे। वहां केवल बारी-बारी से हम अंगीठी के पास जाकर अपने को गरमाते और अन्य विद्यार्थी अपनी-अपनी जगह पर बैठे, दूइशेन से पाठ पढ़ा करते थे।

ऐसे ही एक दिन, कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी। जनवरी के अन्तिम दिन थे, जैसा कि अब मैं जानती हूं, हमेशा की तरह दूइशेन ने हमें घर-घर जाकर इकट्ठा किया और स्कूल ले गया। इस बार वह चुपचाप, कठोर मुद्रा में चल रहा था – उक़ाब के पंखों की तरह तनी हुई भौंहें और काले, तपे लोहे से ढला हुआ चेहरा। हमने अपने अध्यापक को कभी भी इस रूप में नहीं देखा था। उसे देखकर हम भी चुप हो गये, हमें लगा जैसे कोई बुरी बात हो गयी है।

सड़क पर जब बर्फ़ के बड़े-बड़े ढेर सामने आ जाते, तो आम तौर पर दूइशेन आगे-आगे रास्ता बनाता हुआ जाता और उसके पीछे मैं जाती और मेरे पीछे छोटे लड़के-लड़कियां आते। अब की बार भी जब हम पहाड़ी के दामन में पहुंचे, जहां एक ही रात में बर्फ़ के ढेर इकट्ठे हो गये थे, तो दूइशेन आगे-आगे जाने लगा। कभी-कभी इनसान की पीठ को देखकर इस बात का पता चल जाता है कि उसके दिल की क्या कैफ़ियत है। कोई क्लेश उसके दिल को मथ रहा था। वह सिर झुकाये चला जा रहा था और बड़ी कठिनाई से पांव घसीट

रहा था। मुझे आज भी याद है, बारी-बारी से भयानक काली और सफ़ेद झांइयां-सी मेरी आंखों के सामने आ रही थीं: हम एक के पीछे एक टीले पर चढ़ रहे थे – काले ग्रेटकोट के नीचे दूइशेन की पीठ झुकी हुई थी और उसके ऊपर ढलान के साथ-साथ ऊंट की पीठ की भांति सफ़ेद बर्फ़ के तूदे झुके हुए थे। तेज़ हवा उनपर से बर्फ़ की पतली परत को उड़ाये लिये जा रही थी। उससे भी ऊपर – सफ़ेद धुंधले आकाश में अकेला काला बादल मंडरा रहा था।

स्कूल में प्रवेश करने पर दूइशेन ने अंगीठी नहीं जलायी।

"खड़े हो जाओ," उसने हुक्म दिया। हम सब खड़े हो गये। "सिर पर से टोपियां उतार लो।"

हमने टोपियां उतार दीं। उसने भी अपनी फ़ौजी टोपी उतार ली। हम नहीं समझ पा रहे थे कि क्या बात है। तब मास्टर जी ने कांपती, टूटती हुई-सी आवाज में कहा –

"लेनिन का देहान्त हो गया है। दुनिया भर में लोग इस वक़्त शोक मना रहे हैं। और तुम भी अपनी-अपनी जगह पर खड़े रहो, दम साधे रहो। इधर इस चित्र की ओर देखो। यह दिन तुम्हें सदा याद रहे।"

हमारे स्कूल में उस वक्त ऐसी चुप्पी छायी थी, मानो वह बर्फ़ के ढेर के नीचे दबा पड़ा हो। हमें सुनाई दे रहा था कि किस भांति हवा दरारों में से अन्दर आ रही है; किस भांति बर्फ़ के कण सरसराते हुए पुआल पर गिर रहे हैं।

उस समय जब चहल-पहल से भरे नगर मौन हो गये, घरघराते कारख़ाने चुप हो गये, दहाड़ती हुई रेलगाड़ियां सहसा खड़ी हो गयीं, संसार भर पर गहरा मातम छा गया, उस शोकपूर्ण घड़ी में, हम लोग – जनता के एक भाग का छोटा-सा कणमात्र – दम साधे अपने अध्यापक के साथ उस अनजानी ठिठुरनभरी कोठरी में, जो नाम से स्कूल कहलाती थी, मातम मना रहे थे और मन ही मन लेनिन के अनुयाइयों में अपने को सबसे नज़दीकी, सबसे अधिक दुःखी मानते हुए लेनिन को विदा कर रहे थे। और हमारे लेनिन ढीली-ढाली, फ़ौजी जाकेट पहने, ज़ख़्मी बाजू पट्टी में लटकाये , दीवार पर से हमारी ओर पहले की ही भांति देखे जा रहे थे। वह अपनी उज्ज्वल, निर्मल दृष्टि से पहले की ही भांति हमसे कह रहे थे, "काश कि तुम जानते, बच्चो, कैसा उज्ज्वल भविष्य तुम्हारी राह देख रहा है!" और उस निस्तब्ध क्षण में लगा जैसे वह वास्तव में मेरे भविष्य के बारे में सोच रहे हैं।

दूइशेन ने आस्तीन से अपनी आंखें पोंछीं और हमसे कहा –

"आज मैं हलक़ा केन्द्र चला जाऊंगा। मैं पार्टी में अपना नाम लिखवाने जा रहा हूं। तीन दिन के बाद लौटूंगा।"

मेरे लिये ये तीन दिन उस जाड़े के कठोरतम दिन थे। लगता था जैसे कोई महती शक्तियां पृथ्वी पर उस महान व्यक्ति के स्थान की पूर्ति करने का प्रयास कर रही हैं; जो संसार से उठ गया हैः अशान्त हवाएं ढलानों पर गूंज रही थीं, बर्फ़ के अंधड़ चल रहे थे, पाला लोहे की तरह घनघना रहा था. .. प्रकृति की अन्धी ताक़तें बेचैनी से छटपटा रही थीं, धरती के साथ सिर पटक-पटककर रो रही थीं...

पहाड़ के दामन में, घने बादलों से ढके हमारे गांव पर मौन छा गया। चिमनियों में से धुएं की पतली-सी शिखाएं निकल रही थीं। लोग घरों से बाहर नहीं निकल रहे थे। इसके अलावा भेड़ियों के झुण्ड सहसा बड़े भयंकर हो उठे थे। वे बड़े उद्दण्ड हो गये थे, दिन के वक़्त स्तेपी से आकर सड़कों पर भागते-फिरते और रात के वक़्त गांव के निकट घूमा करते और दिन चढ़ने तक भूखी, दर्दनाक आवाज़ में चिल्लाते रहते।

किसी कारण मैं दूइशेन के बारे में घबरा उठी थीः ऐसी सर्दी में, बिना पोस्तीन के, अकेले एक ग्रेटकोट में वह कैसे वक्त काट रहा होगा? उस दिन, जब दूइशेन को लौटना था, मेरा माथा ठनका, मेरे दिल को जैसे कोई बात अन्दर ही अन्दर कुरेदने लगी। मैं बार-बार घर से बाहर भाग जाती और बर्फ़ से ढकी निर्जन स्तेपी की ओर आंखें फाड़-फाड़कर देखने लगतीः मास्टर जी कहीं सड़क पर तो नहीं है? कहीं भी कोई इनसान नज़र नहीं आ रहा था।

"कहां है वह, कहां है हमारे मास्टर जी? मैं विनती करती हूं, मास्टर जी, देर तक नहीं रुकिये, जल्दी लौट आइये! हम आपकी राह देख रहे हैं, सुनते हो आप, मास्टर जी, हम आपकी राह देख रहे हैं!"

स्तेपी ने मेरी निःशब्द पुकार का कोई उत्तर नहीं दिया, और मैं, न जाने क्यों, रो रही थी।

मेरे बार-बार बाहर जाने से चाची खीज उठी।

"आज तू दरवाज़ा तोड़कर ही रहेगी? बैठ जा अपनी जगह पर, धागा बट बैठकर। बच्चे ठिठुर रहे हैं। अब ज़रा बाहर झांककर तो देख!" उसने गरजकर कहा और उसके बाद मुझे घर से नहीं निकलने दिया।

शाम घिर आयी। मैं नहीं जानती थी कि दूइशेन लौटा है या नहीं। मैं बड़ी उद्विग्न हो उठी थी। कभी तो मैं यह सोचकर अपने को ढाढ़स बंधाती कि दूइशेन शायद गांव में पहुंच चुका है, अभी तक ऐसा कभी नहीं हुआ कि वह कहकर जाये कि इतने दिन में लौट आयेगा और न लौटे। फिर सहसा मुझे लगा जैसे वह बीमार पड़ गया है और धीरे-धीरे चलता आ रहा है, और बर्फ़ के अंधड़ में गिर पड़ा है, और रात के वक्त स्तेपी में रास्ता भटक गया है. .. मुझसे काम नहीं हो रहा था, मेरे हाथ मेरा कहा नहीं मान रहे थे, बार-बार धागा टूट जाता था। इसपर चाची बौखला उठी –

"आज तुझे क्या हो गया है? हाथ तेरे काठ के बने हैं क्या?" कनखियों से मेरी ओर देखते हुए उसने फुंकारकर कहा, और उसके बाद उसका धैर्य टूट गया। "अरी, तुझे मौत भी नहीं आती! यही अच्छा होगा कि जा और बुढ़िया साइकाल को उसका बोरा दे आ।"

चाची के कहने की देर थी कि मैं ख़ुशी से लगभग उछल पड़ी। बुढ़िया साइकाल के यहीं तो दूइशेन रहता था। बुज़ुर्ग साइकाल और करतनबाई मां की ओर से मेरे दूर-पार के सम्बन्धी थे। पहले मैं अक्सर उनके घर जाया करती थी और कभी-कभी रात को वहीं सो जाया करती थी। न जाने चाची को इस बारे में याद आ गया, या भगवान ने उसके मन में यह बात डाल दी, बोरा मेरे हवाले करते हुए बोली –

"आज तूने मेरी नाक में दम कर दिया है। क़हत के दिनों में जई का आटा भी क्या परेशान करेगा, जैसा तूने मुझे परेशान किया है। और अगर बुढ़ऊ तुझे वहीं रात रहने के लिए कहें, तो वहीं पड़ रहना। अब जाओ, मेरी आंखों से दूर हो जाओ..."

मैं भागती हुई आंगन में जा पहुंची। हवा जादू-टोना करनेवाले की भांति गरज रही थी। कुछ देर के लिए वह रुक जाती और उसके बाद वह फिर टूट पड़ती और मेरे तपते चेहरे पर मुट्ठियां भर-भरकर कंटीली बर्फ़ फेंकने लगती। मैंने बोरा बग़ल में दबा लिया और गांव के दूसरे छोर की ओर उसी रास्ते से भागकर जाने लगी, जिस रास्ते पर घोड़ों के खुरों के ताज़ा निशान नज़र आ रहे थे। मेरे मन में एक ही विचार घूम रहा थाः मास्टर जी लौट आये है या नहीं, मास्टर जी लौट आये है या नहीं?

मैं भागती हुई बुढ़िया के घर जा पहुंची। पर मास्टर जी वहां पर नहीं थे।

जब मैं हांपती हुई देहलीज़ पर सहसा एक बुत की तरह नमूदार हुई, तो साइकाल डर गयी –

"तुझे क्या हुआ है? ऐसे भागती हुई आयी है, क्या कोई बुरी ख़बर लायी है?"

"नहीं तो, यों ही चली आयी हूं। आपका बोरा देने आयी हूं। क्या मैं रात भर यहीं रह जाऊं, नानी?"

"रह जा, ज़रूर रह जा, मेरी लाड़ली। अरी, मैं तो कैसे डर गयी! कितनी बुरी है तू! तूने पतझड़ के बाद मुंह तक नहीं दिखाया। आग के पास बैठ जा, बदन गर्मा ले।"

"बुढ़िया, कड़ाही में गोश्त डाल दे। बेटी को खिला। और दूइशेन भी घण्टे भर में पहुंच जायेगा," करतनबाई बोला, जो खिड़की के पास बैठा पुराने फ़ेल्ट बूट गांठ रहा था। "उसे कब का घर पहुंच जाना चाहिए था, पर उसका कहीं पता नहीं। कोई बात नहीं, रात पड़ने तक लौट आयेगा। हमारा घोड़ा घर जल्दी लौटता है।"

देखते ही देखते, रात के पर्दों ने खिड़कियों को ढक लिया। मेरे कान बाहर की ओर लगे हुए थे, जब कभी कुत्तों के भूंकने या लोगों के बोलने की आवाज सुनायी देती, तो मेरा दिल धक्-धक् करने लगता। दूइशेन नहीं आया। हां, यह ज़रूर अच्छी बात थी कि साइकाल बतिया रही थी और इस भांति बहुत-सा वक़्त कट गया।

इस तरह उसकी राह देखते-देखते घण्टों बीत गये। आख़िर आधी रात बीत जाने पर करतनबाई थक गया –

"बिस्तर बिछा दो, बुढ़िया, आज वह नहीं आयेगा। देर हो गयी है। अधिकारियों के पास काम की क्या कमी है, रोक लिया होगा। यही वजह होगी, नहीं तो कब का घर पहुंच गया होता।" और बूढ़े ने अपने जूते गांठना बन्द कर दिया।

मेरे लिए अंगीठी के पास, कोने में बिस्तर लगा दिया गया। पर मैं सो नहीं पायी। बूढ़ा खांसता-खंखारता और प्रार्थना के शब्द बुदबुदाता रहा और बाद में परेशान होकर बड़बड़ाया –

"न जाने मेरा घोड़ा किस हालत में है? भूसे का तिनका तक बिना पैसे के नहीं देंगे और पैसे दो, तो भी जई का दाना कोई नहीं देता।"

थोड़ी देर में करतनबाई सो गया, पर हवा परेशान करने लगी। वह जैसे टटोल-टटोलकर चल रही थी, अपनी पांचों खुरदरी उँगलियों से छत की ओलती को हिला रही थी और शीशों को खरोंच रही थी। मैं सुन रही थी कि आंगन में किस भांति अंधड़ दीवारों को पीटे जा रहा था।

बूढ़े के शब्दों से मेरी दिलजमई नहीं हुई। मुझे लग रहा था कि मास्टर जी आ रहे हैं, मैं उन्हीं के बारे में सोच रही थी और मन ही मन उन्हें बर्फ़ से ढके बीहड़ इलाके के बीच रास्ते पर चलते हुए देख रही थी। मैं विक्षुब्ध-सी नींद सो गयी। नहीं जानती, कितनी देर तक मेरी आंख लगी रही, जब सहसा मैं सिर से पांव तक कांप उठी: एक गुनगुनाती हुई, दबी-दबी सी-गुर्राने की आवाज़ ज़मीन पर से उठी और लम्बी खिंचती हुई हवा में जमकर रह गयी। भेड़िया! एक नहीं, बहुत-से भेड़िये थे! अलग-अलग दिशाओं से वे एक दूसरे को आवाज़ देते हुए बड़ी तेज़ी से नज़दीक आ रहे थे। उनकी आवाज़ें और चीख़ोपुकार एकसाथ घुल-मिलकर स्तेपी में इधर से उधर घूम रही थीं, हवा के साथ कभी नज़दीक आ जातीं, कभी दूर निकल जातीं। कभी-कभी लगता जैसे भेड़िये कहीं बिल्कुल ही निकट, गांव के छोर पर आ गये हैं।

"बर्फ़ के अंधड़ को पुकार रहे हैं," बुढ़िया ने फुसफुसाकर कहा।

बूढ़ा चुप रहा और कान लगाकर सुनने लगा, फिर बिस्तर पर से उछल पड़ा –

"नहीं, बुढ़िया, यह इतनी सीधी-सी बात नहीं है, भेड़िये किसी के पीछे पड़े हुए हैं, किसी इनसान को या किसी घोड़े को घेर रहे हैं। सुनती हो? भगवान भला करे, कहीं दूइशेन ही न हो। उसे किसी का डर-भय नहीं है, पागल कहीं का।" करतनबाई बेचैन हो उठा और अन्धेरे में खाल का कोट टटोलने लगा: "रोशनी करो, लैम्प जलाओ, बुढ़िया! जल्दी करो, भगवान तुम्हारा भला करे!"

भय से कांपते हुए हम उठ खड़े हुए और अभी बुढ़िया ने लैम्प ढूंढ़ा ही था और आग जलाकर रोशनी की ही थी कि भेड़ियों का भयंकर चीत्कार फ़ौरन बन्द हो गया।

"दबोच लिया!" करतनबाई चिल्लाया और बैसाखी उठाकर दरवाज़े की ओर लपका, लेकिन उसी वक्त कुत्ते भूंकने लगे। कोई आदमी भागता हुआ, कटकटाती बर्फ़ को रौंदता हुआ आया और बड़े ज़ोर और अधीरता के साथ दरवाज़ा खटखटाने लगा।

सर्दी के कारण आंगन में से सफ़ेद हवा का झोंका अन्दर आया। जब वह छंट गया, तो हमें दूइशेन नज़र आया। उसका चेहरा एकदम फक था, उसकी सांस फूल रही थी। उसने देहरी को लांघा और लड़खड़ाते हुए दीवार का सहारा लेकर खड़ा हो गया।

"बंन्दूक!" उसने हांपते हुए कहा।

हमने मानो उसके शब्द को समझा ही नहीं था। मेरी आंखों के आगे अन्धेरा छा गया, मुझे केवल बूढ़ों का बुदबुदाना सुनायी दिया –

"काली भेड़ – कुर्बान करूंगा, सफ़ेद भेड़ – कुर्बान करूंगा! तुम्हें पवित्र बाउबेदिन सलामत रखे। क्या यह तुम्ही हो?"

"बन्दूक़, बन्दूक़ दो!" दूइशेन ने फिर कहा।

"नहीं है बन्दूक़, कहां जा रहे हो?"

बूढ़े पति-पत्नी ने दूइशेन को कन्धों से पकड़ लिया।

"कोई लाठी ही दे दो।"

परन्तु उन्होंने इसरार किया –

"तुम बाहर कहीं नहीं जाओगे, जब तक हम जीते हैं, तुम बाहर नहीं जाओगे। पहले हमें मार डालो, फिर जहां मन आये जाना!"

सहसा मुझे मेरे सारे बदन में एक अजीब-सी शिथिलता का भास हुआ और मैं चुपचाप जाकर बिस्तर पर पड़ रही।

"नहीं पहुंच पाया, घर तक पीछा करते रहे।" कोड़े को कोने में फेंकते हुए दूइशेन ने ज़ोर से सांस लिया। "घोड़ा रास्ते में ही थककर चूर हो गया था। और जब भेड़ियों ने पीछा किया, तो वह भागता हुआ गांव तक पहुंचा और वहीं ढेर हो गया। वहीं भेड़िये उसपर टूट पड़े।"

"कोई ग़म न करो घोड़े का। ग़नीमत है कि तुम ज़िन्दा बच गये। अगर घोड़ा नहीं गिरता, तो वे तुम्हें कब छोड़नेवाले थे! सब के रक्षक बाउबेदिन की दया से यह मामला इस तरह ख़त्म हुआ है। अब कपड़े उतारकर आग के पास बैठ जाओ। लाओ, तुम्हारे बूट उतार दूं," करतनबाई इधर-उधर दौड़-धूप करने लगा, "और तुम बुढ़िया, जो कुछ खाने के लिए घर में है, गर्म कर दो..."

वे आग के पास बैठ गये और तब करतनबाई ने चैन की सांस ली।

"चलो, जो होना था, हो गया। पर तू इतनी देर से वहां से क्यों चला था?"

"दादा, हलक़ा-केन्द्र की पार्टी-समिति की बैठक बहुत देर तक चलती रही। मैं पार्टी में दाख़िल हो गया हूं।"

"बड़ी अच्छी बात है। अच्छा होता कि अगले दिन सुबह को वहां से चलता। तुम्हें कोई बन्दूक़ के कुंदे से सड़क की ओर धकेल तो नहीं रहा था।"

"मैंने बच्चों को वचन दिया था कि मैं ज़रूर आज लौट आऊंगा, दूइशेन ने जवाब दिया, "कल हमें जरूर पढ़ाई शुरू कर देनी है।"

"पगला कहीं का!" करतनबाई उठकर बैठ गया और ग़ुस्से के कारण ज़ोर-ज़ोर से सिर हिलाने लगा। "सुनती हो, बुढ़िया? देखती हो, इसने इन बच्चों को, इन पिल्लों को वचन दे रखा था! भाड़ में जायें ये सब! और अगर तुम ज़िन्दा ही न बचते, तो? ज़रा सोचो, दिमाग़ से काम लो, तुम कह क्या रहे हो?"

"यह मेरा कर्तव्य है, मेरा काम ही है, दादा। पर बात दरअसल दूसरी है। आम तौर पर मैं पैदल जाया करता हूं, अब की बार शैतान ने दिमाग़ पर ऐसा पर्दा डाला कि आपसे घोड़ा मांग ले गया और भेड़ियों के हवाले कर आया..."

"छोड़ो इस बात को, भाड़ में जाये घोड़ा। बिल्कुल निकम्मा घोड़ा था। उसकी क़ुर्बानी देकर हमने तुम्हें पाया है!" करतनबाई ने उत्तेजित होकर कहा। "सारी उम्र घोड़े के बिना रहा, अब भी उसके बिना मर नहीं जाऊंगा। और सोवियत सत्ता क़ायम है, मुझे और मिल जायेगा..."

"ठीक कह रहे हो, दादा," रुंधे हुए गले से साइकाल बोली, "हमें और मिल जायेगा... आओ बेटा, जब तक खाना गरम है, इसे खा लो..."

वे चुप हो गये। पर मिनट भर बाद उपलों की आग को ठीक करते हुए करतनबाई कुछ सोचकर बुदबुदाया –

"मैं देखता हूं, दूइशेन, तुम कम-अक़्ल नहीं हो, अच्छे समझदार लड़के हो। पर मैं यह नहीं समझ पाता कि तुम इस स्कूल को और इन अल्हड़ बच्चों को लेकर किस लिए भटक रहे हो? क्या तुम्हें कोई और काम नहीं मिलता? गर्मियों में तुम्हें किसी के यहां चरवाहे का काम मिल सकता है, आराम से रहोगे..."

"मैं तुम्हारी बात समझता हूं, दादा, तुम मेरे अपने हो, मेरा भला चाहते हो। पर अगर ये अल्हड़ बच्चे भी बड़े होकर वही कुछ कहें, जो तुम कहते हो कि स्कूल की कोई ज़रूरत नहीं, पढ़ाई-लिखाई की हमें क्या ज़रूरत है, तो सोवियत

सत्ता का काम बहुत आगे नहीं बढ़ पायेगा। और तुम तो चाहते हो न, कि वह क़ायम रहे, ज़िन्दा रहे। फिर, दादा, मेरे लिये स्कूल बोझ नहीं है। अगर मैं बच्चों को ज़्यादा अच्छी तरह से और कहीं अधिक पढ़ा पाऊं तो मेरी इससे बड़ी कोई ख़्वाहिश नहीं है। लेनिन ने इसी बात की चर्चा की है...''

''हां, मुझे याद आया,'' करतनबाई बीच में बोल उठा और कुछ देर चुप रहकर कहने लगा, ''तुम जो इतने दुःखी हो, पर अपने आंसुओं से तुम लेनिन को ज़िन्दा तो नहीं कर सकते! काश कि संसार में ऐसी कोई ताक़त होती, जो उसे ज़िन्दा कर पाती! या क्या, तुम समझते हो कि और लोगों को दुःख नहीं है, उनके चले जाने पर और लोग शौक नहीं मना रहे हैं? तुम मेरी पसलियों के नीचे झांककर देखो, मेरा दिल टूक-टूक हो रहा है। मैं नहीं जानता कि यह तेरे विचारों से मेल खाता है या नहीं, लेनिन दूसरे मत को माननेवाले थे, लेकिन मैं दिन में पांच बार उनके लिए नमाज़ पढ़ता हूं। पर मैं सोचता हूं, दूइशेन, हम कितना भी उनके लिए शोक मनाएं, हम उनका ऋण नहीं चुका सकते। मैं तो बूढ़ा हूं, बूढ़ों की तरह सोचता हूं। मैं तो कहूंगा, जनता के बीच लेनिन अब भी ज़िन्दा हैं, जैसे बाप का ख़ून बच्चों में जाता है, वैसे ही लेनिन पीढ़ी-दर-पीढ़ी ज़िन्दा रहेंगे...''

''ख़ूब कहा, दादा, धन्यवाद , तुम ठीक ही सोचते हो। लेनिन ने आंखें बन्द कर ली हैं, हमारे बीच से चले गये, पर हम उन्हीं की कसौटी से ज़िन्दगी को परखेंगे...''

मैं इस वार्तालाप को सुनती हुई धीरे-धीरे संभल गयी। शुरू-शुरू में तो सब कुछ एक स्वप्न-सा लगता था। बड़ी देर तक मुझे इस बात का विश्वास नहीं हो पाया कि दूइशेन सही-सलामत लौट आया है। फिर वसन्त की झड़ी की भांति, अनवरत और अबाध हर्ष, मेरे उन्मुक्त हृदय में फूट पड़ा, और उसके स्निग्ध प्रवाह में मेरा गला रुंध गया और मैं फफक-फफककर रोने लगी। संभव है कि कभी कोई भी इतना खुश नहीं हुआ होगा, जितनी मैं थी। उस घड़ी मेरे लिए किसी चीज़ का अस्तित्व नहीं थाः बड़े-बूढ़ों के इस घर का, बाहर तूफ़ानी रात का, भेड़ियों के झुण्ड का, जो गांव के छोर पर करतनबाई के एकमात्र घोड़े की बोटी-बोटी नोच रहे थे – किसी बात का अस्तित्व नहीं था! अपने दिल और चेतना की समस्त अनुभूति के साथ मैं उस असाधारण सुख का अनुभव कर रही थी, जो प्रकाश की भांति असीम और अनन्त था। मैंने सिर ढक लिया

और मुंह को कसकर बन्द कर लिया ताकि कोई सुन नहीं पाये, पर फिर भी मैं अपने रुदन को छिपा नहीं सकी।

''अंगीठी के पास कौन रो रहा है?'' दूइशेन ने पूछा।

''आल्तीनाई है, अभी डर गयी थी, इसी लिए रो रही है,'' साइकाल ने कहा।

''आल्तीनाई? वह कहां से आ गयी?'' दूइशेन उठ खड़ा हुआ और मेरे सिरहाने घुटनों के बल बैठकर मेरा कन्धा हिलाने लगा। ''तुझे क्या हुआ है, आल्तीनाई? रो क्यों रही है? बता तो मुझे।''

मैं और भी फूट-फूटकर रोने लगी। मुंह दीवार की ओर फेर लिया, आंसू पहले से भी ज़्यादा तेज़ी के साथ बहने लगे।

''वाह आल्तीनाई, यों भी कोई डर जाता है? ऐसे भी कभी हो सकता है, देखो तो तुम कितना बड़ी हो, फिर भी रोती हो...ज़रा देखो मेरी तरफ़...''

मैं दूइशेन से लिपट गयी और उसके कन्धे में अपना आंसुओं से तर, तपता हुआ चेहरा छिपाते हुए बेबस होकर रोती रही। मेरे आंसू रोके नहीं रुकते थे। सुख के ज्वार में मेरा अंग-अंग टूट रहा था। मुझमें इतनी ताक़त नहीं थी कि उसपर काबू पा सकू।

''उसका दिमाग़ तो नहीं हिल उठा?'' करतनबाई बेचैन हो उठा और नमदे से उठ खड़ा हुआ। ''बुढ़िया, मन्तर पढ़ो, जल्दी करो, ख़ुदा उसको सलामत रखे...''

सभी सहसा भाग-दौड़ करने लगे। साइकाल मन्तर पढ़ने और झाड़-फूंक करने लगी, मेरे मुंह पर गर्म और ठण्डे पानी के छींटे दिये, मुझे भाप दी और खुद मेरे साथ मिलकर रोने लगी। काश कि उन्हें मालूम होता कि महान सुख के कारण मेरा ''दिमाग़ हिल उठा है'', मुझमें इतनी ताक़त नहीं थी कि मैं इस बारे में उन्हें बता पाती।

जब तक मेरा चित्त शान्त नहीं हुआ और मैं सो नहीं पायी, दूइशेन मेरे पास बैठा रहा और धीरे-धीरे अपने शीतल हाथ से मेरे तपे हुए माथे को सहलाता रहा।

...जाड़ा अपने ख़ेमे उखाड़कर दर्रे के पार चला गया। वसन्त अपने नीले झुण्ड दौड़ाता हुआ आ गया। मैदानों की पिघलती, नमदार ज़मीन पर से गर्म,

नम हवाएं — अदृश्य, छलछलाती नदी की तरह बहने लगी। ये हवाएं, पृथ्वी, वसन्त और ताज़ा दूध की महक से लदी थीं। पहाड़ों पर बर्फ़ अस्थिर होने लगी। बर्फ़ के ढेर बैठने लगे, झरने कल-कल ध्वनि करने लगे और रास्तों में एक दूसरे में मिलते हुए तूफ़ानी, प्रलयकारी नदियों का रूप लेकर, बड़े गर्जन-तर्जन के साथ, क्षत-विक्षत दरों में से अपना रास्ता बनाते हुए बहने लगे।

शायद यह मेरे यौवन का पहला वसन्त था। जो भी हो, यह वसन्त मुझे सबसे सुन्दर लगा, पहले सभी वसन्तों की तुलना में सबसे श्रेष्ठ। उस टीले पर से, जहां हमारा, स्कूल था, वसन्त का अद्भुत संसार आंखों के सामने खुलता था। पृथ्वी मानो अपनी बांहें फैलाये पहाड़ों पर से भाग चली और रुकना जैसे कि उसके बस की बात नहीं थी, इसलिए धूप में चमकती और हल्की-हल्की मायावी धुन्ध में लिपटी, स्तेपी की झिलमिलाती रजत दूरियों की ओर भागने लगी। दूर, बहुत दूर, बर्फ़ पिघलने पर झीलों की नीलिमा निखर आयी थी, दूर, बहुत दूर, घोड़ों के झुंड के झुंड ज़ोर-ज़ोर से हिनहिनाने लगे थे। दूर, बहुत दूर, सारसों के क़ाफ़िले, परों पर सफ़ेद बादलों के टुकड़े उठाये, उड़ चले थे। ये सारस कहां से उड़े थे और कहां इतनी हृदयविदारक, इतनी ऊंची आवाज़ में पुकार रहे थे?

वसन्त के आगमन पर हम पहले से अधिक हंसने-चहकने लगीं, एक दूसरे के पीछे दौड़ती और पढ़ाई के बाद स्कूल से लेकर गाँव तक हँसती-खेलती, शोर मचाती भागती चली जाती थीं। चाची को यह अच्छा नहीं लगता था, वह सचमुच डाह करती थी और मुझे बुरा-भला कहने का कोई मौक़ा हाथ से नहीं जाने देती थी।

"कलमुंही, सारा वक़्त क्या कूदती-फिरती है? तुझे इसकी ज़रा भी फ़िक्र नहीं कि अभी तक कुंवारी बैठी है। भले लोगों के घरों में तेरी उम्र की लड़कियों के ब्याह हो चुके होते हैं, घर में समधी और रिश्तेदार बढ़ जाते हैं, और तुझे ले देकर... यह स्कूल मिला है... पर ठहर, मैं तुझे सीधा करूंगी..."

सच कहूं तो चाची की इन धमकियों का मेरे दिल पर बहुत असर नहीं होता था: यह कोई नयी बात न थी, हमेशा वह इसी तरह कोसा-कासी करती रही थी। यह कहना कि मैं अभी तक कुंआरी बैठी हूं, मेरे साथ अन्याय करना था। सच तो यह है कि उसी वसन्त से मेरा क़द-बुत बढ़ने लगा जो था।

"तू अभी भी उलझे बालोंवाली भोली-भाली लड़की हैं," दूइशेन हंसकर कहता, "और लगता है कि तेरे बाल भी तो कत्थई रंग के हैं!"

उसके शब्दों से मैं बिल्कुल नाराज़ नहीं होती थी। "में ज़रूर उलझे बालोंवाली हूं," मैं सोचती थी, "लेकिन मेरे बाल पूर्णतः कत्थई रंग के नहीं हैं! पर जब मैं सचमुच बड़ी हो जाऊंगी, सचमुच दुलहिन बन जाऊंगी, तो क्या मैं ऐसी ही रहूंगी जैसी अब हूं? तब मेरी चाची को पता चलेगा कि मैं कितनी ख़ूबसूरत हूं। दूइशेन कहता है कि मेरी आंखें तारों की तरह चमकती हैं और मेरा चेहरा बड़ा खुला-खुला है।"

एक दिन मैं स्कूल से भागती हुई घर आयी। आंगन में खंम्भों के साथ दो अपरिचित-से घोड़े बंधे थे। उनके ज़ीनों और साज़ों को देखते हुए जान पड़ता था कि उनके मालिक पहाड़ पर से आये हैं। कभी-कभी वे बाज़ार से आते हुए या पनचक्की की ओर जाते हुए रास्ते में हमसे मिलने आ जाया करते थे।

देहरी से ही चाची की बनावटी, कानों के पर्दे फाड़नेवाली हंसी सुनाई दे रही थी। "बहुत उदास नहीं होओ, मेरे लाड़ले, तुम नुक़्सान में नहीं रहोगे। जब कबूतरी हाथ में आयेगी, तो मेरे गुण गाओगे। ख़ी-ख़ी-ख़ी!" जवाब में हां में हां मिलाती हुई, ज़ोरों से हंसने की आवाज़ें आ रही थीं, पर ज्यों ही मैंने देहरी पर क़दम रखा, सभी चुप हो गये। घर के अन्दर, नमदे पर बिछे दस्तरख़ान पर, एक ठूंठ की भांति लाल-लाल चेहरे वाला एक भारी-भरकम आदमी बैठा था। उसने सिर पर लोमड़ी की खाल की टोपी पहन रखी थी, जो उसके पसीने से तर माथे को नीचे तक ढके हुए थी। उसने टोपी के नीचे से, कनखियों से मेरी ओर देखा और खांसते हुए अपनी पलकें झुका ली।

"बेटी लौट आयी हो, आओ, मेरी लाड़ली, अन्दर आ जाओ," अपनी बत्तीसी निपोड़ते हुए चाची ने बड़े दुलार के साथ मेरा स्वागत किया।

चचा जी और एक अपरिचित व्यक्ति नमदे के एक किनारे पर अलग बैठे थे। वे ताश खेल रहे थे। जब वे पत्ते फेंकते, तो उनके सिर बड़े अजीब ढंग से हिलते थे। दोनों नशे में थे, वोदका पी रहे थे और बेशबार्माक* खा रहे थे।

सुरमई रंग की हमारी बिल्ली चुपके से दस्तरख़ान के निकट आयी, तो लाल चेहरे वाले आदमी ने अपनी हड़ीली उंगलियों से बिल्ली के सिर पर इतने ज़ोर से घूंसा मारा कि बिल्ली बड़े ज़ोर से चीख़ी और एक ओर को उछलकर

* बेशबार्माक — भेड़ के गोश्त का व्यंजन। — सं०

कोने में जा छिपी। वह दर्द से छटपटायी। मेरा मन हुआ कि वहां से चली जाऊं, लेकिन मैं नहीं जानती थी कि कैसे जाऊं। चाची ने स्थिति संभाल दी –

"बेटी," वह बोली, देगची में खाना रखा है, अभी खा लो, बाद में ठण्डा हो जायेगा।"

मैं चली गई, पर चाची का ऐसा व्यवहार मुझे बिल्कुल अच्छा नहीं लगा। दिल ही दिल में मैं कुछ चौकस हो गयी और परेशान भी हुई।

कोई दो घण्टे बाद दोनों मेहमान घोड़ों पर बैठकर पहाड़ों की ओर चले गये। और चाची ने उसी वक़्त मुझे फिर रोज़ की तरह फटकारना शुरू कर दिया; इससे मेरा मन आश्वस्त हुआ। इसका मतलब कि चाची नशे में ही इतनी मेहरबान थी – मैंने मन ही मन निश्चय किया।

इसके कुछ ही दिन बाद बुढ़िया साइकाल हमारे घर आयी। मैं उस वक़्त आंगन में थी, पर जब उसने सहसा धीमी आवाज में कहा कि "ख़ुदा तुझे सलामत रखे, बच्ची को ज़िन्दा दफ़ना रही हो!", तो ये शब्द मेरे कान में पड़ गये।

एक दूसरी की बात काटती हुई, चाची और साइकाल बड़ी गर्मागर्मी से किसी विषय पर झगड़ती रहीं और उसके बाद बुढ़िया, भुनभुनाती हुई, नाराज़ होकर, वहां से चली गयी। उसने मेरी ओर बड़ी क्षुब्ध और अनुकम्पा भरी आंखों से देखा और चुपचाप चली गयी। मैं व्याकुल हो उठी। उसने क्यों मेरी ओर इस तरह देखा है, मैने कौन-सी ऐसी भूल की है, जिससे वह नाराज़ हो गयी है?

दूसरे दिन दूइशेन स्कूल में बड़ा उदास बैठा था। उसने बड़ी कोशिश की कि हमपर उसके चेहरे का भाव प्रगट न हो पाये, पर किसी कारण वह बहुत ही खोया-खोया-सा था और मुझसे आंख चुरा रहा था। पाठ के बाद जब हम बच्चों की टोली स्कूल से निकली, तो दूइशेन ने मुझे पुकारा –

"ज़रा ठहरो, आल्तीनाई," मास्टर जी मेरे पास आया, एकटक मेरी आंखों में देखते रहे, फिर मेरे कन्धे पर हाथ रखकर बोले – "अपने घर नहीं जाना, समझी, आल्तीनाई?"

मैं सिर से पांव तक सिहर उठी और केवल तभी मेरी समझ में आया कि चाची मेरे साथ क्या करने जा रही थी।

"मैं ख़ुद जवाब दे लूंगा," दूइशेन बोला, "फ़िलहाल तुम हमारे यहां रहोगी। और बाहर जाओ भी तो मुझसे बहुत दूर नहीं रहना।"

शायद मेरे चेहरे का रंग उड़ गया था। दूइशेन ने मुझे ठुड्डी से पकड़कर मेरी आंखों में देखा और सदा की भांति मुस्कराकर बोला –

"डरो मत, आल्तीनाई! मैं तुम्हारे पास हूं, तुम्हें किसी बात का डर नहीं है। तुम पढ़ती जाओ, पहले की तरह स्कूल आती रहो, और किसी बात की चिन्ता नहीं करो... मैं जानता हूं कि तुम बड़ी डरपोक लड़की हो... हां, याद आया, कब से मैं तुम्हें एक बात बताना चाहता था," दूइशेन किसी दिलचस्प बात को याद करके हंस पड़ा।

"तुम्हें याद है, उस दिन ...दादा तड़के ही उठकर कहीं निकल गया। तुम क्या सोचती हो, कहां गया होगा? वह बुढ़िया जादूगरनी को बुला लाया, जायनाक की बुढ़िया को। मैंने पूछा, 'इसे क्यों लाये हो?' – 'यह मन्तर पढ़ेगी। आल्तीनाई का दिमाग़ जो डर के कारण अपनी जगह से हिल गया है।' मैंने कहा कि निकालो इसे घर से, इससे तुम बिना एक भेड़ दिये अपना पिण्ड नहीं छुड़ा पाओगे। और हम लोग इतने धनी नहीं हैं। घोड़ा भी हम भेंट नहीं कर सकते – उसे भेड़ियों की नज़र कर चुके हैं... तू अभी भी सो रही थी। इस तरह मैंने उस जादूगरनी को बाहर निकाला। इसके बाद दादा पूरा एक हफ़्ता मेरे साथ नहीं बोला, मुझसे रूठा रहा। कहता कि तूने मुझ बूढ़े के साथ छल किया। बूढ़ा और बुढ़िया दोनों बड़े अच्छे हैं, इतने नेकदिल लोग विरले ही मिलते हैं। चलो, अब घर चलें, आल्तीनाई, चलो..."

मैंने बहुतेरी कोशिश की कि अपने को काबू में रखूं और व्यर्थ मास्टर जी को परेशान न करूं, पर अन्दर ही अन्दर में बहुत व्याकुल हो उठी थी। वास्तव में मेरी चाची किसी भी वक्त वहां आ सकती थी और मुझे ज़बरदस्ती घसीटकर घर ले जा सकती थी, और वहां वे लोग जैसा चाहते मेरे साथ सुलूक करते, गांव भर में कोई उन्हें रोकनेवाला नहीं था। मैं क्षण भर के लिए भी नहीं सो पायी, मुझे सारा वक़्त इस बात का डर लगा रहा कि कोई मुसीबत आनेवाली है।

निश्चय ही, दूइशेन मेरी स्थिति को समझता था। और शायद इसीलिए मेरा मन बहलाने के लिए वह दूसरे दिन स्कूल में छोटे-छोटे दो पेड़ ले आया। पाठ के बाद वह मुझे हाथ से पकड़कर एक ओर ले गया।

"अब, आल्तीनाई, हम एक काम करेंगे," उसने बड़े रहस्यपूर्ण ढंग से मुस्कराते हुए कहा। "ये छोटे-छोटे पोपलार के पेड़ मैं तुम्हारे लिए लाया हूं।

हम इन्हें यहां रोपेंगे। जब ये बड़े होंगे, ताक़त पकड़ेंगे, तो तुम भी बड़ी हो जाओगी, तुम भी कली की तरह खिल उठोगी और एक अच्छी इनसान बनोगी। तुम नेकदिल हो और तुममें ज्ञान की भूख है। मुझे हमेशा लगता है कि तुम एक दिन बहुत बड़ी विद्वान बनोगी। मुझे इसका पूरा यक़ीन है, तुम्हारे भाग्य में यह लिखा है। इस वक़्त तुम छोटी-सी लड़की हो, वैसी ही जैसे ये पोपलार के छोटे-छोटे पेड़ हैं। तो आओ, आल्तीनाई इन्हें अपने हाथ से रोपें।" मेरी कामना है कि शिक्षा का मार्ग ही तुम्हारा सुखमार्ग हो, मेरी आंखों के तारे..."

पेड़ इतने ही ऊंचे रहे होंगे, जितनी मैं थी, छोटे-छोटे पोपलार के पेड़, जिनके तने हल्के नीलगू रंग के थे। जब हमने स्कूल के निकट ही उन्हें रोप दिया, तो पहाड़ की ओर से हवा का झोंका आया और पहली बार इनके छोटे-छोटे पत्ते कांप उठे, लगता था जैसे पेड़ों में ज़िन्दगी की सांस चलने लगी हो। पत्ते कांप-कांप जाते, पोपलार के नन्हे पेड़ हिलते, हवा में झूमते ...

"देखो तो, कितने सुन्दर हैं!" दूइशेन ने पीछे हटते हुए हंसकर कहा। "अब उस झरने से यहां तक नाली खोदेंगे। फिर तुम देखोगी, ये पेड़ कितने सुन्दर निकलेंगे। वे इस टीले पर साथ-साथ इस तरह खड़े होंगे, जैसे दो भाई हों। और सभी को दिखाई देंगे। और नेकदिल लोग इन्हें देखकर ख़ुश हुआ करेंगे। तब आल्तीनाई, ज़िन्दगी का रूप कुछ दूसरा ही होगा। भविष्य इससे बहुत बेहतर होगा..."

दूइशेन के इस सौजन्य से मैं कितनी भाव-विह्वल हुई, बताने के लिये मेरे पास अब भी शब्द नहीं हैं। उस समय मैं वहां खड़ी उसकी ओर देखती ही रह गयी। मैं यों देखे जा रही थी, मानो पहली बार मुझे उसका चेहरा नज़र आ रहा हो कि वह कितना सुन्दर है, कितना कान्तिपूर्ण है। उसकी आंखों में कितनी विनम्रता, कितनी दयालुता है, मानो मुझे कभी भी मालूम न हुआ हो कि काम करते हुए उसके हाथ कितने मजबूत, कितने फुरतीले है, रोम-रोम पुलकित करनेवाली उसकी निष्कपट मुस्कान कितनी स्वच्छ है। तब एक नयी, अपरिचित भावना गहरी उत्तेजना के साथ मेरे दिल में उठी, उस अज्ञात संसार से, जो मेरे लिए अभी तक रहस्यपूर्ण बना हुआ था। और अन्दर ही अन्दर मैं यह कहने के लिए मचल उठीः "दूइशेन धन्यवाद तुम्हारा, इस बात के लिए कि तुम ऐसे नेक इनसान हो... मैं तुम्हें हृदय से लगा लेना चाहती हूं!" पर मैं साहस नहीं कर पायी, लज्जावश ये शब्द मुंह पर नहीं ला पायी। शायद, इन्हें कहना ज़रूरी था..."

परन्तु उस समय हम स्वच्छ आकाश के नीचे, पहाड़ की ढलानों के बीच, जिनपर वसन्त की हरी-हरी चादर बिछी थी, अपने विचारों में खोये टीले पर खड़े थे। उस घड़ी मैं उस ख़तरे को बिल्कुल भूल गयी, जो मेरे सिर पर मण्डरा रहा था। मैंने नहीं सोचा कि कल मेरे साथ क्या बीतेगी, मुझे इस बात का ध्यान नहीं आया कि आज, दूसरे दिन भी चाची मुझे ढूंढ़ने क्यों नहीं आयी, या उन लोगों ने मुझे बिल्कुल भुला दिया है, या मुझे चैन से रहने के लिए छोड़ दिया है? पर दूइशेन इस बारे में चिन्तित था। जब हम गांव की ओर गये, तो उसने मुझसे कहा –

"बहुत चिन्ता नहीं करना, आल्तीनाई, हम कोई न कोई रास्ता ढूंढ़ निकालेंगे। परसों में हलक़ा-केन्द्र जाऊंगा। वहां मैं तेरे बारे में बात करूंगा। संभव है मैं इस बात में कामयाब हो जाऊं कि वे तुझे पढ़ने के लिए शहर भेज दें। तू क्या सोचती है?"

"जैसा आप कहेंगे, मास्टर जी, वैसा ही करूंगी," मैंने जवाब दिया।

शहर क्या होता है, यह मेरी कल्पना से बाहर था, फिर भी मेरे लिए दूइशेन का कहा काफ़ी था ताकि मैं नये, नागरिक जीवन के सपने देखना शुरू कर दूं। कभी तो मैं उन अज्ञात बातों के कारण शंकित हो उठती, जो मेरी ताक में बैठी थीं, फिर कभी मेरी हिम्मत बंध जाती, एक शब्द में कहूं तो शहर मेरे दिमाग़ पर छाया हुआ था।

अगले दिन स्कूल में भी मैं उसी के बारे में सोच रही थी। मैं सोच रही थी कि शहर में मैं किसके पास रहूंगी। यदि कोई आश्रय देगा, तो मैं उसके लिये जलावन की लकड़ी काट दिया करूंगी, पानी ले आया करूंगी, कपड़े धो दिया करूंगी, सब काम, जो भी वे कहेंगे, कर दिया करूंगी। मैं इस तरह कक्षा में बैठी दिवास्वप्न देख रही थी कि सहसा चौंक उठी – हमारे जीर्ण-शीर्ण स्कूल की दीवारों के पीछे से घोड़ों की टापें सुनाई दीं। वे इतने अप्रत्याशित वहां प्रगट हुए थे, कि लगता था जैसे वे हमारे स्कूल को अभी तोड़-फोड़ डालेंगे। हम सभी सावधान हो गये। दूइशेन ने झट से कहा –

"तुम अपना काम करो, उधर कोई ध्यान न दो।"

उसी घड़ी हमारे स्कूल का दरवाज़ा धड़ से खुल गया। देहरी पर चाची खड़ी थी। एक द्वेषपूर्ण, ललकारती हुई-सी मुस्कराहट उसके चेहरे पर झलक रही थी। दूइशेन दरवाज़े की ओर गया –

"आप किस काम से यहां आयी हैं?"

"उस काम से, जिससे तुम्हारा कोई मतलब नहीं है। अपनी लड़की का ब्याह करूंगी। ऐ, बेघर लड़की!" और चाची मेरी ओर लपकी, लेकिन दूइशेन ने उसका रास्ता रोक दिया।

"यहां केवल स्कूली छात्राएं हैं और ब्याह कराने के लिए कोई लड़की नहीं है," उसने दृढ़ता और धैर्य से कहा।

"यह भी देख लेंगे! सुनो, इस कुतिया को पकड़ लो और घसीट ले चलो!" चाची ने एक आदमी की ओर हाथ हिलाकर कहा। यह वही आदमी था, जिसने लोमड़ी की खाल की टोपी पहन रखी थी, बैंगनी ठूंठ। उसके पीछे-पीछे दो आदमी घोड़ों पर से उतरकर तेज़ी से हमारी ओर आये। वे हाथों में लाठियां उठाये हुए थे।

दूइशेन अपनी जगह से नहीं हिला।

"बदजात कुत्ते, दूसरों की लड़कियों को यहां रखे हुए है, जैसे तेरी बीवियां हों? हट सामने से!" और लालमुंहा भालू की तरह झपटा। दूइशेन ने दरवाज़े के खम्भे को पकड़कर उसका रास्ता रोक दिया।

"तुम अन्दर नहीं आ सकते, यह स्कूल है!" उसने कहा।

"मैंने कहा था, न!" चाची चिल्लायी, "यह खुद मुद्दत से लड़की के साथ रह रहा है, मुफ़्त में इस कुतिया को फांस लिया है!"

"थूकता हूं मैं तेरे स्कूल पर!" लालमुंहे ने अपना कोड़ा उठाते हुए चिल्लाकर कहा, पर दूइशेन आगे बढ़ आया, ज़ोर से उसके पेट में लात जमायी और वह आदमी हाय-हाय करता लड़खड़ाकर गिर पड़ा। उसी वक़्त वे दोनों आदमी, जो हाथों में लाठियां उठाये हुए थे, दूइशेन पर टूट पड़े। बच्चे रोते-चिल्लाते मेरे पास आ गये। उन लोगों के प्रहारों के कारण दरवाज़ा टुकड़े-टुकड़े हो गया। अपने पीछे छोटे बच्चों को लिए मैं लड़नेवालों की ओर लपकी।

"मास्टर जी को छोड़ दो! उन्हें मत मारो! लो, मुझे पकड़ लो, मास्टर जी को मत मारो!"

दूइशेन खून से लथपथ हो रहा था, वह बड़ा भयानक और कठोर नज़र आ रहा था। उसने ज़मीन पर से दरवाज़े का तख़्ता उठा लिया और जोर से चिल्लाया –

"भाग जाओ बच्चो, गांव भाग जाओ! तुम भी भाग जाओ, आल्तीनाई!"

उसकी आवाज़ चीख़ की शक्ल में टूट गयी। उन्होंने दूइशेन का बाज़ू तोड़ दिया था। हाथ को छाती के साथ लगाये, दूइशेन पीछे हट गया, पर वे लोग मतवाले बैलों की भांति दहाड़ते हुए निःसहाय दूइशेन पर टूट पड़े।

"मारो, मारो, सिर पर मारो, जान से मार डालो!"

उसी वक़्त लालमुंहा और क्रोध से उन्मत्त चाची मेरे पास लपककर आये। उन्होंने मेरी चोटी पकड़ी और घसीटते हुए आंगन में ले गये। मैं एक ओर को लपकी और क्षण भर के लिए मुझे त्रस्त बच्चों की चीख़-पुकार के बीच, लहू से लाल हो रही दीवार के पास दूइशेन दिखायी दिया।

"मास्टर जी!"

लेकिन दूइशेन किसी भांति भी मदद नहीं कर सकता था। वह अभी भी खड़ा था और घूंसों के बीच एक शराबी की भांति लड़खड़ा रहा था; जब भी वह सिर उठाने की कोशिश करता, तो वे उसे तड़ातड़ पीटने लगते। मुझे ज़मीन पर पटक दिया गया, रस्सी से मेरे हाथ बांध दिये गये। उसी वक़्त दूइशेन ज़मीन पर गिर पड़ा।

"मास्टर जी!"

पर मेरा मुंह बन्द कर दिया गया और मुझे उठाकर ज़ीन पर डाल दिया गया। लालमुंहा पहले से घोड़े पर बैठा था। उसने मुझे अपनी बांहों और छाती से दबा दिया। दूसरे दोनों आदमी भी घोड़ों पर सवार हो गये। चाची साथ-साथ भागती मेरे सिर पर घूंसे मारती रही।

"हाथ आ गयी न! अब मैंने तुझे निकाल बाहर किया! और तेरे उस्ताद का क़िस्सा ख़त्म ..."

पर क़िस्सा ख़त्म नहीं हुआ था। सहसा पीछे से भयानक और हताश-सी चीख सुनाई दी –

"आल्ती-ना-ई!"

मैंने बड़ी कठिनाई से सिर ऊपर उठाया, जो घोड़े की पीठ पर झूल रहा था, और पीछे की ओर देखा। दूइशेन हमारे पीछे-पीछे दौड़ता चला आ रहा था। मार-पीट से अधमरा, ख़ून से लथपथ। उसने हाथ में पत्थर उठा रखा था। और उसके पीछे-पीछे रोते-बिलखते हमारे स्कूल के सारे बच्चे दौड़े चले आ रहे थे।

"ठहरो, हैवानो! ठहरो! छोड़ दो इसे, छोड़ दो! आल्तीनाई!" हमारे निकट पहुंचता हुआ वह चिल्लाया।

ज़ालिम ज़रा रुक गये। दोनों घुड़सवार दूइशेन के इर्द-गिर्द घूमने लगे। अपने टूटे हुए बाज़ू की आस्तीन दांतों में दबाये, दूइशेन ने निशाना बांधकर पत्थर फेंका, मगर वह लगा नहीं। तब घोड़ों पर बैठे-बैठे ही उन्होंने दो प्रहारों से दूइशेन को पानी से भरे गढ़े में फेंक दिया। मेरी आंखों के सामने अंधेरा छा गया। मैं इतना भर देख पायी कि हमारे स्कूल के बच्चे भागते हुए मास्टर जी के पास आये हैं और भय के मारे वहीं के वहीं रह गये हैं।

मुझे याद नहीं कि वे लोग मुझे कैसे और कहां ले गये। मैंने जब आंखें खोली, तो मैं एक तम्बू में थी। तम्बू के ऊपरी खुले भाग में से शान्त और निश्चिन्त तारे झांक रहे थे। नज़दीक ही कहीं किसी नदी की कलकल ध्वनि आ रही थी। पड़ोस में ही भेड़ों के झुण्ड की रखवाली करनेवाले चरवाहों की आवाज़ें आ रही थीं। बुझी हुई अंगीठी के पास एक म्लान, ठूठ-सी बनी कृषकाय, मटमैले चेहरे वाली औरत बैठी थी। मैने मुंह फेर लिया : काश कि मैं अपनी नज़र से उस आदमी की जान ले लेती!

"कलमुंही, इसे उठाओ!" लाल चेहरे वाले ने हुक्म दिया।

काली औरत मेरे पास पायी, अपने कड़े, खुरदरे हाथ से मेरा कन्धा हिलाया।

"अपनी सौत को सही रास्ते पर लाओ। इसे समझाओ-बुझाओ, अगर नहीं मानेगी, तो भी मैं अपनी ही करूंगा।"

वह तम्बू में से बाहर चला गया। काली औरत अपनी जगह से नहीं हिली और मुंह से एक शब्द भी नहीं कहा। क्या मालूम वह गूंगी हो। ठण्डी राख जैसी उसकी बुझी हुई आंखें कुछ भी अभिव्यक्त न करते हुए देख रही थीं। ऐसे कुत्ते भी होते हैं, जिन्हें पिल्लों की उम्र में ही मारपीट कर दिया जाता है। दुष्ट लोग जो चीज़ हाथ लगे उसी से उनका सिर धुनते रहते हैं और इसका उन्हें अभ्यस्त बना देते हैं। मगर उनकी आंखों में ऐसी मायूसी और जड़ता आ जाती है कि उन्हें देखकर डर लगता है। काली औरत की मुर्दा-सी आंखों को देखते हुए मुझे लगा कि मैं ज़िन्दा नहीं हूं, बल्कि क़ब्र में हूं, और अगर नदी का शोर न सुनाई दे रहा होता, तो मैं इसमें विश्वास भी कर लेती। नदी का पानी छप-छप करता, शोर मचाता अपने पहाड़ी रास्ते पर चला जा रहा था। वह आज़ाद जो था...

हजार लानत है, चाची, तुम पर, – नीच कहीं की! मेरे आंसुओं में, मेरे

ख़ून में तुम डूब मरो! उस रात, पन्द्रह साल की उम्र में, मैं औरत बनी... उम्र में मैं उस अत्याचारी के बेटे-बेटियों से भी छोटी थी...

तीसरी रात मैंने निश्चय कर लिया कि जैसे-तैसे वहां से भाग जाऊंगी। भले ही रास्ते में ही मर जाऊं, भले ही मेरा पीछा करनेवाले मुझे आ पकड़ें, पर मैं आख़िरी दम तक उसी तरह लड़ूंगी, जिस तरह मेरा अध्यापक दूइशेन लड़ा था।

दबे पांव में अंधेरे मैं दरवाज़े की ओर गयी, उसे टटोलकर देखा। घोड़े के बालों की बनी रस्सियों की गांठें लगाकर उसे मज़बूती से बन्द कर दिया गया था। गांठें इतनी जटिल और पक्की लगी थीं कि उन्हें अंधेरे में खोलना नामुमकिन था। तब मैने तम्बू के नीचे से रेंगकर निकल जाने की कोशिश की। पूरा ज़ोर लगाया, जितना जूझ सकती थी, जूझी, पर तम्बू हिला तक नहीं, बाहर से वह रस्सों की मदद से ज़मीन के साथ बड़ी मज़बूती से बंधा था।

अब एक ही रास्ता बच रहा था कि कोई तेज़-सी चीज़ ढूंढूं और उससे दरवाज़े पर लगी रस्सी को काट डालूं। मैने चारों ओर ढूंढा, मगर लकड़ी के एक छोटे-से खूंटे के सिवा कुछ भी मेरे हाथ नहीं लगा। हताश होकर मैंने उसी से तम्बू के नीचे की ज़मीन खोदनी शुरू कर दी। कामयाबी की उम्मीद बहुत कम थी। पर मैंने इसकी परवाह नहीं की, मन में एक ही असाध्य विचार चक्कर काट रहा था, या तो यहां से निकल भागूंगी या मर जाऊंगी, मगर उसकी सुड़सुड़ गहरी नींद में डूबे इस आदमी के खर्राटे नहीं सुनूंगी, जब तक जान में जान है, यहां नहीं रहूंगी, मर जाऊंगी – आज़ाद होकर, लड़ते हुए मर जाऊंगी, मगर हार नहीं मानूंगी!

तोकोल – दूसरी बीवी। मुझे इस शब्द से कितनी घृणा है! किस व्यक्ति ने, किस बुरे ज़माने में इसे गढ़ा था? मनुष्य के भाग्य में इससे अधिक हीन, इससे अधिक दुःखद क्या होगा कि वह एक विवश दूसरी बीवी बने, शरीर और आत्मा से ग़ुलाम बने! जागो, अभागी स्त्रियो, अपनी क़ब्रों में से उठो, जनता के पद-दलित, दूषित, अबोधगम्य मानव-गौरव के प्रेतों के रूप में उठ खड़ी होओ! तिल-तिल कर मरनेवाली शहीदो, उठो, उस जमाने का अन्धकार भी कांप उठे! यह मैं कह रही हूं, जो दूसरी बीवी के दुर्भाग्य को लांघकर निकल जानेवाली तुम सब में से आख़िरी हूं!

उस रात मैं नहीं जानती थी कि इन शब्दों को कहना मेरे भाग्य में बदा

था। जड़प्राय मस्तिष्क से, पागलों की तरह मैं तम्बू के नीचे की ज़मीन खोदती रही। ज़मीन पथरीली निकली, खूंटे से मैं उसे खोद नहीं पा रही थी। इस पर मैंने उंगलियों के नाखूनों से थोड़ा-थोड़ा करके मिट्टी को खोदना शुरू किया। हाथ लहू-लुहान हो गये, पर मैं फिर भी सफल नहीं हो पायी—जब तम्बू के नीचे हाथ निकालने भर की जगह निकल आयी, तो पौ फूटने लगी। कुत्ते भूंकने लगे, पास-पड़ोस के लोग जाग उठे। घोड़ों का झुण्ड पैर पटपटाते हुए पानी पीने के लिए निकल गया। ऊंघती भेड़ों के झुण्ड सुड़सुड़ाते हुए निकल पड़े। इसके बाद कोई व्यक्ति तम्बू के पास पाया और बाहर से बंधी रस्सियां खोलकर नमदे उतारने लगा। यह वही गुप्प-चुप काली औरत थी।

मैंने अनुमान लगाया कि ख़ानाबदोशी करनेवाले गांव के लोग किसी दूसरी जगह जाने की तैयारी कर रहे हैं। मुझे याद आया कि कल मेरे कान में लोगों के वार्तालाप के कुछ शब्द पड़े थे कि सुबह ही यहां से तम्बू उखाड़कर शुरू में दर्रे की ओर नयी जगह चले जायेंगे और उसके बाद – सारी गर्मी का मौसम, दर्रे के पीछे दूर पहाड़ों में रहेंगे। मैं पहले से भी अधिक निराश हो उठी, वहां से भागना सौ गुना ज़्यादा मुश्किल होगा।

खोदी हुई जगह पर जैसी मैं बैठी थी, वैसी ही बैठी रही, हिली तक नहीं। छिपाने को था ही क्या और छिपाती भी क्यों.... उस काली औरत ने तम्बू के नीचे खुदी हुई ज़मीन देखी, पर कुछ बोली नहीं, चुपचाप अपना काम करती रही। लगता था उसका किसी बात से कोई सरोकार नहीं था, जैसे जीवन उसमें किसी प्रकार की भावना नहीं जगाता था। यहां तक कि उसने अपने पति को भी नहीं जगाया, नयी जगह पर जाने की तैयारी करने के लिए उससे हाथ बंटाने तक के लिए नहीं कहा। वह कम्बलों और पोस्तीनों के नीचे भालू की भांति लेता हुआ खर्राटे भर रहा था।

सभी नमदे लपेटे जा चुके थे, मैं वैसी की वैसी पिंजरे में बन्द पक्षी की भांति वहीं बैठी रही। मैंने देखा कि नदी के निकट लोग बैलों और घोड़ों पर सामान लादने लगे हैं। फिर वहां पर मुझे तीन घुड़सवार कहीं से आते हुए दिखायी दिये। घुड़सवारों ने उन लोगों से कुछ पूछा और हमारी दिशा में आने लगे। शुरू में मैंने सोचा कि ये लोगों को सफ़र के लिए इकट्ठा करने के उद्देश्य से आ रहे हैं, फिर जब मैंने ज़रा ध्यान से देखा, तो आंखें फाड़-फाड़कर देखती रह गयी, मेरे आश्चर्य का ठिकाना न था। दूइशेन आ रहा था और उसके

साथ दो आदमी थे, जिन्होंने मिलीशिया की टोपियां पहन रखी थीं और उनके ग्रेटकोटों पर लाल रंग की पट्टियां लगी थीं।

मैं अधमरी-सी वहीं की वहीं बैठी रही, चिल्ला तक नहीं सकी। मेरा दिल ख़ुशी से नाच उठा – मेरे मास्टर जी ज़िन्दा थे! – पर उसी समय फिर दिल धक् से बैठ गया, मैं तो लुट चुकी हूं, मेरा तो पतन हो चुका है...

दूइशेन के सिर पर पट्टियां बंधी थीं और ज़ख़्मी बाजू पट्टी में लटक रहा था। वह घोड़े पर से कूदा, तम्बू के दरवाज़े को लात मारकर खोल दिया, भागकर अन्दर आया और लालमुंहे के ऊपर से कम्बल उतार फेंका।

"उठो!" उसने गरजकर कहा।

आंखें मलते हुए उसने सिर उठाया और दूइशेन पर झपटना ही चाहता था, लेकिन मिलीशियामैनों की रिवाल्वरों का निशाना अपनी ओर बंधा देखकर फ़ौरन सिर झुका लिया। दूइशेन ने उसे कालर से पकड़ लिया और झटके से उसका चेहरा अपने पास ले आया।

"ज़लील कुत्ते!" दूइशेन ने फुसफुसाकर कहा। गुस्से से उसके होंठ पीले पड़ गये थे। "अब ठीक जगह पर पहुंचेगा! चल हमारे साथ!"

लालमुंहा सिर झुकाये, चलने ही वाला था कि दूइशेन ने उसे कन्धे से पकड़ लिया और उसकी आंखों में आंखें डालकर गुस्से से कांपती आवाज़ में बोला–

"तू सोचता है कि तूने उसे मिट्टी में मिला दिया है, उसकी ज़िन्दगी बर्बाद कर दी है... नहीं, लद चुके हैं तेरे दिन, अब उसका ज़माना है। तेरे ज़माने का अन्त आ गया है!"

लालमुंहे को बूट पहनने दिये गये, फिर उसके हाथ बांधकर उसे घोड़े पर बिठा दिया गया। एक मिलीशियामैन घोड़े की लगाम पकड़कर उसे आगे-आगे ले चला, दूसरा उसके पीछे-पीछे जाने लगा। मैं दूइशेन के घोड़े पर बैठ गयी और वह साथ-साथ चलने लगा।

जब हम रवाना हुए, तो पीछे से किसी की भयंकर, अमानुषिक चीत्कार सुनायी दिया – यह काली औरत हमारे पीछे-पीछे दौड़कर चिल्ला रही थी। पागलों की तरह वह पति के पास दौड़ी आयी और उसपर पत्थर दे मारा, जिससे उसकी फ़र की टोपी नीचे गिर गयी।

"हत्यारे, तूने मेरा ख़ून पिया है, मेरी ज़िन्दगी बर्बाद की है! मैं तुझे यों नहीं जाने दूंगी!" उसकी हृदय-विदारक आवाज़ आयी।

चालीस साल तक उसने कभी एक बार भी सिर नहीं उठाया था। अब, जैसे कि बांध टूट गया था और वह सब, जो उसके दिल में उबलता रहा था, वह सब, जिसने दीमक की तरह उसकी सारी जिन्दगी चाट डाली थी, अब फूटकर निकलने लगा था। उसकी कर्णभेदी चीत्कार, आहत पक्षी के पंखों की भांति घाटी की चट्टानों से टकरा-टकराकर गूंज रहा थी। वह भागती हुई कभी एक तरफ़ आ जाती, कभी दूसरी तरफ़, और अपने पति पर, जो कायरों की भांति सिर झुकाये बैठा था, लीद, पत्थर, मिट्टी के ढेले, जो भी हाथ लगता, उठा-उठाकर फेंकती और चिल्ला-चिल्लाकर उसकी लानत-मलामत करती जा रही थी –

"जहां तेरा पांव पड़े, वहां घास न उगे, तेरी लाश मैदान में पड़ी सड़े, कौवे तेरी आंखें नोच लें! फिर कभी तेरा मुंह न देखूं ! दूर हो मेरी नजरों से! दूर हो, राक्षस, दूर हो, दूर हो, दूर हो!" उसने चिल्लाकर कहा, फिर चुप हो गयी और एक चीख़ के साथ वहां से भाग गयी। ऐसा लगा मानो वह पीठ पर बिखरे हुए बालों से भाग रही हो। उसके पड़ोसी उसे पकड़ने के लिए घोड़ों पर उसका पीछा करने लगे।

किसी भयंकर दुःस्वप्न के बाद जैसे सिर में कोलाहल-सा मचा रहता है, मेरी स्थिति भी वैसी ही हो रही थी। बेहद उदास हताश-सी मैं घोड़े पर बैठी चली जा रही थी। दूइशेन हाथ में लगाम पकड़े, थोड़ा आगे-आगे चल रहा था। वह भी चुप था, उसका पट्टी बंधा सिर झुका हुआ था।

बहुत देर के बाद जब वह दुष्ट घाटी पीछे छूट गयी और मिलीशियामैन कुछ आगे निकल गये, दूइशेन ने घोड़ा रोक दिया और पहली बार मेरी ओर पीड़ित आंखों से देखा।

"आल्तीनाई, मैं तुझे बचा नहीं सका, मुझे माफ़ कर दो," उसने कहा, फिर मेरा हाथ पकड़कर अपनी गाल के साथ सटाते हुए बोला – "पर अगर तुम माफ़ भी कर दो, आल्तीनाई, तो भी मैं अपने को ज़िन्दगी भर माफ़ नहीं करूंगा..."

मैं रो पड़ी और घोड़े के अयालों से चिपट गयी। जितनी देर में रोती रही, दूइशेन पास खड़ा चुपचाप मेरे बाल सहलाता रहा।

"अपने को संभालो, आल्तीनाई," आख़िर उसने कहा, "मेरी बात सुनो, आल्तीनाई। तीसरे दिन मैं हलक़ा-केन्द्र गया था। तुम शहर में पढ़ने जाओगी। सुनती हो?"

जब हम झिलमिलाती, शोर मचाती नदी के पास रुके, तो दुइशेन बोला–

"घोड़े पर से उतर आओ, आल्तीनाई, हाथ-मुंह धो लो।" और जेब में से साबुन का टुकड़ा निकालकर कहने लगा, "लो, आल्तीनाई, अच्छी तरह अपने को साफ़ कर लो, अगर चाहो, तो मैं एक ओर हट जाता हूं, घोड़े को घास खिलाता हूं और तुम नदी में नहा लो। सब कुछ भूल जाओ, फिर कभी इन बातों को याद नहीं करना। नहा लो, आल्तीनाई, हल्का महसूस करने लगोगी। क्यों?"

मैंने सिर हिला दिया। और जब दूइशेन घोड़े को अपने पीछे-पीछे चलाता हुआ एक ओर ले गया, तो मैंने कपड़े उतार दिये और धीरे-से पानी में उतर गयी। सफ़ेद, नीले, हरे और लाल रंग के पत्थर नदी के स्वच्छ तल पर पच्चीकारी के काम की तरह झिलमिला रहे थे। जल की नीलरंजित तेज धारा मेरे टखनों के पास से सरसराती हुई बह रही थी। मैंने हाथ भर-भरकर अपनी छाती पर छींटे मारें। शीत धाराएं सारे शरीर को छूने लगीं और इन दिनों में पहली बार मैं सहसा हंस दी। कितना अच्छा था हंसना! मैंने बार-बार शरीर पर पानी डाला और फिर गहरे जल में घुस गयी। पानी की तेज़ धार मुझे छिछले जल में वापस धकेल देती। मैं उठ खड़ी होती और फिर उस वेगवती, घरघराती नदी में घुस जाती।

"हे जल-धारा, इन दिनों की सारी मैल, सारा कीच बहा ले जाओ! मुझे भी उतना ही स्वच्छ कर दो, जितनी तुम स्वयं हो, जल-धारा!" मैंने फुसफुसाकर कहा और न जाने क्यों हंसती रही।

जीवन की क्यों ऐसी व्यवस्था नहीं की जा सकती कि लोगों के पद-चिह्न उन चिरस्मरणीय स्थानों पर सदा के लिए अमिट बने रहें, जो उन्हें प्रिय थे? यदि वह पगडंडी अब मुझे मिल जाये, जिस पर मैं दूइशेन के साथ पहाड़ पर से उतरी थी, यदि वे पद-चिह्न मुझे मिल पायें, तो मैं धरती से लगकर मास्टर जी के पद-चिह्नों को चूम लूं। वह पगडंडी मेरे जीवन के सभी रास्तों का रास्ता है। जीवन की ओर, नये आत्मविश्वास की ओर, नयी आशाओं और नये आलोक की ओर लौटानेवाला वह दिन, वह पगडंडी, वह रास्ता मुबारक हो... उस घड़ी आकाश में चमकनेवाले सूर्य, तुम्हें धन्यवाद, धन्यवाद पृथ्वी!

दो दिन बाद दूइशेन मुझे नगर के लिए विदा करने स्टेशन पर ले गया। इन सभी घटनाओं के बाद मैं गांव में नहीं रहना चाहती थी... नये जीवन

को नये ही स्थान पर आरम्भ करने की ज़रूरत थी। लोगों को भी मेरा निश्चय ठीक लगा। मुझे विदा करने के लिए साइकाल और करतनबाई आये थे – उन्होंने बड़ी दौड़-धूप की, बच्चों की तरह रोये, सफ़र के लिए मुझे थैले और गठरियां दी। मुझे विदा करने बहुत-से अन्य लोग भी आये थे, यहाँ तक कि झगड़ालू सातिमकूल भी आया था। विदा करते समय वह बोला –

"भगवान तुम्हारी रक्षा करे, बेटी, तेरा रास्ता उज्ज्वल हो! डरना नहीं, घबराना नहीं। अपने अध्यापक दूइशेन का कहा मानोगी, तो नुक़सान नहीं उठाओगी। क्या कहूं, हम भी कुछ-कुछ समझने लगे है..."

हमारे स्कूल के बच्चे देर तक छकड़े के पीछे भागते रहे और देर तक पीछे खड़े हाथ हिलाते रहे...

चमड़े का कोट पहने एक रूसी महिला स्टेशन पर इन्तज़ार कर रही थी। मुझे और कुछेक अन्य बच्चों को ताशक़न्द के बाल-गृह में भेज दिया गया।

बाद में कितनी ही बार मैं पोपलार वृक्षों से घिरे, पर्वतों में स्थित इस छोटे-से स्टेशन से होकर गयी हूँ। मुझे लगता है कि मैं अपना आधा दिल हमेशा के लिए वहीं छोड़ आयी हूं।

उस वसन्तकालीन झुटपुटे में, सायंकाल की उस अस्थिर रोशनी में ऐसा कुछ अवसाद था, ऐसा कुछ दर्द था, मानो संध्या को हमारी विदाई के बारे में मालूम हो। दूइशेन दृढ़ बना रहा, उसने कड़ा प्रयास किया कि इस बात का पता नहीं चल पाये कि उसका दिल टूक-टूक हो रहा है, पर मैं तो यह जानती थी। इसी भांति मेरे दिल पर जो बीत रही थी, उससे मेरा गला रुंध-रुंध जाता था। दूइशेन एकटक मेरी आंखों की ओर देखता रहा, उसके हाथ मेरे बालों, मेरे चेहरे, यहां तक कि मेरी पोशाक के बटनों को भी सहलाते रहे।

"आल्तीनाई, मैं तुझे अपने पास से एक क़दम भी दूर नहीं जाने देता," उसने कहा, "पर मैं ख़ुद बहुत पढ़ा-लिखा नहीं हूं। मुझे तुम्हारी शिक्षा में बाधा डालने का कोई अधिकार नहीं है। तुम जाओ, यही बेहतर है... संभव है, तुम सचमुच की अध्यापिका बन जाओ, तब हमारे स्कूल को याद किया करोगी और हां, संभव है कि हंसा भी करोगी... ऐसा ही हो, ऐसा ही हो..."

दूर घाटी में गूंजती हुई रेलगाड़ी के इंजन की सीटी सुनायी दी और रेलगाड़ी की बत्तियां नज़र आने लगीं। स्टेशन पर लोगों में हरकत आयी।

"अब तुम जा रही हो," मेरे हाथ को ज़ोर से दबाते हुए दूइशेन ने कांपती

आवाज़ में कहा, "ख़ुश रहो, आल्तीनाई। सबसे मुख्य बात, पढ़ो, ख़ूब पढ़ो ..."

मैं कुछ भी उत्तर नहीं दे पायी। आंसुओं के कारण मेरा गला रुंध रहा था।

"मत रोओ, आल्तीनाई," दूइशेन ने मेरे आंसू पोंछे। और सहसा उसे कोई बात याद आयी – "और वे पोपलार के पेड़, जो हमने मिलकर रोपे थे, मैं ख़ुद उनकी देखभाल करूंगा। और जब तुम बड़ी बन जाओगी और लौटकर आओगी, तो तुम देखोगी कि वे कितने सुन्दर होंगे।"

इतने में गाड़ी आ गयी। गाड़ी के डिब्बे झनझनाते शोर मचाते आकर खड़े हो गये।

"आओ, हम विदा लें!" दूइशेन ने मुझे बाहों में भरकर मेरा माथा चूम लिया। "विदा, आल्तीनाई, शुभ-यात्रा, विदा प्यारी... डरना-घबराना नहीं, हिम्मत से काम लेना।"

पायदान पर से मैंने मुड़कर देखा और वह दृश्य मुझे भुलाये नहीं भूलताः दूइशेन खड़ा था – उसका टूटा हुआ बाज़ू पट्टी से लटक रहा था, उसकी आंखें डबडबा आयी थीं, फिर वह आगे की ओर बढ़ा जैसे मुझे छूना चाहता हो, पर उसी क्षण गाड़ी चलने लगी।

"विदा, आल्तीनाई, विदा मेरी आंखों के तारे!" उसने चिल्लाकर कहा।

"विदा मास्टर जी, विदा, मेरे प्यारे मास्टर जी!"

दूइशेन डिब्बे के साथ-साथ भागा और थोड़ी देर में पीछे रह गया और फिर एक बार तेज़ी से भागकर आगे आया।

"आ-ल्ती-नाई !" उसने चिल्लाकर कहा। उसने यों मेरा नाम पुकारा, मानो मुझे कुछ बताना भूल गया हो और फिर जैसे उसे याद आ गया हो कि अब अवसर हाथ से निकल चुका है ... आज भी मेरे कानों में उसकी आवाज़ गूंज रही है, जो सीधी उसके दिल से, आत्मा की गहराइयों से निकली थी...

गाड़ी ने सुरंग पार की, फिर सीधी होकर जाने लगी, उसकी रफ़्तार तेज़ होने लगी और वह एक पक्षी की भांति क़ज़ाख़स्तान की स्तेपी के समतल मैदानों में से मुझे नये जीवन की ओर ले चली...

विदा मास्टर जी, विदा मेरे पहले स्कूल, विदा बचपन, विदा मेरे प्रथम प्रेम, जिसे मैं कभी होंठों पर नहीं ला पायी...

मैंने एक विशाल नगर में, बड़ी-बड़ी खिड़कियोंवाले एक बड़े स्कूल में शिक्षा प्राप्त की, वैसे ही स्कूल में, जिसके दूइशेन सपने देखा करता था और चर्चा किया करता था। कामगार-स्कूल पास करने के बाद मुझे मास्को में – इन्स्टीट्यूट में – भेज दिया गया।

पढ़ाई के लम्बे सालों में मुझे कितनी ही कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, कितनी बार मैं निराश हो जाती, लगता जैसे विज्ञान की गहरी बातें मेरे दिमाग़ में बैठ नहीं पातीं। पर हर बार कठिन से कठिन घड़ियों में भी मैं अपने उस वचन पर कायम रही, जो मैंने मेरे पहले अध्यापक को दे रखा था और पीछे हटने का साहस नहीं कर पायी। जो बात अन्य लोगों को पहली बार ही समझ में आ जाती थी, उसे मैं बड़ी मेहनत से समझ पाती – मुझे सभी कुछ ककहरे से जो शुरू करना था।

कामगार-स्कूल में पढ़ते समय मैंने मास्टर जी को पत्र लिखा कि मैं उनसे प्रेम करती हूं और उनकी राह देखूंगी। उन्होंने कोई जवाब नहीं दिया। इसी से हमारी चिट्ठी-पत्री ख़त्म हो गयी। मैं सोचती हूं कि उसने मेरे प्रेम और अपने प्रेम को बलिदान कर दिया, क्योंकि वह नहीं चाहता था कि मेरी पढ़ाई में बाधा पड़े। संभव है उसने ठीक ही किया हो... और संभव है, कोई और कारण रहे हों? उस समय में कितनी दुःखी हुई थी, मैं कितना अधिक सोचा करती थी...

अपना पहला थीसिस मैने मास्को में पेश किया। मेरे लिए यह एक महान और गंभीर उपलब्धि थी। इस सारे काल में मैं अपने गांव नहीं जा पायी। फिर जंग छिड़ गयी। पतझड़ के अन्तिम दिनों में मास्को से फ्रूंजे को निष्क्रमण करते समय मैं उसी स्टेशन पर गाड़ी से उतर पड़ी, जिस पर मेरे मास्टर जी ने मुझे विदा किया था। मुझे फ़ौरन ही एक राह-जाती घोडागाड़ी मिल गयी, जो हमारे गांव से होकर राजकीय फ़ार्म की ओर जा रही थी।

मेरी प्यारी जन्म-भूमि, जंग के इन कठिन दिनों में मुझे तुम्हारे दर्शन करने का सुअवसर मिला! यह देखकर में बेहद ख़ुश हुई कि हमारी धरती का रूप ही बदल गया थाः नये गांव बस गये थे, दूर-दूर तक खेत फैले थे, नयी सड़कें और पुल बन गये थे, परन्तु युद्ध ने इस पुनर्मिलन को अपनी अवसादपूर्ण चादर से ढंक दिया था।

गांव के नज़दीक पहुंचने पर मेरा दिल धक्-धक् करने लगा। दूर से ही मैं आंखें फाड़-फाड़कर नयी, अपरिचित सड़कों, नये घरों और बाग़ों को देखने लगी और फिर उस टीले की ओर देखते ही जहाँ हमारा स्कूल था, मेरा गला रुंध गया – टीले पर एक दूसरे के निकट दो बड़े-बड़े पोपलार के पेड़ खड़े थे। हवा में वे झूम रहे थे। पहली बार मैंने उस आदमी को, जिसे मैं ज़िन्दगी भर 'मास्टर जी' कहकर बुलाती रही थी, उसके अपने नाम से पुकारा। "दूइशेन!" मैंने फुसफुसाकर कहा, "धन्यवाद, जो कुछ तुमने मेरे लिये किया, उस सब के लिए धन्यवाद! तुम नहीं भूले, तुम सोचते थे... कितना तुम्हारे अनुरूप था... "

मेरी आंखों में आंसू देखकर गाड़ीवान लड़का हैरान-सा हुआ –

"क्या बात है?"

"यों ही, कोई बात नहीं। क्या तुम इस सामूहिक फ़ार्म के लोगों को जानते हो?"

"जानता हूं, ज़रूर। सब एक दूसरे को जानते हैं।"

"तुम दूइशेन को जानते हो, जो यहां स्कूली अध्यापक हुआ करता था?"

"दूइशेन? वह तो फ़ौज में चला गया है। उसे मैं सामूहिक फार्म से इसी गाड़ी में फ़ौजी दफ़्तर ले गया था।"

गांव के पास ही मैं घोड़ागाड़ी से उतर पड़ी। और उतरते ही सकुचाने लगी। ऐसे चिन्ताजनक काल में घर-घर जाकर अपनी जान-पहचान के लोगों को खोजने का, उनसे पूछने का कि क्या तुम मुझे पहचानते हो, कि मैं आपके ही गांव की रहनेवाली हूं, मैं निश्चय नहीं कर पायी। दूइशेन फ़ौज में जा चुका था। इसके अतिरिक्त मैंने प्रण कर रखा था कि मैं कभी भी उस घर में नहीं जाऊंगी, जहां मेरे चाचा-चाची रहते थे। लोगों के बहुत-से गुनाह माफ़ किये जा सकते हैं, पर ऐसा गुनाह, मैं सोचती हूं, कोई किसी का माफ़ नहीं कर पायेगा। मैं नहीं चाहती थी कि उन्हें इस बात का पता तक चल पाये कि मैं गांव में आयी थी। मैं रास्ते से हटकर टीले पर खड़े पोपलार वृक्षों की ओर घूम गयी।

हे पोपलार, पोपलार! जब तुम छोटे-छोटे, पेड़ों के नन्हे डण्ठल भर थे, जब तुम्हारे तने हल्के नीले रंग के थे, तब से अब तक कितना कुछ हो चुका है! वे सभी बातें चरितार्थ हुई हैं, जिनके सपने तुम्हें रोपनेवाले और तुम्हें पाल-पोस कर बड़ा करनेवाले व्यक्ति ने देखे थे, और जिनकी उसने पूर्वकल्पना की थी। तो तुम्हारी सरसराहट में इतनी उदासी क्यों है, तुम किस बात की शिकायत

कर रहे हो, किसके लिए दुःखी हो रहे हो? क्या तुम इस बात की शिकायत कर रहे हो कि सर्दी का मौसम सिर पर है और सर्द हवाएं तुम्हारे पत्तों को नोच डालेंगी? या जनता का दुःख-दर्द तुम्हारे तनों में गूंज रहा है?

हां, सर्दी का मौसम आयेगा, पाले से भरे और भयंकर बर्फ़ानी अन्धड़ चलेंगे, पर फिर वसन्त का भी आगमन होगा...

मैं बड़ी देर तक वहां खड़ी वृक्षों की सांय-सांय सुनती रही। सिंचाई की नाली को जो पेड़ों के नीचे बह रही थी, किसी ने हाल ही में साफ़ कर दिया था। धरती पर अभी भी फावड़े के गहरे लगभग ताज़ा निशान मौजूद थे। भरी हुई नाली के झिलमिलाते जल में हल्की-हल्की लहरें उठ रही थीं, और उस पर वृक्षों के सुनहरे पत्ते इठला रहे थे।

टीले पर से गांव के नये स्कूल की रंगी हुई छत नज़र आ रही थी। और हमारे स्कूल का कहीं नामोनिशान तक न था...

मैं सड़क पर लौट आयी और राह-जाती एक घोड़ागाड़ी में बैठकर स्टेशन की ओर चल दी।

जंग हुई, फिर विजय की घड़ी आयी। लोगों ने कटु सुख का अनुभव किया: बच्चे अपने पिताओं के फ़ौजी थैले उठाकर स्कूलों को भाग चले, मर्दों के हाथ फिर से श्रम में लगे, विधवाओं ने रो-रोकर अपने भाग्य के सामने चुपचाप सिर झुका दिये। ऐसे लोग भी थे, जो अपने निकट के सम्बन्धियों का अभी भी इन्तज़ार कर रहे थे, क्योंकि सभी एक साथ घरों को नहीं लौट पाये थे।

मुझे भी मालूम नहीं था कि दूइशेन के साथ क्या बीती। अपने गांव के शहर में आनेवाले लोगों से मुझे पता चला कि दूइशेन लापता है। ग्राम-सोवियत को इसी आशय का पत्र प्राप्त हुआ था।

"संभव है मारा गया हो," वे अनुमान लगाकर कहते, "वक़्त बीत रहा है और उसकी अच्छी-बुरी कोई ख़बर नहीं मिल रही।"

"मेरे मास्टर जी नहीं लौटेंगे," मैं कभी-कभी सोचती। "उस चिरस्मरणीय दिन के बाद जब हम स्टेशन पर विदा हुए, मैंने उन्हें नहीं देखा था..."

कभी-कभी अतीत की याद करते हुए मुझे इस बात का भ्रम तक न हुआ था कि मेरे हृदय में इतनी अधिक वेदना संचित हो चुकी है।

1946 की पतझड़ के अन्तिम दिनों में मुझे वैज्ञानिक कार्य के सिलसिले

में तोम्स्क विश्वविद्यालय जाना पड़ा। मैं पहली बार साइबेरिया में से होकर जा रही थी। सर्दी के उन दिनों में साइबेरिया बड़ा अवसादपूर्ण और उदास-सा लग रहा था। खिड़कियों के बाहर सदियों पुराने, उमस भरे जंगलों की काली दीवार भागती चली जा रही थी। पेड़ों के झुरमुटों में गांवों के घरों की काली छतें झलक दे जाती और उनकी चिमनियों में से सफ़ेद धुएं की शिखाएं ऊपर को उठती हुई नज़र आतीं। ठिठुरन भरे खेतों पर पहली बर्फ़ की चादर बिछ चुकी थी और खेतों के ऊपर कौवे कांय-कांय करते हुए उड़ रहे थे। सारा वक़्त आसमान के तेवर चढ़े रहते।

पर गाड़ी के अन्दर मेरे लिए वातावरण विनोदपूर्ण था। डिब्बे में मेरा एक सहयात्री, जो मोर्चे पर से पंगु बनकर लौटा था और बैसाखियों के सहारे चलता था, हमें युद्धकालीन जीवन के दिलचस्प क़िस्से-कहानियां सुना रहा था। क़िस्से गढ़ने की उसकी अक्षय कल्पना को देखकर मैं हैरान हो रही थी, उसकी प्रकटतः सरल और सीधे-सादे हंसी-मज़ाक़ के पीछे सदा गहरी और विश्वसनीय सचाई का आभास मिलता। डिब्बे में सभी लोग उससे बड़ा स्नेह करते थे। नोवोसिबीर्स्क के निकट कहीं, किसी छोटे-से स्टेशन पर हमारी गाड़ी मिनट भर के लिए रुकी। मैं खिड़की के पास खड़ी बाहर देख रही थी और अपने सहयात्री के नये चुटकुले पर हंस रही थी।

गाड़ी हरकत में आयी और धीरे-धीरे तेज होने लगी; खिड़की के सामने से स्टेशन का एकमात्र घर पीछे छूट गया। जब गाड़ी कांटे के पास पहुंची, तो मैं खिड़की से पीछे हट गयी और फिर एक बार खिड़की के शीशे की ओर लपककर गयी। वही था, दूइशेन ही था! वह रेलवे-केबिन के पास हाथ में झण्डी लिये खड़ा था। इस एक क्षण में मुझे क्या हो गया, मैं खुद नहीं जानती।

"ठहरो!" मैंने चिल्लाकर कहा, फिर बाहर की ओर लपकी। मैं खुद नहीं जानती थी कि क्या करूं, फिर ख़तरे की जंजीर देखते ही मैंने ज़ोर से उसे खींच दिया।

गाड़ी के डिब्बों को ज़ोर का धक्का लगा, ज़बरदस्त झटके से गाड़ी को ब्रेक लगा और उसी ज़ोर से उसने पीछे की ओर झटका खाया। तख़्तों पर से चीज़ें नीचे आ गिरी, प्लेटें फ़र्श पर लुढ़कने लगीं, औरतें और बच्चे चिल्लाने लगे। कोई व्यक्ति अस्वाभाविक-सी आवाज़ में चिल्लाया —

"कोई आदमी गाड़ी के नीचे आ गया है!"

पर मैं दरवाज़े तक पहुंच चुकी थी। बिना पांवों के नीचे ज़मीन की ओर देखे, मैं जैसे कि गहरे गढ़े में कूद पड़ी, और बिना कुछ देखे-समझे मैं बेतहाशा कांटे वाले केबिन की ओर, दूइशेन की ओर भागने लगी। पीछे से कन्डक्टरों की सीटियां और लोगों की आवाज़ें, उनके भागते, पटपटाते क़दमों की आवाज़ें सुनाई दे रही थीं।

दम साधे मैं गाड़ी के साथ-साथ तीर की तरह भागती गयी। और दूइशेन मुझसे मिलने के लिए भागकर आगे आ गया।

"मास्टर जी! दूइशेन!" मैंने चिल्लाकर कहा, और उसकी ओर बढ़ चली।

कांटे वाला खड़ा हो गया और किंकर्त्तव्यविमूढ़-सा मेरी ओर देखने लगा। दूइशेन ही था वह। हू-बहू वही था, क़द-बुत, आंखें, चेहरा बिल्कुल वही था, केवल पहले उसकी मूंछें नहीं थीं और वह कुछ-कुछ बुढ़ा गया लगता था।

"क्या है, बहन, क्या बात है?" उसने कज़ाख़ भाषा में कहा, "तुमसे शायद भूल हुई है, मेरा नाम जंगाज़िन है, बैनेऊ जंगाज़िन। कांटे वाला।

"बैनेऊ?"

मैं नहीं जानती किस भांति मैं उस क्षण क्लेश, दर्द, लज्जा और तिरस्कार के कारण चीख़ी नहीं। यह मैंने क्या किया? मैंने दोनों हाथों से मुंह ढांप लिया; मेरा सिर झुक गया। मेरे पांवों के नीचे धरती फट क्यों नहीं गयी? मुझे कांटे वाले से, लोगों से माफ़ी मांगनी चाहिये थी, पर मैं वहां चुपचाप बुत बनी खड़ी थी। भागकर आये मुसाफ़िरों की भीड़ भी, न जाने क्यों, चुप थी। मुझे उम्मीद थी कि लोग मुझपर बरस पड़ेंगे, मुझे बुरा-भला कहेंगे। परन्तु सब लोग चुप रहे। उस भयानक निस्तब्धता में कोई औरत सिसकियां भरने लगी और धीरे-से बोली–

"बदनसीब, पति या भाई समझकर गयी, लेकिन कोई और निकल आया।"

लोग हिलने-डुलने लगे।

"देखिये क्या हो गया," किसी ने गहरी आवाज़ में कहा।

"जीवन में क्या नहीं हो सकता। जंग के दिनों में हम पर क्या नहीं बीती. .." जवाब में किसी औरत की भर्राई हुई आवाज़ आयी।

कांटे वाला मेरे हाथों को चेहरे पर से हटाते हुए बोला –

"चलिये, मैं आपको डिब्बे में पहुंचा दूं। सर्दी बहुत है।"

उसने मुझे अपने बाज़ू का सहारा दिया। दूसरी ओर से किसी अफ़सर ने मुझे अपने बाज़ू का सहारा दिया।

"आइये, चलिये, हम सब कुछ समझते हैं," उसने कहा।

लोग आगे से हट गये और मातमी जुलूस की तरह मुझे ले जाने लगे। हम धीरे-धीरे आगे-आगे चल रहे थे और हमारे पीछे बाक़ी सभी लोग थे। अन्य मुसाफ़िर भी चुपचाप आकर भीड़ में शामिल हो जाते। किसी ने मेरे कन्धों पर मुलायम शाल डाल दी। मेरा सहयात्री हमारी बग़ल में चलता आ रहा था। वह बैसाखियां पटपटाता आगे आता और मेरे चेहरे की ओर देखता। हंसोड़ मसखरा, नेकदिल और साहसी इनसान सिर झुकाये रोता-सा जान पड़ता। मैं भी रोये जा रही थी। गाड़ी के साथ-साथ धीरे-धीरे लय-बद्ध गति से चलते हुए इस जुलूस की शक्ल में, टेलीग्राफ़ की तारों में बजती हुई हवा की सीटियों और भनभनाहट में मुझे मातमी धुन सुनाई दे रही थी। "नहीं, अब मैं उसे कभी नहीं देख पाऊंगी।"

हमारे डिब्बे के पास गार्ड खड़ा था। उसने चिल्लाकर, उंगली हिलाहिलाकर अदालती जवाबदेही के बारे में, जुर्माने के बारे में कुछ कहा। पर मैने कुछ जवाब नहीं दिया। मेरे लिए सब बराबर था। उसने रिपोर्ट मेरे आगे कर दी ताकि मैं उस पर दस्तख़त करूं, लेकिन मुझमें इतनी ताक़त नहीं थी कि हाथ में पेंसिल तक पकड़ सकूं।

तब मेरे सहयात्री ने उससे काग़ज़ छीन लिया और बैसाखियों के सहारे आगे बढ़कर सीधा उसके सामने चिल्लाकर बोला –

"इसे परेशान मत करो! मैं दस्तख़त करूंगा, मैंने जंजीर खींची थी, मैं इसकी जवाबदेही करूंगा!"

साइबेरिया की धरती पर, रूस के प्राचीन क्षेत्र पर, गाड़ी तेज गति से आगे बढ़ रही थी। गाड़ी कुछ लेट हो चुकी थी। रात के सन्नाटे में मेरे सहयात्री की गिटार पर अवसादपूर्ण धुनें सुनायी दे रही थीं। रूसी विधवाओं के निराशापूर्ण गीत की भांति, ख़ामोश पड़ती हुई जंग से मुलाक़ात की शोकाकुल प्रतिध्वनि मैं अपने सुलगते दिल में लिये जा रही थी।

वर्ष बीतते गये। अतीत पीछे छूट गया, भविष्य अपनी रोज़मर्रा की छोटी-बड़ी चिन्ताओं के साथ निरन्तर पुकारने लगा। मैंने देर से ब्याह किया। परन्तु मुझे एक नेक आदमी मिल गया। हमारे बच्चे हैं, हम बड़े स्नेह से रहते हैं। इस समय मैं दर्शनशास्त्र की डाक्टर हूं, इधर-उधर आना-जाना पड़ता है, अक्सर देश-विदेश में जाती रहती हूं... लेकिन अपने गांव में दूसरी बार नहीं गयी। कारण बहुत थे, लेकिन मैं अपनी सफ़ाई देना नहीं चाहती। अपने हमवतनों से मैंने अपना सम्पर्क तोड़ दिया, यह बुरी बात है, अक्षम्य है। लेकिन ऐसा था

मेरा भाग्य। मैं अतीत को नहीं भूली, उसे मैं भूल नहीं सकती थी, मैं केवल उससे दूर होती गयी थी।

ऐसे झरने भी होते हैं पहाड़ों में, जिन तक जानेवाली पहली पगडण्डी को लोग भूल जाते हैं, मुसाफ़िर कभी-कभार ही अपनी प्यास बुझाने के लिए उनकी ओर जाते हैं और धीरे-धीरे वे झरने झाड़-झंखाड़ से ढक जाते हैं। और बाद में वे बिल्कुल ही अदृश्य हो जाते हैं। और विरले ही कोई इस झरने को याद करता है, विरले ही वह किसी तपिश भरे दिन, बड़े रास्ते से हटकर उससे अपनी प्यास बुझाता है। कोई आदमी आयेगा, उस जगह को ढूंढ़ लेगा, जहां अब झाड़-झंखाड़ उग रहे हैं, गहरी झाड़ियों को हटाकर धीमी आवाज़ में आह भरेगा— शीतल जल की विलक्षण, नीलवर्ण स्वच्छता, जिसे मुद्दत से किसी ने गदला नहीं किया, अपनी स्थिरता और गहराई से उसे हैरान कर देगी। और वह व्यक्ति इस झरने में अपनी, सूर्य की, आकाश और पहाड़ों की छवि को देखेगा... और सोचेगा कि ऐसे स्थानों को न जानना पाप है, इस बात की ज़रूरत है कि अपने साथियों को उस बारे में बताया जाये। वह इस तरह सोचता है और अगली बार तक के लिए भूल जाता है।

जीवन में ऐसा कभी-कभी हो जाता है। जीवन तो आखिर जीवन है...

ऐसे झरने मुझे हाल ही में गांव जाने के बाद याद आये।

आप शायद हैरान हुए होंगे कि उस बार मैं अचानक ही और इतनी जल्दी कुरकुरेव से क्यों चली आयी। क्या वहां पर लोगों से इस सारी बात की चर्चा नहीं की जा सकती थी? नहीं। मैं इतनी अधिक उद्विग्न थी, इतनी शर्म आ रही थी मुझे, अपने पर ही इतनी लज्जित थी कि दूदशेन से आंख नहीं मिला सकती थी, उसकी ओर देख नहीं सकती थी। इसीलिये मैंने उसी समय वहां से चले जाने का निश्चय किया, ताकि अपने मन को शान्त करूं, अपने विचारों को ठिकाने पर लाऊं, उन सभी बातों के बारे में क्रमबद्ध रूप से सोचूं, जिन्हें मैं न केवल अपने गांव वालों को, बल्कि बहुत-से अन्य लोगों को भी बताना चाहती हूं।

मैं एक और कारण से भी अपराधी महसूस करती थी, वह यह कि नये स्कूल के उद्घाटन के समय मेरे प्रति किसी प्रकार का सम्मान प्रदर्शित करने की ज़रूरत नहीं थी, सम्मान के पद पर मेरे बैठने की ज़रूरत नहीं थी। इसका अधिकारी था हमारा पहला अध्यापक, हमारे गांव का पहला कम्युनिस्ट—बूढ़ा

दूइशेन। और हुआ इसके बिल्कुल विपरीत। हम समारोह मना रहे थे, खुशियां मना रहे थे, जब यह शानदार आदमी डाक लिये हुए घोड़े पर सवार, स्कूल के उद्घाटन सम्बन्धी पुराने छात्रों के मुबारकवादी तार बांटता फिर रहा था।

यह एकमात्र घटना नहीं है। मैंने कई बार ऐसी घटनाएं देखी हैं। फिर मैं अपने सामने एक प्रश्न रखती हूं: हमने कब से सीधे-सादे इनसान का आदर करने की क्षमता खो दी है, उस तरह आदर करने की, जिस तरह लेनिन करते थे? शुक्र है कि अब हम किसी तरह के ढोंग और लाग-लपेट के बिना ऐसी बातों की चर्चा करते हैं। यह बड़ी अच्छी बात है कि इस मामले में भी हम लेनिन के और निकट आ गये हैं।

नौजवान लोग नहीं जानते कि अपने ज़माने में दूइशेन किस प्रकार का अध्यापक हुआ करता था। और पुरानी पीढ़ी के लोगों में से अब बहुत-से नहीं रहे हैं, दूइशेन के छात्रों में से बहुत-से युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुए। वे सच्चे सोवियत योद्धा थे। नौजवानों को अपने अध्यापक का परिचय देना मेरा कर्तव्य था। किसी दूसरे को भी ऐसा ही करना चाहिये था। परन्तु मैं गांव नहीं जा पायी, मैं दूइशेन के बारे में कुछ नहीं जानती थी और वक़्त के साथ उसका व्यक्तित्व मेरे लिए मानो अतीत के एक प्रिय अवशेष में बदल गया हो, जो संग्रहालय की निस्तब्धता में सुरक्षित है।

मैं अपने मास्टर जी के पास जाऊंगी, अपना क़सूर मानूंगी, क्षमा मांगूंगी। मास्को से लौटते समय में कुरकुरेव जाना चाहती हूं और वहां लोगों के सामने यह सुझाव रखना चाहती हूँ कि वे नये छात्रावास स्कूल का नाम "दूइशेन स्कूल" रखें, उस सीधे-सादे सामूहिक किसान के नाम पर, जो इस समय डाकिये का काम कर रहा है। मुझे आशा है कि आप, हमवतन होने के नाते, मेरे सुझाव का समर्थन करेंगे। मेरा अनुरोध है कि आप इसका समर्थन करें।

मास्को में इस समय रात के दो बज रहे हैं। मैं होटल के छज्जे पर खड़ी हूं, मास्को की रोशनियों के विस्तृत प्रसार को देख रही हूं और सोचती हूं कि मैं किस भांति गांव जाऊंगी, मास्टर जी से कैसे मिलूंगी, किस भांति उनकी सफ़ेद दाढ़ी को चूमूंगी।

मैं खिड़की खोल देता हूं। झरने के निर्मल जल-प्रवाह की भांति हवा बह-बहकर कमरे में आती है। धीरे-धीरे छनते हुए इस नीलवर्ण झुटपुटे में मैं

उस चित्र के ख़ाकों को बड़े ध्यान से देखने लगता हूं, जिसे मैंने शुरू कर रखा है। रेखांकन और ख़ाके बहुत है, मैं कितनी ही बार चित्र को नये सिरे से शुरू कर चुका हूं। परन्तु पूर्ण रूप से चित्र के बारे में निर्णय कर पाने का अभी वक़्त नहीं आया। मुझे अभी तक वह प्रमुख, चिरवांछित तत्त्व नहीं मिल पाया ... पौ फटने से पहले की ख़ामोशी में मैं इधर-उधर जाता हूं और सोचता रहता हूं, सोचता रहता हूं, सोचता रहता हूं। ऐसा ही हर बार होता है। हर बार मुझे इस बात का यक़ीन हो जाता है कि मेरा चित्र अभी केवल मेरी कल्पना में ही है।

फिर भी मैं अपने उस चित्र की चर्चा करना चाहता हूं, जो अभी तक बनाया नहीं गया है। आपसे मशविरा करना चाहता हूं। निश्चय ही, आपने अनुमान लगा लिया होगा कि मेरे चित्र का सम्बन्ध हमारे गांव के प्रथम अध्यापक, पहले कम्युनिस्ट – बूढ़े दूइशेन से है।

परन्तु संघर्ष, भाग्यों की विविधताओं और मानवीय आवेगों की इस जटिल ज़िन्दगी को मैं रंगों में ढाल भी सकता हूं? कैसे किया जाये कि भावनाओं का यह जाम छलक न जाये और आप तक, मेरे समकालीनों तक पहुंच पाये? कैसे किया जाये कि मेरा चिन्तन, मेरे दिल का दर्द अभिन्न रूप से आपके दिल का दर्द बन जाये?

मैं इस चित्र को बनाये बिना नहीं रह सकता, परन्तु कितना चिन्तन, कितनी व्याकुलता हृदय को उद्वेलित किये हुए हैं! कभी-कभी मुझे लगता है, जैसे मेरे हाथ से कभी भी कुछ नहीं बन पायेगा। तब मैं सोचता हूं कि क़िस्मत ने क्यों मेरे हाथ में तूलिका रख दी है? कितना यन्त्रणापूर्ण जीवन है यह! दूसरी बार में अपने अन्दर इतनी शक्ति का अनुभव करता हूं कि पहाड़ों को उलट देने के लिए अपने को तत्पर पाता हूं। तब मैं सोचता हूं: जीवन को देखो; चुनो, सीखो। दूइशेन और आल्तीनाई के पोपलार वृक्षों के बारे में चित्र बनाओ, उन्हीं पोपलार वृक्षों के बारे में, जिन्होंने बचपन में तुम्हें आह्लाद की इतनी घड़ियां प्रदान की थीं, हालांकि तुम उस वक़्त इनकी कहानी नहीं जानते थे। उस लड़के का चित्र बनायो, जो नंगे पांव, धूप में संवलाया हुआ, पोपलार की शाख़ों पर ख़ूब ऊंचे बैठा है और मन्त्रमुग्ध नेत्रों से स्तेपी की रहस्यपूर्ण, अलौकिक दूरियों को देखे जा रहा है।

या एक ऐसा चित्र बनायो, जिसका शीर्षक हो- "पहला अध्यापक"। उस

घड़ी को आंको, जब दूइशेन बच्चों को उठा-उठाकर उन्हें नाले के पार स्कूल ले जाता है और लाल लोमड़ी की खाल की टोपियां पहने, मोटे-ताज़े, जंगली घोड़ों पर सवार मन्दमति लोग उसकी खिल्ली उड़ाते हुए पास से गुज़र जाते हैं...

या फिर उस दृश्य का चित्र खींचो, जब आल्तीनाई शहर जा रही है और दूइशेन उसे छोड़ने आया है। तुम्हें याद है आख़िरी बार दूइशेन किस भांति चिल्लाया था! ऐसा चित्र बनायो, जो दूइशेन की चीख़ की भांति दिल की गहराइयों में हलचल पैदा कर दे और उसी तरह देर तक गूंजती रहे।

इस भांति मैं मन ही मन बातें करता रहता हूं। मैं बहुत-सी बातें अपने को कहता हूं, पर मुझे हमेशा सफलता मिल पाती हो, ऐसा नहीं है... अब भी मैं नहीं जानता कि कौनसा चित्र में बनाऊंगा। परन्तु मैं एक बात पक्की तरह जानता हूं – मैं अपनी राह ढूंढूंगा...

वह मेरे दिल की रानी

प्रस्तावना के स्थान पर

पत्रकार के नाते मुझे अक्सर त्यान-शान जाना पड़ता था। एक बार वसन्त के दिनों में जब मैं प्रादेशिक केन्द्र – नारीन नगर – गया हुआ था, तो मुझे फ़ौरन सम्पादकीय कार्यालय में पहुंचने का आदेश मिला। अड्डे पर पहुंचने के कोई पांच मिनट पहले ही बस रवाना हो गयी थी। अगली बस के लिये लगभग पांच घण्टे तक इन्तज़ार करना पड़ता। उसी तरफ़ जानेवाली किसी दूसरी मोटर में सवार होने की कोशिश करने के सिवा और कोई चारा नहीं था। नगर के सिरे पर मैं सड़क की ओर चल दिया।

मोड़ पर एक ट्रक पेट्रोल पम्प के सामने खड़ी थी। ड्राइवर पेट्रोल की टंकी भरकर उसका ढक्कन बन्द कर रहा था। मेरी बाछे खिल गयीं। केबिन के शीशे पर <<S.U.>> (सोवियत संघ) का अन्तर्राष्ट्रीय परिवहन-चिह्न लगा था। इसका मतलब था कि यह ट्रक चीन से आई थी और रिबाच्ये के व्नेशट्रांस मोटर-अड्डे की ओर जा रही थी। वहां से फ्रूंजे पहुंचना कुछ मुश्किल नहीं था।

"आप अभी जा रहे हैं न? कृपया मुझे रिबाच्ये तक ले चलिये!" मैंने ड्राइवर से अनुरोध किया।

वह मेरी तरफ़ मुड़ा, उसने कनखियों से मुझे देखा, सीधा हुआ और इतमीनान से बोला –

"नहीं, बड़े भाई, नहीं ले जा सकता।"

"आपकी मिन्नत करता हूं! बहुत ज़रूरी काम है, फ़ौरन फ्रूंजे पहुंचने का हुक्म मिला है।"

ड्राइवर ने त्यौरी चढ़ाकर फिर से मेरी तरफ़ देखा।

"यह सब तो ठीक है, मगर बुरा नहीं मानिये, बड़े भाई, मैं किसी को भी नहीं ले जा सकता।"

मुझे हैरानी हुई। केबिन ख़ाली था, क्या फ़र्क़ पड़ता था उसे किसी को वहां बैठा लेने से?

"मैं पत्रकार हूं। बहुत जल्दी में हूं। मुंह मांगे पैसे दे दूंगा..."

"पैसों की बात नहीं है, बड़े भाई।" उसने मुझे बीच में ही टोका और ग़ुस्से से पहिये को ठोकर मारकर बोला – "किसी और मौक़े पर मुफ़्त ही ले चलूंगा। मगर इस वक़्त ... नहीं ले जा सकता। बुरा नहीं मानिये। अभी और आ जायेंगी हमारी मोटरें, किसी में भी चले जाइयेगा, मगर मैं नहीं ले जा सकता..."

मैंने सोचा कि शायद रास्ते में, इसे किसी और को बैठाना होगा।

"तो क्या पीछे बैठ सकता हूं?"

"नहीं, यह भी मुमकिन नहीं... मैं बहुत माफ़ी चाहता हूं, बड़े भाई।"

ड्राइवर ने घड़ी पर नज़र डाली और उतावली करने लगा।

बहुत ही परेशान होकर मैंने कंधे झटके और मानो कुछ न समझ पाते हुए पेट्रोल पम्प की इंचार्ज बुज़ुर्ग रूसी नारी की तरफ़ देखा, जो इस बीच अपनी खिड़की से चुपचाप हम दोनों की ओर देखती रही थी। उसने सिर हिलाकर मानो कहा – "जाने दो इसे, परेशान नहीं करो।" अजीब मामला है।

ड्राइवर अपनी सीट पर जा बैठा, बिना सुलगी सिगरेट उसने मुंह में दबायी और इंजन चालू कर दिया। ड्राइवर जवान था, कोई तीसेक साल का, लंबा क़द, कुछ-कुछ झुका हुआ।

स्टीयरिंग ह्वील पर उसके बड़े-बड़े और गठे हुए मज़बूत हाथ तथा थकान से झुकी हुई पलकोंवाली आंखें मेरे स्मृति-पट पर अंकित होकर रह गयीं। ट्रक चलने के पहले उसने चेहरे पर हाथ फेरा और कुछ अजीब ढंग से गहरी सांस लेकर अपने सामनेवाले पहाड़ी रास्ते पर परेशानी से नज़र डाली।

ट्रक चल दी।

पेट्रोल पम्प की इंचार्ज अपने केबिन से बाहर आई। वह सम्भवतः मुझे तसल्ली देना चाहती थी –

"परेशान होने की कोई बात नहीं है। अभी आप भी चले जायेंगे।"

मैं चुप रहा।

"बहुत भारी गुज़र रही है बेचारे के दिल पर... बड़ी लम्बी दास्तान है . .. कभी तो वह यहां रहता था, हमारे इस दर्रेवाले अड्डे पर..."

इस नारी की पूरी बात सुनना मुझे नसीब नहीं हुआ। फ्रूंजे की तरफ़ जानेवाली एक "पोबेदा" कार आ गई।

काफ़ी देर बाद, दोलोन दर्रे के पास ही हम ट्रक के बराबर पहुंच पाये। इतनी तेज़ रफ्तार से वह अपनी ट्रक चला रहा था, जो शायद त्यान-शान के अनुभवी ड्राइवरों के लिये भी उचित नहीं हो सकती। मोड़ पर भी वह रफ़्तार कम न करता, चीख़ती, शोर मचाती ट्रक खड़ी चट्टानों के नीचे से गुज़रती, तेजी से चढ़ाई चढ़ती, सड़क की ढाल पर मानो ग़ायब हो जाती और अपने पीछे तिरपाल के छोर फड़फड़ाती हुई फिर से उभरती।

"पोबेदा" कार तो ख़ैर कार ही ठहरी। हम ट्रक से आगे निकलने लगे। मैंने मुड़कर देखा – केसा हताश व्यक्ति है, कहां वह पागलों की तरह ट्रक को लिये जा रहा है? इसी वक़्त ओलों के साथ बारिश होने लगी। दर्रों में अक्सर ऐसा होता है। बारिश और ओलों की टेढ़ी-तिरछी बौछारों के बीच से शीशे के पीछे तने हुए पीले चेहरे की झलक मिली। वही ड्राइवर दांतों तले सिगरेट दबाये था और जल्दी-जल्दी स्टीयरिंग व्हील घुमा रहा था। उसके हाथ तेज़ी से इधर-उधर घूम रहे थे। न तो केबिन में और न पीछे ही कोई था।

नारीन से लौटने के कुछ ही समय बाद मुझे काम के सिलसिले में किर्गीज़िया के दक्षिण, ओश प्रदेश में भेजा गया। हम पत्रकारों के पास वक़्त की तो हमेशा ही कमी होती है। गाड़ी छूटने ही वाली थी, जब मैं भागता हुआ प्लेटफ़ार्म पर पहुंचा और डिब्बे में जा घुसा। खिड़की की तरफ़ मुंह किये जो मुसाफ़िर मेरे पास बैठा था, उसकी तरफ़ कुछ देर तक मैंने कोई ध्यान नहीं दिया। गाड़ी के काफ़ी दूर निकल जाने पर भी वह उसी तरह बैठा रहा।

रेडियो पर संगीत प्रसारित किया जा रहा था। कोमूज़ (तीनतारा) पर एक जानी-पहचानी किर्ग़ीज़ धुन बज रही थी। इसे सुनकर मुझे हमेशा दिन ढलने के समय स्तेपी में से जाते हुए एकाकी घुड़सवार वाले गीत की याद हो आती थी। मंज़िल दूर है, स्तेपी का बड़ा विस्तार है, आदमी सोच में डूब सकता है और धीरे-धीरे गा सकता है। आत्मा में जो कुछ भी है, वह उसके बारे में गाये। इनसान जब एकाकी हो, जब चारों तरफ़ ख़ामोशी छाई हो और सिर्फ़ घोड़े की टाप ही सुनाई देती हो, तो कैसे-कैसे ख़्याल नहीं आते उसके दिल-दिमाग़ में? तार धीरे-धीरे बज रहे थे, सिंचाई नाले के चिकने-चमकीले पत्थरों के बीच से छलकते पानी की तरह। कोमूज़ पर यह सुनाई पड़ रहा था कि जल्दी ही सूरज

पहाड़ियों के पीछे छिप जायेगा, नीली-नीली ठंडक दबे पांव पृथ्वी पर फैल जायेगी और कत्थई रास्ते के किनारे-किनारे नागदौने के नीलगूं फूल और पीली जंगली घास धीरे-धीरे हिलते हुए अपना पराग फैलाने लगेंगे। स्तेपी घुड़सवार को सुनेगी और उसके साथ-साथ सोच में डूबेगी तथा गायेगी...

मुमकिन है कि घुड़सवार कभी इन जगहों से गुज़रा हो... शायद ऐसे ही लाल-पीला होता हुआ सूरज स्तेपी के दूरस्थ छोर पर धीरे-धीरे डूब रहा होगा और इस वक़्त की भांति सूरज की अन्तिम किरणों से पहाड़ों पर बर्फ़ गुलाबी होकर जल्दी ही धुंधली हो गयी होगी.....

खिड़की के पार बाग़, अंगूरों के बगीचे, मकई के गहरे हरे रंग वाले ऊंचे पौधों के खेत गुज़रते जा रहे थे। ताज़ा कटी घास से लदा एक छकड़ा, जिसमें दो घोड़े जुते थे, रेल की पटरी की चौकी की तरफ़ बढ़ा आ रहा था। वह अवरोध-बल्ली के पास आकर रुक गया। फटी-पुरानी बनियान पहने और घुटनों तक पाजामा ऊपर चढ़ाये संवलाया हुआ लड़का छकड़े में खड़ा होकर रेल गाड़ी को देखने लगा, मुस्कराया और उसने किसी को हाथ हिलाया।

धुन गाड़ी की लय के साथ बहुत ही अद्भुत ढंग से मेल खा रही थी। गाड़ी के पहियों की खटाखट ने घोड़े की टापों की जगह ले ली थी। मेरे पास वाला मुसाफ़िर हाथ की ओट किये मेज़ के पास बैठा था। मुझे लगा कि वह भी एकाकी घुड़सवार के गीत को मन ही मन दोहरा रहा है। वह उदास था या कल्पना की उड़ानें भर रहा था, मगर उसके चेहरे पर दर्द की, किसी टीसते दुःख की छाप थी। वह अपने में इतना ज़्यादा खोया-डूबा हुआ था कि मेरी उपस्थिति की उसे चेतना तक नहीं हुई। मैंने उसके चेहरे को अच्छी तरह से देखने की कोशिश की। कहां मिला हूं मैं इस व्यक्ति से? इसके तो हाथ भी जाने-पहचाने हैं, सांवले, लम्बी-लम्बी मज़बूत उंगलियोंवाले।

हां, मुझे याद हो पाया। यह वही ड्राइवर था, जिसने मुझे अपनी ट्रक में ले जाने से इनकार कर दिया था। मेरी जिज्ञासा ख़त्म हो गयी। मैंने पढ़ने के लिये किताब निकाल ली। इसे अपने बारे में याद दिलाने की ज़रूरत भी क्या है ? वह तो शायद कभी का मुझे भूल चुका होगा। ड्राइवरों को तो न जाने ऐसी कितनी ही संयोगवश मुलाक़ातें होती होंगी?

तो इसी तरह कुछ और समय तक हम दोनों अपने में ही खोये हुए सफ़र करते रहे। खिड़की के बाहर अंधेरा होने लगा। मेरे सहयात्री को सिगरेट

पीने की इच्छा हुई। उसने सिगरेट निकाली और दियासलाई जलाने के पहले ज़ोर से गहरी सांस ली। इसके बाद उसने सिर ऊपर उठाया, हैरानी से मेरी तरफ़ देखा और फ़ौरन उसके चेहरे पर लाली दौड़ गई। उसने मुझे पहचान लिया था।

"सलाम, बड़े भाई!" उसने अपराधी की तरह मुस्कराकर कहा।

मैंने उसकी तरफ़ हाथ बढ़ाते हुए पूछा –

"कहीं दूर जा रहे हैं क्या?"

"हां... दूर!" उसने धीरे-से धुआं उड़ाया और कुछ चुप रहकर बोला – "पामीर"।

"पामीर?" इसका मतलब है कि हम हमराही हैं। मैं ओश जा रहा हूं ... आप छुट्टी मनाने जा रहे हैं या बदली हो गयी है?

"बदली ही समझ लीजिये... सिगरेट पीजिये न?"

हम दोनों सिगरेट के कश लगाते हुए चुप बैठे रहे। ऐसा लगा कि बात करने को कुछ था ही नहीं। मेरा सहयात्री फिर विचारों में खो गया। वह सिर झुकाये बैठा था और गाड़ी की गति के साथ-साथ हिल-डुल रहा था। मुझे लगा कि हमारी पहली मुलाक़ात के बाद के अर्से में वह बहुत बदल गया है, दुबला हो गया है, चेहरा पिचक गया है और माथे पर तीन गहरी रेखायें पड़ गयी है। सिकुड़ी हुई भौंहों के कारण चेहरे पर उदासी की छाया अंकित थी। बुझी-सी मुस्कान के साथ मेरे सहयात्री ने अचानक पूछा –

"बड़े भाई, शायद तब तो आप मुझसे बहुत ही ज्यादा नाराज़ हुए होंगे?"

"कब, मुझे तो कुछ याद नहीं आ रहा?" मैं नहीं चाहता था कि उसे मेरे सामने झेंप महसूस हो। मगर उसकी नज़रों में इतना पश्चात्ताप था कि मुझसे बात टाली नहीं गई। "अरे... तब ... वह कोई बात नहीं। मैं तो भूल भी चुका हूं। सफ़र में सभी तरह की बातें हो जाती है। आप अभी तक उसे याद रखे हुए है?"

"कोई और वक़्त होता, तो शायद भूल भी जाता, मगर उस दिन..."

"क्या बात हो गयी थी उस दिन? कोई दुर्घटना?"

"क्या बताऊं आपको, दुर्घटना तो नहीं, कुछ दूसरी ही बात थी..." शब्द ढूंढ़ते हुए उसने कहा, मगर इसके बाद हंस दिया, उसने अपने को हंसने के लिये मजबूर किया। "इस वक़्त तो आप जहां भी कहते, मैं आपको वहीं पहुंचा

पाता। पर अब तो मैं खुद ही मुसाफ़िर हूं..."

"कोई बात नहीं, घोड़ा एक ही रास्ते पर हज़ारों बार आता-जाता है। हो सकता है कि फिर कभी मुलाक़ात हो जाये..."

"हां, अगर ऐसा हो गया, तो खुद ट्रक के केबिन में खींच ले जाऊंगा!" उसने सिर झटका।

"तो बात पक्की हो गयी?" मैंने मज़ाक़ किया।

"वादा करता हूं, बड़े भाई!" उसने खुश होते हुए जवाब दिया।

"फिर भी तब आपने क्यों नहीं बिठाया था मुझे?"

"तब क्यों नहीं बिठाया था?" उसने मेरे शब्द दोहराये और फ़ौरन उदास हो गया। उसने नज़र नीची कर ली, ख़ामोश हो गया, सिगरेट की ओर झुका और ख़ूब ज़ोर से कश खींचने लगा। मैं समझ गया कि मुझे यह नहीं पूछना चाहिये था और परेशान हो उठा। मेरी समझ में यह नहीं आ रहा था कि अपनी भूल कैसे सुधारूं। उसने टोटा राखदानी में बुझाया और भारी मन से ये शब्द कहे –

"तब ऐसा नहीं कर सकता था... बेटे को मोटर पर घुमाना था... वह मेरी राह देख रहा था..."

"बेटा?" मुझे हैरानी हुई।

"कुछ ऐसी ही बात थी... देखिये न... कैसे समझाऊं आपको..." अपनी मानसिक हलचल को दबाते हुए वह फिर से सिगरेट पीने लगा और अचानक दृढ़तापूर्वक मुझसे नज़र मिलाते हुए अपनी चर्चा करने लगा।

इस तरह मुझे ड्राइवर की कहानी सुनने को मिली।

वक़्त बहुत काफ़ी था – गाड़ी लगभग दो दिन में ओश पहुंचती थी। मैंने उसे जल्दी करने को विवश नहीं किया, रोक-टोककर सवाल भी नहीं किये। यह ज़्यादा अच्छा होता है कि आदमी आप बीती को फिर से जीकर सभी कुछ सोच-समझकर, कभी-कभी एकाध शब्द पर ही रुककर अपनी पूरी दास्तान सुनाये। मगर बड़ी मुश्किल से ही मैं उसकी कहानी में दख़ल देने से अपने को रोक पाया। कारण कि घटना-चक्र और पत्रकार के अपने घुमन्तू पेशे की बदौलत मैं खुद भी इस ड्राइवर और उन लोगों के बारे में कुछ जानता था, जिनसे भाग्य ने उसका वास्ता डाल दिया था। मैं उसकी कहानी में बहुत कुछ जोड़ सकता था, बहुत कुछ स्पष्ट कर सकता था, मगर पूरी कहानी सुनने के बाद ही मैंने

ऐसा करने का निर्णय किया। बाद में मैंने अपना इरादा ही बदल लिया। मेरे ख़्याल में तो मैंने ठीक ही किया। स्वयं पात्रों की ज़बानी ही उनकी कहानी सुनिये।

ड्राइवर की कहानी

...बिल्कुल अचानक ही यह सब कुछ शुरू हुआ। उन दिनों मैं फ़ौज से लौटा ही था। मोटर रेजीमेन्ट में फ़ौजी ख़िदमत करता रहा था। इसके पहले हाई स्कूल की पढ़ाई ख़त्म की थी और ड्राइवर के तौर पर काम कर चुका था। यतीमख़ाने में मुझे पाला-पोसा गया था। मेरा दोस्त अलीबेग जानतूरीन मुझसे एक साल पहले फ़ौज से वापस आ गया था। वह रिबाच्ये के मोटर अड्डे पर काम करता था। मैं उसी के पास आया था। हम दोनों त्यान-शान या पामीर के रास्तों पर ड्राइवरी करने के सपने देखा करते थे। बड़ी ख़ुशी से मुझे नौकरी दी गयी। होस्टल में रहने का इन्तज़ाम कर दिया गया। इतना ही नहीं, लगभग नई "ज़ील" ट्रक दी गयी, एक भी खरोंच नहीं थी उस पर ... सच बात तो यह है कि अपनी ट्रक से मुझे इनसान की तरह ही प्यार हो गया। बहुत संभाल कर रखा उसे मैने। बहुत अच्छी बनी हुई गाड़ी थी। इंजन बड़ा ताक़तवर था। हां, यह सही है कि उसे कभी भी पूरी तरह लादना नसीब नहीं होता था। आप तो जानते ही हैं कि कैसा रास्ता है त्यान-शान का। दुनिया की एक सबसे ऊंची मोटर सड़क है वह। दर्रे, चढ़ाई और उतराई। पहाड़ों में पानी की कुछ कमी नहीं, मगर फिर भी लगातार उसे अपने साथ रखना पड़ता है। शायद आपने ध्यान दिया हो, ट्रक की बॉडी के अगले सिरे के साथ लकड़ी की एक ब्रैकेट लगी होती है और उसपर पानी से भरा कनस्तर रखा रहता है। बात यह है कि टेढ़े-मेढ़े रास्तों पर इंजन बेहद गर्म हो जाता है। माल भी ज़्यादा नहीं लादा जा सकता। शुरू में मैने भी बहुत अक़्ल लड़ायी, बहुत दिमाग़ खपाया कि कुछ ज़्यादा माल लादने की तरकीब सोच निकालूं। मगर सब बेसूद। पहाड़ तो पहाड़ ही है।

काम से मैं ख़ुश था। जगह भी मुझे पसन्द थी। मोटरों का अड्डा इस्सीक-कूल झील के ऐन किनारे पर था। जब दूसरे मुल्कों के सैलानी आते और बुत बने घंटों झील के किनारे खड़े रहते, तो मैं मन ही मन घमंड से सोचता – "कैसी

ग़जब की है हमारी इस्सीक-कूल! ऐसी ख़ूबसूरती कहीं और खोजके तो दिखाओ ..."

शुरू के दिनों में सिर्फ़ एक बात ही मुझे अच्छी नहीं लगती थी। वसन्त के दिन थे, खेतीबाड़ी का काम अपने पूरे ज़ोरों पर था, सितम्बर महीने की पार्टी प्लीनरी मीटिंग के बाद सामूहिक फ़ार्मों ने ख़ूब अपनी ताक़त बटोर ली थी और ज़ोर-शोर से काम कर रहे थे। मगर उनके पास मशीनों-मोटरों की कमी थी। हमारे अड्डे की कुछ मोटरें सामूहिक फ़ार्मों की मदद के लिये भेजी जाती थीं। नये ड्राइवरों को लगातार सामूहिक फ़ार्मों में भेजा जाता था। मेरे साथ भी ऐसा ही होता था। सड़क पर जाने का आदी होता ही था कि फिर मुझे वहां से हटाकर गांवों में भेज दिया जाता। मैं अच्छी तरह समझता था कि यह काम ज़रूरी है, बहुत मानी रखता है, मगर फिर भी मैं ड्राइवर ठहरा, मुझे अपनी ट्रक पर रहम आता था, उसके लिये दुःखी होता था। मुझे ऐसा लगता था कि ट्रक नहीं, बल्कि मैं ख़ुद ही गढ़ों में धचके खाता हूं और ऊबड़-खाबड़ रास्तों पर कीचड़-गारा में लथपथ होता हूं। सपनों में भी ऐसे रास्ते देखना नसीब नहीं हो सकता...

हां, तो एक बार मैं गायों के नये बाड़े के लिये स्लेट पत्थर लादकर सामूहिक फ़ार्म जा रहा था। वह गांव पहाड़ के दामन में था, रास्ता स्तेपी में से होकर जाता था। सफ़र अच्छा चल रहा था, रास्ता सूख चुका था और गांव बहुत ही नज़दीक था। अचानक सिंचाई का नाला लांघते हुए मेरी ट्रक फंस गयी। वसन्त के शुरू से यहां रास्ते को ऐसे रौंद डाला गया था, पहियों से उसका ऐसा भुरकस निकाला गया था कि ऊंट धंस जाये, तो उसका भी कहीं पता न चले। मैंने ट्रक को दायें-बायें किया, उसे निकालने की हर कोशिश की, मगर नाकाम रहा। ज़मीन तो ट्रक के साथ जैसे चिपक ही गयी और मानो संडसी से उसे जकड़ लिया। फिर मैने भी खीझकर इतने ज़ोर से स्टीयरिंग ह्वील घुमाया कि कहीं कुछ और गड़बड़ी हो गयी। चुनांचे ट्रक के नीचे लेटना पड़ा... कीचड़ में लथ-पथ और पसीने से तर-ब-तर वहां पड़ा था और जी भरकर रास्ते को कोस रहा था। इसी वक़्त मुझे किसी के पैरों की आहट मिली। ट्रक के नीचे से मुझे सिर्फ़ रबड़ के ऊंचे बूट ही दिखाई दिये। बूट निकट आकर मेरे सामने रुक गये। मैं भड़क उठा – जाने कौन है और क्या देख रहा है, कोई सरकस थोड़े ही है।

"अपनी राह लो, सिर पर सवार नहीं होओ!" मैंने ट्रक के नीचे से चिल्लाकर कहा। कनखियों से मुझे पुराने, गोबर से लथपथ फ़्राक का पल्ला दिखाई दिया। समझ गया कि कोई बुढ़िया इन्तज़ार कर रही है कि मैं उसे गांव तक ट्रक में बिठा ले जाऊं।

"दादी, अपनी राह लो!" मैंने कहा, "मुझे अभी यहां बहुत देर तक जान खपानी होगी। कब तक इन्तज़ार करोगी..."

उसने जवाब दिया –

"मैं दादी नहीं हूं।"

कुछ झेंपकर मानो मज़ाक़ करते हुए उसने यह कहा था।

"तो कौन हो?" मैंने हैरान होकर पूछा।

"लड़की।"

"लड़की?" मैंने बूटों पर नज़र डाली और मानो शरारत करते हुए पूछा– "ख़ूबसूरत हो?"

बूट जहां के तहां हिले-डुले, एक तरफ़ को जरा बढ़े और जाने को हुए। तब मैं झटपट ट्रक के नीचे से निकला। देखा कि वास्तव में ही नाक-भौंह सिकोड़े हुए एक छरहरी-सी लड़की खड़ी है, सिर पर लाल रूमाल बांधे और बड़ा-सा कोट , जो शायद उसके पिता का था, कंधे पर डाले हुए। वह चुपचाप मुझे देख रही थी। मुझे इस बात का ध्यान ही नहीं रहा कि मैं ज़मीन पर बैठा हूं, मिट्टी और कीचड़ से बुरी तरह लथपथ हूं।

"अच्छी हो! ख़ूबसूरत हो," मैंने चुटकी लेते हुए मुस्कराकर कहा। वह वास्तव में ही ख़ूबसूरत थी। "बस, सेंडलों की कसर है!" मैंने जमीन से उठते हुए मज़ाक़ किया।

लड़की तेज़ी से घूमी और मेरी तरफ़ मुड़कर देखे बिना चल दी।

क्या हुआ उसे? नाराज़ हो गई क्या? मैं बहुत परेशान हो उठा। संभला, उसकी तरफ़ लपका, कुछ क़दम जाकर लौट आया, झटपट औज़ार इकट्ठे किये और केबिन में जा बैठा। झटकों के साथ ट्रक को आगे-पीछे बढ़ाने लगा। उसके पास पहुंच जाऊं – मेरे दिमाग़ में बस यही एक ख्याल था। इंजन चीख़ रहा था, ट्रक झटके खा रही थी, दायें-बायें हो रही थी, मगर ज़रा भी आगे नहीं बढ़ रही थी। लड़की दूर होती जा रही थी। अटकते हुए पहियों के नीचे मैं न जाने किस पर चिल्ला उठा –

"छोड़ दो! मैं कह रहा हूं न, छोड़ दो! सुना तुमने?"

मैंने पूरी ताक़त से एक्सेलेरेटर दबाया, ट्रक चीख़ती-कराहती हुई रेंगती रही, रेंगती रही और फिर कोई करिश्मा ही कहिये कि कीच से निकल गयी। मेरी ख़ुशी का कोई ठिकाना न था! उसे रास्ते पर बढ़ा ले चला, रूमाल निकालकर चेहरा साफ़ किया और बाल ठीक-ठाक किये। लड़की के क़रीब पहुंचकर मैंने ब्रेक लगाया और शैतान जाने कहां से मुझमें यह चीज़ आई, मैंने बड़ी शान से, सीट पर क़रीब-क़रीब लेटे हुए ही केबिन का दरवाज़ा पूरी तरह खोल दिया।

"आइये, बैठिये," मैंने हाथ बढ़ाकर उसे केबिन में आने के लिये कहा। लड़की रुकी नहीं, अपने रास्ते चलती गयी। यह भी अच्छी रही! मेरी सारी दिलेरी हवा हो गयी। मैं ट्रक बढ़ाकर फिर उसके पास पहुंचा, इस बार माफ़ी मांगी और मिन्नत करते हुए कहा –

"नाराज़ नहीं होइये! मैंने तो ऐसे ही... आइये, बैठिये!"

मगर लड़की ने कोई जवाब नहीं दिया।

तब मैंने ट्रक उससे आगे ले जाकर रास्ते के आर-पार खड़ी कर दी। केबिन से कूदकर बाहर आया, दायीं ओर से भागकर गया, दरवाज़ा खोला और उसे पकड़कर खड़ा हो गया। वह मेरे पास आयी, परेशानी से मेरी तरफ़ देखा मानो कह रही हो कि यह तो पीछे ही पड़ गया है। मैंने कुछ नहीं कहा, इन्तज़ार करता रहा। या तो उसे मुझ पर रहम आ गया, या फिर कोई और वजह हुई– उसने सिर हिलाया और चुपचाप केबिन में जा बैठी।

हम रवाना हुए।

मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि बातचीत कैसे शुरू करूं। लड़कियों से जान-पहचान और बातचीत करना मेरे लिये कोई नयी चीज़ नहीं थी, मगर अब न जाने क्यों हिम्मत साथ नहीं दे रही थी। भला क्या वजह हो सकती थी? स्टीयरिंग ह्वील घुमा रहा था, कनखियों से उसे देखता जाता था। उसकी गर्दन पर हल्के-हल्के, नाज़ुक-नाज़ुक काले बालों की लटें लहरा रही थीं। कोट कंधे से खिसक गया था, वह उसे कोहनी का सहारा देकर संभाल रही थी, ख़ुद मुझसे दूर खिसक गयी थी, मेरे साथ छू जाने से डरती थी। आंखों में कड़ाई थी, मगर वैसे तो नर्मदिल ज़रूर थी। चेहरा खिला हुआ था, वह माथे पर बल डालना चाहती थी, मगर ऐसा हो नहीं रहा था। आख़िर उसने भी छिपे-छिपे

मेरी तरफ़ देखा। हमारी नज़रें मिलीं। वह मुस्करा दी। तब मैंने बातचीत शुरू करने की हिम्मत की।

"आप वहां ट्रक के पास क्यों रुकी थीं?"

"आपकी मदद करना चाहती थी," लड़की ने जवाब दिया।

"मदद?" मैं हंस दिया। "हां, सचमुच ही आपने मेरी मदद कर दी! अगर आप न आतीं, तो मैं शाम तक वहीं बैठा रहता... आप हमेशा इसी रास्ते से जाती हैं?"

"हां। मैं फ़ार्म में काम करती हूं।"

"यह अच्छी बात है!" मैंने ख़ुशी ज़ाहिर की, मगर फ़ौरन अपनी भूल सुधारते हुए कहा – "रास्ता बहुत अच्छा है!" और ऐन इसी वक़्त ट्रक ने गहरे गढ़े में ऐसा धचका खाया कि हमारे कंधे टकरा गये। मैं कांखा, मेरे चेहरे पर सुर्ख़ी दौड़ गई, समझ में नहीं आ रहा था कि आंखों को कहां छिपाऊं। वह हंस पड़ी। तब मैं भी अपने पर क़ाबू न रख पाया और ज़ोर से हंस दिया।

"मैं तो सामूहिक फ़ार्म जाना ही नहीं चाहता था," मैंने हंसते हुए कहा। "अगर यह मालूम होता कि रास्ते में ऐसी मददगार मिलेगी, तो दफ़्तर में इसके लिये झगड़ा ही न किया होता... ओह, इल्यास, इल्यास!" मैंने अपने को कोसा। "यह मेरा नाम है," मैने बात साफ़ की।

"और मेरा नाम है असेल..."

हम गांव के नज़दीक पहुंच रहे थे। रास्ता बेहतर हो गया था। खिड़की में से तेज़ हवा के झोंके आ रहे थे, असेल के सिर पर बंधा हुआ रूमाल उड़ रहा था, उसके बाल बिखर रहे थे। हम ख़ामोश थे। हमें बहुत अच्छा लग रहा था। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि अगर कोहनी से कोहनी छुआता वह इनसान बग़ल में बैठा हो, जिसके बारे में एक घण्टा पहले तक कुछ भी मालूम न हो, मगर न जाने क्यों, अब सिर्फ़ उसी के बारे में सोचने को मन चाहता हो, तो दिल को राहत और ख़ुशी मिलती है... मुझे मालूम नहीं कि असेल के दिल का क्या हाल था, मगर उसकी आंखें मुस्करा रही थीं। काश कि हम इसी तरह सफ़र करते जाते ताकि कभी अलग न होते... मगर ट्रक तो गांव की सड़क पर चली जा रही थी। असेल ने अचानक सहमकर कहा–

"रोक दीजिये, मैं यहां उतरूंगी!"

मैने ब्रेक लगाया।

"आप यहां रहती हैं?"

"नहीं," न जाने किस वजह से वह कुछ घबरा-सी गयी, परेशान हो उठी। "लेकिन यहीं उतर जाना बेहतर होगा।"

"किसलिये?" मैं आपको घर तक पहुंचा आता हूं! मैंने उसे इनकार करने का मौक़ा नहीं दिया और ट्रक आगे बढ़ा दी।

"यहां," असेल बोली। "शुक्रिया!"

"शुक्रिये की कोई बात नहीं," मैं बुदबुदाया और मज़ाक़ में ज़्यादा संजीदगी से पूछा – "अगर कल फिर मेरी ट्रक उसी जगह पर फंस गयी, तो मदद करेंगी?"

उसके जवाब देने के पहले ही फाटक खुला और एक परेशान-सी बुज़ुर्ग औरत बाहर भागी आई।

"असेल!" वह चिल्लाई। "तू कहां मर जाती है, ख़ुदा तुझे ग़ारत करे! जल्दी से जाकर कपड़े बदल ले, सगाई करनेवाले आ गये हैं!" उसने मुंह पर हाथ रखकर फुसफुसाते हुए इतना और जोड़ दिया था।

असेल परेशान हो उठी, उसके कंधे से कोट गिर पड़ा, उसने उसे उठाया और चुपचाप मां के पीछे-पीछे हो ली। फाटक के पास वह मुड़ी, उसने मेरी तरफ़ देखा, मगर फाटक उसी वक़्त बन्द हो गया। सिर्फ़ इसी वक़्त गली में बंधे हुए पसीने से तर-ब-तर घोड़ों की तरफ़ मेरी नज़र गयी। ज़ाहिर था कि वे बहुत दूर से आये थे। अपनी सीट पर जरा ऊंचे उठकर मैंने कच्ची चारदीवारी के पीछे नज़र डाली। आंगन में चूल्हे के पास औरतें दौड़-धूप कर रही थीं। तांबे के बड़े-से समोवार में से धुआं निकल रहा था। दो आदमी ओट में भेड़ का धड़ साफ़ कर रहे थे। हां, यहां सगाई करने के लिये आये लोगों को क़ायदे-क़ानून के मुताबिक़ मेहमाननेवाज़ी की जा रही थी। मेरे लिये यहां रुके रहना बेकार था। माल उतारने के लिये जाना ज़रूरी था।

दिन ढले मैं मोटरों के अड्डे पर लौटा। ट्रक को धोया, उसे गैरेज में ले गया। देर तक कोई न कोई काम ढूंढ़कर ट्रक से उलझता रहा। मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि आज के क़िस्से को मैं दिल से क्यों लगा बैठा था। रास्ते भर अपने को कोसता रहा था – "आख़िर तुम चाहते क्या हो? अजीब उल्लू हो! भला कौन है वह तुम्हारी? मंगेतर? बहन? इसमें ख़ास बात ही क्या है कि ऐसे अचानक रास्ते में उससे मुलाक़ात हो गयीं, उसे घर तक पहुंचा दिया और अब ऐसे घुले जा रहे हो कि जैसे प्यार का क़रार कर आये हो। मुमकिन

है कि वह तो तुम्हारा ख़्याल तक भी दिमाग़ में न लाना चाहती हो। बड़ी ज़रूरत है उसे तुम्हारी! उसका क़ानूनी मंगेतर है और तुम कौन हो? रास्ते में मिल जानेवाला ड्राइवर! सैकड़ों है तुम जैसे किस-किस से जान-पहचान की जा सकती है... तुम्हें किसी तरह की उम्मीद करने का हक़ ही क्या है — लोग सगाई-मंगनी करते हैं, शादी होगी और तुम्हारा इस सब से क्या सरोकार? गोली मारो इन सब चीज़ों को। स्टीयरिंग ह्वील घुमाओ और बस!"

मगर मुसीबत तो यह थी कि अपने को मैंने चाहे कितना ही क्यों न समझाया, असेल को मैं भूल न पाया।

ट्रक से उलझने के लिये कुछ भी बाक़ी न रह गया था। मैं अपने होस्टल जा सकता था, वहां हंसी-ख़ुशी का रंग जमा रहता था। मगर नहीं — मैं नहीं गया। मैं अकेला रहना चाहता था। सिर के नीचे हाथ रखकर ट्रक के पहलू पर लेट गया। थोड़ी दूरी पर जानताई अपनी ट्रक को ठीक-ठाक कर रहा था। इस नाम का एक ड्राइवर हमारे यहां होता था। उसने ट्रक के नीचे से सिर निकाला और हुंकारा भरकर पूछा —

"किस चीज़ के सपने देख रहे हो, जीगित?"

"पैसों के!" मैंने जल-भुनकर जवाब दिया।

फूटी आंखों नहीं सुहाता था वह मुझे। पैसे का पीर था। बड़ा ही मक्कार और जलनेवाला। दूसरों की तरह वह होस्टल में नहीं, किसी औरत के फ़्लैट में रहता था। अफ़वाह थी कि उसने उसके साथ शादी करने का वादा किया था — घर तो अपना हो जायेगा।

मैंने मुंह फेर लिया। अहाते में, मोटरों को धोने की जगह के क़रीब हमारे नौजवान हंसी-मज़ाक़ कर रहे थे। एक नौजवान केबिन के ऊपर चढ़ गया और अपनी बारी के इन्तज़ार में खड़े ड्राइवरों पर पाइप से पानी की धार गिराने लगा। मोटरों का अड्डा ठहाकों से गूंज रहा था। धार मोटी और ज़ोरदार थी, जैसे ही टकराती आदमी डोल जाता। उन्होंने इस नौजवान को केबिन से नीचे खींचना चाहा, मगर वह वहीं उछलता-कूदता रहा, पीठों पर टामीगन की भांति पानी की धार की ज़ोरदार बौछार करता; टोपियां उड़ा देता। अचानक धार ऊपर की ओर हो गयी सूर्य-किरणों में ऐसे फैल गयी मानो इन्द्रधनुष हो। धार जहां ऊपर की ओर जा रही थी, उधर नज़र डालने पर मुझे कादीचा, हम ड्राइवरों की कंट्रोलर, खड़ी दिखाई दी। वह मैदान छोड़कर भागनेवाली आसामी नहीं थी।

उसमें बड़ी शान थी और उसके पास फटकना कुछ आसान नहीं था। इस वक़्त भी वह बिल्कुल निडर और इतमीनान से खड़ी थी। हिम्मत न पड़े तो आदमी किसी का बिगाड़ ही क्या सकता है। कादीचा ने ऊंचे जूतेवाला अपना पांव फैला रखा था, बाल संवार रही थी। उसके दांतों के बीच सुइयां थीं, वह मुस्करा रही थी। हल्की-हल्की, रुपहली फुहारें उसके सिर पर पड़ रही थीं। लोग खिलखिलाकर हंस रहे थे, केबिन पर खड़े नौजवान की हिम्मत बढ़ाते हुए चिल्ला रहे थे —

"निशाना साधो!"

"ख़ूब ज़ोर से!"

"संभल जाओ, कादीचा!"

मगर नौजवान कादीचा को भिगोने की हिम्मत न कर पाया, धार को उसके इर्द-गिर्द घुमाता ही रहा। उसकी जगह मैंने तो कादीचा को सिर से पांव तक तर कर दिया होता और वह मुझे कुछ भी न कहती, बस , हंस दी होती। इस बात की तरफ़ हमेशा मेरा ध्यान गया था कि दूसरों के मुक़ाबले में मेरे साथ उसका रवैया कुछ और ही होता था। वह मेरी बात मान जाती थी, कुछ नख़रा-टख़रा करने लगती थी। जब मैं चोंचलेबाज़ी करता हुआ उसका सिर सहलाता, तो उसे अच्छा लगता। मुझे यह पसन्द था कि वह हमेशा मेरे साथ बहसती, झगड़ती, मगर मेरे ग़लत होने पर भी जल्दी से मेरी बात मान लेती। कभी-कभार मैं उसे अपने साथ सिनेमा ले जाता, घर पहुंचा आता — उसका घर मेरे होस्टल के रास्ते में जो था। उसके दफ़्तर में बेरोक-टोक चला जाता था, जबकि दूसरों को वह सिर्फ़ खिड़की से ही बात करने की इजाज़त देती थी।

मगर इस वक़्त मुझे उसकी कुछ परवाह नहीं थी। मनाते रहें मौज-मेला। कादीचा ने आख़िरी सूई बालों में खोंसी।

"बस, काफ़ी खेल हो चुका!" उसने डांटकर कहा।

"जो हुक्म, साथी कंट्रोलर!" केबिन पर बड़े नौजवान ने सलामी दी। क़हक़हे लगाते हुए दूसरे लोगों ने उसे नीचे उतार लिया।

कादीचा गैरेज में हमारी तरफ़ आ गयी। वह जानताई की ट्रक के पास रुकी मानो किसी को ढूंढ़ रही हो। गैरेज को हिस्सों में बांटनेवाली जाली की वजह से मुझपर उसकी फ़ौरन नज़र न पड़ी। जानताई ने ट्रक के नीचे से सिर निकाला और ख़ुशामदी अन्दाज़ में कहा —

"सलाम, हसीना!"

"ओह, जानताई ..."

वह ललचायी नज़रों से कादीचा की टांगों को देखने लगा। कादीचा ने झल्लाकर कंधे झटके।

"ऐसे घूर क्यों रहे हो?" उसने जूते की नोक से धीरे-से उसकी ठोड़ी पर ठोकर मारी।

कोई दूसरा होता, तो ज़रूर बुरा मान जाता, मगर जानताई तो ऐसे खिल उठा मानो उसे चूमा गया हो और फिर से मोटर के नीचे घुस गया।

कादीचा ने मुझे देखा।

"बढ़िया आराम हो रहा है, इल्यास?"

"जैसे नर्म गद्दे पर!"

उसने जाली के साथ मुंह सटा लिया, टकटकी बांधकर मुझे देखा और धीरे-से कहा –

"मेरे दफ़्तर में आना।"

"अच्छी बात है।"

कादीचा चली गयी। मैं उठा और जाने को तैयार हुआ। जानताई फिर मोटर के नीचे से निकला।

"खूब पटाख़ा औरत है!" उसने आंख मारते हुए कहा।

"मगर तुम मुंह धो रखो।" मैंने उसे करारा जवाब दिया।

मेरा ख़्याल था कि वह आग-बबूला हो उठेगा और मार-पीट पर उतर आयेगा। मैं मार-पीट का शौक़ीन नहीं हूं, मगर जानताई से उलझ गया होता। मन इतना भारी था कि समझ में ही नहीं आ रहा था कि क्या करूं।

मगर जानताई ने तो बुरा भी नहीं माना।

"कोई बात नहीं!" वह बुदबुदाया। "वक़्त ही सब कुछ बतायेगा..."

दफ़्तर में कोई भी नहीं था। यह क्या मामला है? कहां चली गयी वह? मुड़ा और सीधा कादीचा से जा टकराया। वह सिर पीछे को किये दरवाजे के साथ पीठ टिकाये खड़ी थी। बरौनियों के नीचे उसकी आंखें चमक रही थीं। उसकी गर्म सांस से मेरा चेहरा तमतमा उठा। मुझे अपने पर क़ाबू न रहा, उसकी तरफ़ बढ़ा, मगर उसी वक़्त पीछे हट गया। कितनी अजीब बात थी कि उस घड़ी मुझे ऐसा लगा मानो मैने असेल के साथ गद्दारी की हो। "किसलिये बुलाया था?" मैंने खीझते हुए पूछा।

कादीचा उसी तरह चुपचाप मुझे देखती रही।

"कहो न?" मैंने बेसब्र होते हुए पूछा।

"आज तो तुम बड़े झल्लाये-झल्लाये से हो," उसने दुःखी आवाज़ में कहा। कोई और नज़र में चढ़ गई है क्या?"

मैं घबरा उठा। यह मुझे ताना क्यों मार रही है? कहां से पता चल गया इसे?

इसी वक़्त खिड़की खुल गयी। जानताई का सिर नज़र आया। उसके चेहरे पर डंक मारती-सी मुस्कान थी।

"यह ले लीजिये, साथी कंट्रोलर!" ज़हर-बुझा तीर छोड़ते हुए उसने कादीचा की तरफ़ कोई कागज़ बढ़ाया।

कादीचा ने उसकी तरफ़ गुस्से से देखा। झुंझलाकर मुझसे कहा –

"तुम्हारी जगह ड्यूटी का हुक्मनामा कौन लेने आयेगा? ख़ास हरकारा भेजना होगा क्या?"

हाथ से मुझे एक तरफ़ हटाकर कादीचा तेज़ी से मेज़ के पास गयी।

"यह लो!" उसने ड्यूटी का परवाना मेरी तरफ़ बढ़ा दिया।

मैंने कागज़ ले लिया। उसी सामूहिक फ़ार्म में जाने का हुक्मनामा था। दिल बैठ गया – यह जानते हुए कि असेल ...वहीं जाऊं... वैसे भी, आख़िर क्यों मुझे ही सबसे ज़्यादा फ़ार्मों के चक्कर लगवाये जाते हैं? मैं बिगड़ उठा।

"फिर फ़ार्म?" फिर खाद और ईंटें ढोऊं? "नहीं जाऊंगा मैं!" मैंने हुक्मनामा मेज़ पर फेंक दिया। "बहुत धक्के खा लिये गन्दगी में, अब और जायें!"

"चिल्लाओ नहीं! यह हफ़्ते भर की ड्यूटी है! ज़रूरत हुई, तो और बढ़ा दी जायेगी," कादीचा बिगड़ उठी।

तब मैंने धीरे-से कहा –

"नहीं जाऊंगा!"

हमेशा की तरह कादीचा अचानक ही नर्म पड़ गयी –

"अच्छी बात है। मैं ऊपर वाले अफ़सरों से बात करूंगी।"

उसने हुक्मनामा मेज़ से उठा लिया।

"इसका मतलब है," मैंने सोचा, "वहां नहीं जाऊंगा और असेल से कभी

नहीं मिल सकूँगा।" मेरा मन और भी ज़्यादा परेशान हो उठा। मैं अच्छी तरह से समझ रहा था कि मुझे ज़िन्दगी भर इसका पछतावा रहेगा। जो भी होना हो, हो जाये – मैं जाऊंगा!

"ख़ैर, लाओ, दे दो!" मैंने हुक्मनामा ले लिया।

जानताई खिड़की में हंसा – "मेरी नानी को सलाम कह देना!"

मैंने कोई जवाब नहीं दिया। उसका तो मुंह तोड़ देना चाहिये था! मैंने फटाक से दरवाज़ा बन्द किया और होस्टल की तरफ चल दिया।

अगले दिन मैं आंखें फाड़-फाड़कर रास्ते को देखता रहा। कहां है वह? सरो जैसे छरहरे, ख़ूबसूरत बदन वाली वह कहीं नज़र आयेगी भी या नहीं? वह लाल रूमाल वाली मेरी सरो। वह स्तेपी का सरो। बेशक वह रबड़ के ऊंचे बूट और अपने अब्बा का कोट पहने थी, पर इससे क्या फ़र्क पड़ता है! मैंने तो देखा है कि वह कैसी है।

असेल ने मेरे दिल को छू लिया था, मेरे अन्दर हलचल पैदा कर दी थी।

मैं मोटर चलाता हुआ दायें-बायें देखता जाता था। नहीं, वह कहीं भी नज़र नहीं आ रही थी। मैं गांव तक जा पहुंचा, उसका घर आ गया, मैंने ट्रक रोक दी। शायद घर पर हो? मगर मैं उसे बुलाऊं तो कैसे, क्या कहूं? ओह! मेरी क़िस्मत में यह नहीं है कि उससे मुलाक़ात हो। मैं माल उतारने को ट्रक बढ़ा ले चला। माल उतार रहा था, मगर दिल में उम्मीद किये जा रहा था कि लौटते वक़्त मुलाकात हो ही जायेगी। पर लौटते वक़्त भी ऐसा नहीं हुआ। तब मैंने फ़ार्म की तरफ़ ट्रक मोड़ दी। उनका फ़ार्म गांव से दूर, अलग-थलग था। वहां एक लड़की से मैंने पूछा। उसने जवाब दिया कि असेल नहीं है, काम पर नहीं पाई। "इसका मतलब यह है कि जान-बूझकर काम पर नहीं आई ताकि रास्ते में मुझसे मुलाक़ात न हो जाये," मैंने सोचा और बहुत परेशान हो उठा। उदास-उदास-सा अड्डे पर लौटा।

अगले दिन फिर उसी रास्ते पर ट्रक बढ़ाये जा रहा था। इस बार उससे मुलाक़ात की बात सोच भी नहीं रहा था। दरअसल, उसे क्या लेना-देना है मुझसे? अगर लड़की की सगाई हो चुकी है, तो उसे परेशान ही क्यों किया जाये? मगर मुझे यक़ीन नहीं होता था कि हमारा क़िस्सा योंही ख़त्म हो जायेगा। बात यह

है कि गांव-देहातों में अभी तक लड़कियों की रज़ामन्दी के बिना उनकी शादी कर दी जाती है। कितनी ही बार मैंने अखबारों में ऐसी ख़बरें पढ़ी हैं। मगर इससे हासिल क्या होता है? लड़ाई के बाद तलवार की धार तेज़ करने में क्या तुक हो सकती है? शादी हो गई तो वापस थोड़े ही लाया जायेगा, ज़िन्दगी बरबाद हो गई ... इस तरह के ख़्याल आ रहे थे मेरे दिमाग़ में ...

उन दिनों बसन्त अपने पूरे जोबन पर था। पहाड़ की तलहटी गुल लाला से लाल-लाल हो रही थी। बचपन से प्यार रहा है मुझे इन फूलों से। ढेर सारे फूल तोड़ लूं और जाकर उसे पेश करूं! चलकर ढूंढूं उसे...

अचानक मैंने क्या देखा? आंखों पर यक़ीन नहीं हुआ – असेल! पिछली बार जहां मेरी ट्रक फंसी थी, वह उसी जगह रास्ते से ज़रा हटकर एक पत्थर पर बैठी थी। वह तो जैसे किसी की राह देख रही थी! मैंने ट्रक उसकी तरफ़ बढ़ायी। वह डरी-सी पत्थर से उठी, घबरा गयी, रूमाल सिर से खींच लिया, हाथ में दबा लिया। इस बार असेल अच्छा फ़्राक और सेंडल पहने थी। इतना फ़ासला और यह ऊंची एड़ी वाले सेंडल पहने है। मैंने झटपट ब्रेक लगाया। मेरा कलेजा उछला पड़ रहा था।

"सलाम, असेल!"

"सलाम!" उसने धीरे-से जवाब दिया।

मैंने केबिन में बैठने के लिये उसे सहारा देना चाहा, मगर वह मुड़ी और धीरे-धीरे रास्ते के किनारे-किनारे चल दी। मतलब यह कि नहीं बैठना चाहती। मैने धीरे-से ट्रक बढ़ाई, दरवाज़ा खोल दिया और इसी तरह आहिस्ते-आहिस्ते उसके साथ-साथ ट्रक चलाने लगा। ऐसे ही बढ़ते गये हम। वह रास्ते के किनारे-किनारे और मैं अपनी सीट पर। दोनों ख़ामोश रहे। बात करते भी तो क्या ? कुछ देर बाद उसने पूछा –

"आप कल फ़ार्म पर आये थे?"

"हां, क्यों?"

"ऐसे ही पूछ लिया है। वहां नहीं आया कीजिये।"

"मैं आपसे मिलना चाहता था।"

असेल ने कोई जवाब नहीं दिया।

मेरे दिमाग़ में वह कम्बख़्त सगाई वाली बात चक्कर काट रही थी। मैं सब कुछ जानना चाहता था। पूछूं – मगर ज़बान नहीं खुलती थी। डरता था। उसके जवाब से डरता था।

असेल ने मेरी तरफ़ देखा।

"क्या वह सच है?"

उसने सिर हिलाकर हामी भरी। स्टीयरिंग ह्वील पर मेरा हाथ कांप गया।

"शादी कब है?"

"जल्दी ही," उसने धीमी आवाज़ में जवाब दिया।

मेरा मन हुआ कि बेशक किधर भी क्यों न हो, ट्रक को तेज़ी से उड़ा ले जाऊं। मगर रफ़्तार बढ़ाने के बजाय मैंने क्लच बन्द कर दिया। इंजन जोर से चीख़ने लगा और गाड़ी जहां की तहां खड़ी रही। असेल उछलकर दूर हट गयी। मैंने तो उससे माफ़ी भी नहीं मांगी। मुझे इसकी सुध ही नहीं थी।

"तो हम फिर कभी नहीं मिलेंगे?" मैंने पूछा।

"मालूम नहीं। न मिलना ही बेहतर रहेगा।"

"मगर मैं, मैं तो फिर भी... आप चाहें या न चाहें, आपकी तलाश करूंगा!"

हम फिर से ख़ामोश हो गये। मुमकिन है कि हम दोनों एक ही बात सोच रहे थे, मगर हमारे बीच जैसे कोई दीवार खड़ी थी, जो मुझे उसके नज़दीक नहीं जाने देती थी और उसे मेरे केबिन में आकर बैठने से रोकती थी।

"असेल!" मैं बोला, "मुझे अपने से दूर नहीं कीजिये। मैं किसी तरह का कोई ख़लल नहीं डालूंगा। दूर से ही आपको देखा करूंगा। वादा करती हैं?"

"मैं नहीं जानती, शायद ..."

"आईये, बैठ जाइये, असेल।"

"नहीं। आप जाइये। गांव बिल्कुल नज़दीक है।"

इसके बाद हम फिर इसी रास्ते पर मिले, हर बार जैसे अचानक ही। हर बार वह सड़क के किनारे-किनारे चलती जाती और मैं केबिन में बैठा रहता। यह बुरा तो बहुत लगता, मगर हो ही क्या सकता था!

असेल के मंगेतर के बारे में मैंने कोई पूछ-ताछ नहीं की। ऐसा करना अटपटा लगता था, जी भी नहीं चाहता था। उसने जो कुछ बताया, उससे मैं यह समझ गया कि वह उसे बहुत कम जानती है। वह उसकी मां का कोई रिश्तेदार था, कहीं दूर पहाड़ों के वन-फ़ार्म में रहता था। उनके ख़ानदान एक जमाने से आपस में लड़कियों की जैसे अदला-बदली करते थे, पीढ़ी-दर-पीढ़ी

आपस में रिश्तेदारी बनाये चले जा रहे थे। असेल के मां-बाप तो किसी दूसरी जगह उसकी शादी करने की बात सोच भी नहीं सकते थे। मेरा तो सवाल ही पैदा नहीं हो सकता था। कौन था मैं? किसी दूसरी जगह से आया हुआ एक ड्राइवर, जिसके न ख़ानदान का पता, न मां-बाप का। हां, मैं ख़ुद भी तो इसकी जुर्रत नहीं कर सकता था।

असेल उन दिनों गुमसुम रहती थी। हर वक़्त किसी चीज़ के बारे में सोचा करती थी। मगर मुझे किसी तरह की कोई उम्मीद नहीं थी। उसकी क़िस्मत का फ़ैसला हो चुका था, मिलना-जुलना बेकार था। मगर हम तो बच्चों की तरह इस बात का ज़िक्र करने की कोशिश नहीं करते थे और मिलते थे सिर्फ़ इसलिये कि मिले बिना रह नहीं सकते थे। हम दोनों को ऐसा लगता था कि हम एक दूसरे के बिना ज़िन्दा नहीं रह सकते।

पांच दिन बीत गये। उस सुबह को मैं मोटरों के अड्डे पर था और फेरे पर जाने की तैयारी कर रहा था। अचानक मुझे कंट्रोलर के दफ़्तर में बुलाया गया।

"तुम्हारे लिये ख़ुशख़बरी है!" कादीचा ने बहुत ख़ुश होते हुए कहा। "तुम अब सिंकियांग जाया करोगे।"

मुझे तो काठ मार गया। पिछले दिनों मैं ऐसे जिया था जैसे कि हमेशा सामूहिक फ़ार्म ही जाता रहूंगा। चीन के फेरे कई दिनों के थे, जाने कब असेल से मुलाक़ात हो? उसे ख़बर दिये बिना ही ग़ायब हो जाऊँ?

"लगता है कि तुम्हें इससे कोई ख़ुशी नहीं हुई?" कादीचा बोली।

"मगर सामूहिक फ़ार्म का क्या होगा?" मैं परेशान हो उठा। "वहां अभी काम ख़त्म नहीं हुआ।"

कादीचा ने हैरानी से कंधे झटके।

"पहले तो तुम ख़ुद ही वहां नहीं जाना चाहते थे।"

मैं झल्ला उठा –

"पहले मैं क्या चाहता था, इसका क्या सवाल पैदा होता है।"

मैं कुर्सी पर बैठ गया, समझ नहीं पा रहा था कि क्या करूं।

जानताई भागा हुआ आया। पता चला कि मेरी जगह उसे सामूहिक फ़ार्म भेजा जा रहा है। मेरे कान खड़े हुए। जानताई शायद इनकार कर देगा, क्योंकि गांव-देहातों के रास्तों पर आमदनी कम होती है। मगर उसने हुक्मनामा ले लिया और साथ में यह भी कहा –

"बेशक कहीं भी, दुनिया के सिरे पर भी भेज दो, कादीचा! वैसे गांवों में तो आजकल भेड़ें भी तैयार हो रही है। कहो तो लेता आऊं?"

इसी वक़्त उसकी मुझ पर नज़र पड़ी –

"माफ़ी चाहता हूं, लगता है कि मैंने ख़लल डाल दिया!"

"जाओ यहां से!" सिर झुकाये हुए ही मैं फुंकार उठा।

"तुम बैठे क्यों हो, इल्यास?" कादीचा ने मेरा कन्धा छूते हुए कहा।

"मुझे तो सामूहिक फ़ार्म ही जाना है, भेज दो वहां कादीचा!" मैंने मिन्नत की।

"तुम होश में तो हो? कैसे कर सकती हूं मैं यह, हुक्मनामा नहीं है!" उसने कहा और परेशानी से मेरी तरफ़ देखा। "किसलिये इतने बेक़रार हो वहां जाने को?"

मैंने कोई जवाब नहीं दिया। चुपचाप बाहर आ गया, गैरेज की तरफ़ चल दिया। जानताई अपनी ट्रक के पहलू से मुझे छूते-छूते ही मेरे पास से उसे निकाल ले गया और उसने शरारती ढंग से मुझे आंख मारी।

मैं ट्रक से उलझता रहा, देर करता रहा, मगर कोई चारा नहीं था। माल लादनेवाली जगह पर ट्रक को ले गया। वहां छोटी-सी क़तार थी।

साथियों ने मुझे सिगरेट पीने के लिये बुलाया, मगर मैं तो केबिन से ही नहीं निकला। आंखें बन्द करके मैं अपने सामने यह तस्वीर लाता कि असेल कैसे बेक़रारी से रास्ते पर मेरा इन्तज़ार कर रही है। एक दिन इन्तज़ार करेगी, दो दिन, तीन दिन ... क्या सोचेगी वह मेरे बारे में?

मेरी बारी नज़दीक आती जा रही थी। मुझसे आगे वाली ट्रक पर लदाई होने लगी थी। ज़रा-सी देर बाद मेरी ट्रक भी क्रेन के नीचे खड़ी हो जायेगी। "माफ़ करना मुझे असेल!" मैंने मन ही मन कहा। "स्तेपी के मेरे, सरो, माफ़ करना मुझे!" इसी वक़्त अचानक मेरे दिमाग में यह ख़्याल कौंधा – मैं उससे कहकर लौट सकता था। कुछ घंटे देर से फेरे पर चला जाऊंगा, तो कौनसी मुसीबत आ जायेगी। अड्डे के अफ़सर को बाद में सब कुछ समझा दूंगा, शायद समझ जाये, नहीं समझेगा तो डांट-डपट देगा। मेरे ख़िलाफ़ रिपोर्ट दर्ज कर लेगा. .. नहीं, मैं ऐसे यहां से नहीं जा सकता! "जाऊंगा असेल के पास!"

मैंने ट्रक पीछे हटाने के लिये इंजन चालू किया, लेकिन पीछे मोटरें बिल्कुल सटकर खड़ी थीं। इसी वक़्त लदी हुई ट्रक आगे चली गयी, मेरी बारी आ गयी थी।

"ए इल्यास, गाड़ी बढ़ाओ!" क्रेन चलानेवाला चिल्लाया।

क्रेन का कांटा मेरी ट्रक के ऊपर हो गया। सब ख़त्म! बाहर भेजा जानेवाला माल लेकर तो कहीं नहीं जा सकता। पहले क्यों ख़्याल नहीं आया मुझे? ट्रक रवाना करनेवाला आदमी काग़ज़ात लेकर आ गया। मैंने पीछे की तरफ़ नज़र डाली, बड़ी सारी हिलती-डुलती पेटी ट्रक की तरफ़ आ रही थी। वह नीची होती जा रही थी।

मैं चिल्लाया –

"संभल कर!"

मेरी ट्रक का इंजन चालू था, मैं ट्रक को तेज़ी से आगे बढ़ा ले चला। पीछे से शोर, सीटियां और गालियां सुनाई दीं...

मैं ट्रक को गोदामों, तख़्तों और कोयले के ढेरों के पास से निकाल ले गया। मैं स्टीयरिंग ह्वील से जैसे चिपक गया। ज़मीन डोल रही थी, मैं और ट्रक, हम दोनों दायें-बायें हिचकोले खा रहे थे। मगर हमारे लिये यह कोई नई बात नहीं थी...

जल्दी ही मैं जानताई के करीब जा पहुंचा। उसने केबिन में से झांका और पागलों की तरह आंखें फाड़-फाड़कर देखने लगा – मुझे पहचान गया था। वह देख रहा था कि मैं जल्दी में हूं, इसलिये उसे रास्ता छोड़ देना चाहिये था। मगर नहीं, वह मुझे आगे निकलने नहीं दे रहा था। मैंने ट्रक को मैदान की तरफ़ बढ़ा दिया और इसी तरह खेत से होकर आगे निकल जाना चाहा। जानताई ने भी रफ़्तार बढ़ा दी – वह मुझे रास्ते पर नहीं आने देता था। हम इसी तरह मोटरें दौड़ाते रहे, वह रास्ते पर, मैं मैदान में। हम स्टीयरिंग ह्वीलों से चिपके हुए थे, दरिन्दों की तरह एक दूसरे को घूरते थे, कोसते थे।

"किधर जा रहे हो? किसलिये?" वह चिल्लाया।

मैंने उसे घूंसा दिखाया। मेरी ट्रक तो चूंकि खाली थी, इसलिये मैं उसे आगे निकाल ही ले गया।

असेल से मुलाक़ात नहीं हुई। गांव में पहुंचा, तो ऐसे हांफ रहा था जैसे कि पैदल दौड़कर आया हूं। बड़ी मुश्किल से सांस ले पा रहा था। न तो उनके आंगन में, न गली में ही कोई दिखाई दिया। सिर्फ़ ज़ीन कसा एक घोड़ा खूंटे से बंधा था। क्या किया जाये? इन्तज़ार करने का फ़ैसला किया, सोचा, ट्रक देखकर बाहर आ जायेगी। मैं इंजन से उलझने लगा मानो कुछ ठीक कर रहा

हूं और खुद लगातार फाटक की तरफ़ देखता जा रहा था। बहुत इन्तज़ार नहीं करना पड़ा। फाटक खुला, असेल की मां और काली दाढ़ी और भारी-भरकम जिस्म वाला एक बुज़ुर्ग बाहर आये। बुज़ुर्ग रूई भरे दो चोग़े पहने था – नीचे वाला चोग़ा प्लश का था और ऊपर वाला मख़मल का। हाथ में बढ़िया कोड़ा था। उसका चेहरा लाल और पसीने से तर था – चाय पीकर निकला था। वे घोड़े के पास गये। असेल की मां अदब से रकाब थामे रही और उसने बुज़ुर्ग को घोड़े पर सवार होने में मदद दी।

"आपसे तो हम बहुत खुश हैं, समधी," असेल की मां ने कहा। "हमारे बारे में भी कोई फ़िक्र न करें। अपनी बेटी से हमें क्या ज़्यादा प्यारा हो सकता है। खुदा की मेहरबानी से हम भी कुछ नंगे-भूखे नहीं हैं।"

"ए बाईबीचे, किसी तरह का शिकवा-शिकायत नहीं करेंगे," ज़ीन पर ज़्यादा आराम से बैठते हुए उसने कहा, "अल्लाह जोड़ी बनाये रखे। रही लेन-देन की बात, तो परायों का सवाल थोड़े ही है, अपने ही बच्चे ठहरे। कोई पहली बार तो हमारे बीच रिश्ता हो नहीं रहा ... अच्छा, तो अल्लाह ख़ैर रखे बाईबीचे, जुमे की बात पक्की रही!"

"हां, हां, जुमे को ही। मुबारक दिन है। ख़ैरियत से घर पहुंचिये और वहां समधन को सलाम कहिये।"

"ये जुमे की क्या बात कर रहे हैं?" मैंने सोचा। "आज कौनसा दिन है? बुध... तो क्या जुमे के दिन ले भी जायेंगे? ओह, कब तक ये पुराने रस्म-रिवाज़ हम नौजवानों की ज़िन्दगियां बरबाद करते रहेंगे!"

बुज़ुर्ग ने अपना घोड़ा पहाड़ों की तरफ़ बढ़ा दिया। असेल की मां उसके दूर जाने तक इन्तज़ार करती रही, फिर मेरी तरफ़ मुड़ी, गुस्से से मुझे देखकर बोली –

"अरे छोकरे, तुम यहां किसलिये आया करते हो? यहां कोई सराय थोड़े ही है! कोई मतलब नहीं है यहां खड़े रहने का! चलते बनो, सुनते हो? मैं तुमसे कह रही हूं!"

मतलब है कि आंख में खटकने लगा हूं।

"इंजन में गड़बड़ हो गई है!" मैंने तड़ाक से जवाब दिया और इंजन पर और भी ज़्यादा झुक गया। दिल ही दिल मैंने सोचा कि जब तक असेल से मिल नहीं लूंगा, कहीं नहीं जाऊंगा।

असेल की मां कुछ और बुड़बुड़ाकर चली गयी।

मैं इंजन के ढक्कन से हटा, पायदान पर बैठकर सिगरेट पीने लगा। न जाने कहां से एक छोटी-सी लड़की भागती हुई आ गयी। वह ट्रक के इर्दगिर्द एक टांग पर कूदने लगी। उसकी शक्ल-सूरत असेल से कुछ-कुछ मिलती थी। कहीं बहन तो नहीं है उसकी?

"असेल चली गई!" वह बोली और खुद पहले की तरह कूदती रही।

"कहां?" मैंने बच्ची को पकड़ लिया। "कहां चली गयी?"

"मुझे क्या मालूम! छोड़ दो मुझे!" वह मेरी पकड़ से छूट गयी और जाते-जाते ज़बान दिखा गयी।

मैंने इंजन का ढक्कन बन्द किया और अपनी सीट पर जा बैठा। किधर जाऊं, कहां ढूंढूं उसे? लौटने का वक़्त भी हो चुका था। धीरे-धीरे ट्रक चलाता हुआ स्तेपी में जा निकला। सिंचाई के नाले के पास जाकर ट्रक को रोका। क्या करूं, कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था। मैं केबिन से निकलकर ज़मीन पर जा पड़ा। बहुत ही बुरा-बुरा-सा जी हो रहा था। असेल से भी मुलाक़ात नहीं हुई, अपने फेरे पर भी नहीं गया... सोच में डूब गया, दीन-दुनिया की कुछ भी ख़बर न रही मुझे। मालूम नहीं कि कितनी देर तक मैं ऐसे ही पड़ा रहा, मगर जब सिर ऊपर उठाया, तो देखा कि ट्रक के उस तरफ़ सेंडल पहने कोई लड़की खड़ी है। वही है! फ़ौरन पहचान गया। मैं इतना खुश हुआ कि दिल में दर्द तक होने लगा। घुटनों के बल हो गया, मगर उठते नहीं बना। यह फिर उसी जगह हुआ था, जहां हमारी पहली मुलाक़ात हुई थी।

"दादी, अपने रास्ते जाओ!" मैंने जैसे कि सेंडलों से कहा।

"मैं दादी नहीं हूं!" असेल ने इस मज़ाक़ को आगे बढ़ाया।

"तो कौन हो तुम?"

"लड़की।"

"लड़की? ख़ूबसूरत हो?"

"तुम खुद देख लो!"

हम दोनों एकसाथ खिलखिलाकर हंस पड़े। मैं उछलकर खड़ा हुआ, उसकी तरफ़ लपका। वह मेरी तरफ़ आई। हम एक दूसरे के सामने आकर रुक गये।

"सबसे ख़ूबसूरत" मैंने कहा। और वह थी हवा में हिलते-डुलते नौउम्र सरो की तरह लचीली, ऊंची आस्तीनों का फ़्राक पहने और बग़ल में दो किताबें दबाये।

"तुम्हें कैसे मालूम हुआ कि मैं यहां हूं?"

"मैं तो लाइब्रेरी से लौट रही थी, देखा कि रास्ते पर तुम्हारी ट्रक के निशान हैं।"

"सच?!" इन लफ़्ज़ों में उसने मुझे "तुम्हें प्यार करती हूं" से भी ज़्यादा कुछ कह दिया था। इसका मतलब था कि अगर इसकी आंखें मेरी मोटर के निशान खोज रही थीं, तो वह मेरे बारे में सोचती थी, कि उसके दिल में मेरी जगह थी।

"और मैं इधर भाग आई, न जाने क्यों ऐसा मान लिया कि तुम मेरी राह देख रहे हो!"

मैंने उसका हाथ थामते हुए कहा –

"आओ बैठो, असेल, सैर करें।"

वह खुशी से राज़ी हो गयी। मैं तो उसे पहचान ही नहीं पा रहा था। खुद को भी नहीं पहचान पा रहा था। सारे डर, सारी परेशानियां जैसे हवा हो गयी थीं। बस, हम दोनों थे, हमारी ख़ुशी थी, आकाश और रास्ता था। मैंने केबिन का दरवाज़ा खोला, उसे बिठाया और खुद स्टीयरिंग ह्वील संभाला।

हम चल दिये। बस, योंही रास्ते पर चल दिये। किधर और किसलिये, हमें मालूम नहीं था। हमें इससे मतलब भी क्या हो सकता था। इतना ही काफ़ी था कि हम एक दूसरे की बग़ल में बैठे थे, नज़रें मिल रही थीं, हाथ से हाथ छू रहे थे। असेल ने मेरी फौजी टोपी (मैं उसे दो साल से पहन रहा था) ठीक की।

"ऐसे ज़्यादा अच्छी लगती है!" उसने कहा और प्यार से मेरे कंधे के साथ चिपक गयी...

मोटर तो परिन्दे की तरह स्तेपी में उड़ी जा रही थी। सारी दुनिया हरकत में आ गयी थी, सब कुछ – पहाड़, मैदान, पेड़–हमारी तरफ़ भागे आ रहे थे. .. हवा हमारे मुंह पर थपेड़े मार रही थी। हम उसे चीरते हुए जो बढ़े जा रहे थे। आसमान में सूरज चमक रहा था, हम हंस रहे थे, हवा गुल लाला और नागदौनों से महकी हुई थी, हम उसे जी भरकर सांसों में समो रहे थे...

टूटे-फूटे, पुराने मक़बरे पर बैठी हुई स्तेपी की चील वहां से उड़ी, उसने अपने पंख हिलाये और रास्ते के साथ-साथ निचाई पर उड़ने लगी, जैसे कि हमारे साथ होड़ कर रही हो।

दो घुड़सवार डरकर एक तरफ़ को हो गये। फिर चीख़ते-चिल्लाते हमारे पीछे सरपट अपने घोड़े दौड़ाने लगे।

"ए, ठहरो! रोको!" वे अपने झुके हुए घोड़ों पर चाबुक बरसा रहे थे। वे कौन थे, मुझे मालूम नहीं। मुमकिन है कि असेल उन्हें जानती हो। जल्दी ही वे धूल के बादलों में खो गये।

सामने एक छकड़ा रास्ते से हट गया। एक लड़का और लड़की हमें देखकर खड़े हो गये, एक दूसरे को बाहों में भरकर उन्होंने मुस्कराते हुए हाथ हिलाये।

"शुक्रिया!" मैंने केबिन से चिल्लाकर कहा।

स्तेपी ख़त्म हो गयी, हम सड़क पर आ गये, पहियों के नीचे तारकोल की सरसराहट सुनाई देने लगी।

झील को कहीं आस-पास ही होना चाहिये था। मैंने ट्रक को सड़क से मोड़ा और झाड़ियों और घास के बीच से झील की तरफ़ बढ़ा दिया। उसे पहाड़ी पर, पानी के ऐन ऊपर ले जाकर रोका।

नीली-सफ़ेद लहरें मानो हाथ थामे हुए एक दूसरी के पीछे पीले तट की तरफ दौड़ रही थीं। सूरज पहाड़ों के पीछे डूब रहा था और दूर का पानी गुलाबी लग रहा था। कहीं दूसरी तरफ़ बहुत दूरी पर बर्फ़ ढके पहाड़ों की हल्की बैंगनी क़तार नज़र आ रही थी। उनके ऊपर सुरमई बादल मंडरा रहे थे।

"असेल, देखो तो! राजहंस"

इस्सीक-कूल पर पतझड़ और जाड़े में ही राजहंस होते हैं। वसन्त में तो वे बहुत कम ही यहां आते हैं। कहते हैं कि ये दक्षिणी राजहंस है, जो उत्तर की तरफ़ उड़ आते हैं। कहते हैं कि ये ख़ुशी लेकर आते हैं...

शाम की चादर में लिपटी झील के ऊपर सफ़ेद राजहंसों का झुण्ड उड़ रहा था। वे कभी तो ऊपर चले जाते और कभी पंख फैलाये हुए नीचे आ जाते। वे पानी की सतह पर बैठ जाते, ख़ूब ज़ोर से छींटे उड़ाते, दूर तक झाग के भंवर-से बनाते और फिर से उड़ान भरते। इसके बाद वे क़तार बनाकर एकसाथ पंख हिलाते हुए सोने के लिये रेतीले ढालू किनारे की तरफ़ उड़ जाते।

हम केबिन में बैठे हुए चुपचाप यह देखते रहे। बाद में मैंने इस तरह असेल से यह कहा जैसे कि हमने सब कुछ तय कर लिया हो –

"वहां किनारे पर छतें देख रही हो न? वह हमारा मोटरों का अड्डा है। और यह," मैंने केबिन में हाथ घुमाया, "यह हमारा घर है!" और हंस दिया। उसे अपने साथ ले जाने को कोई जगह तो थी ही नहीं।

असेल ने मेरी आंखों में झांका, छाती से लग गयी, मुझे बांहों में भर लिया। वह हंस भी रही थी, रो भी रही थी।

"मेरे प्यारे, मेरे दिलदार! मुझे घर-बार की कोई ज़रूरत नहीं। काश अम्मां-अब्बा मुझे समझ जायें, बेशक बाद में ही सही। मैं जानती हूं कि वे ज़िन्दगी भर को मुझसे नाराज़ हो जायेंगे... मगर क्या में क़ुसूरवार हूं..."

अंधेरा जल्दी-जल्दी गहराने लगा। बादलों ने आसमान को ढंक दिया, वे पानी के क़रीब नीचे उतर आये। झील ने दम साध लिया, काली-काली हो गयी। पहाड़ों में जैसे कि झाल लगानेवाले जा बैठे। वहां कभी तो तेज़ कौंध होती, आंखें चौंधिया जाती और फिर अंधेरा छा जाता। तूफ़ान आ रहा था। इसीलिये राजहंस रास्ते से इधर मुड़ आये थे। उन्होंने पहले से ही महसूस कर लिया था कि पहाड़ों के ऊपर बुरा मौसम उन्हें आ घेरेगा।

बादल ज़ोर से गरजे। शोर मचाती हुई मूसलाधार बारिश होने लगी। झील में हलचल मच गयी, वह जैसे कि झल्ला उठी, बड़ी-बड़ी लहरें उठने लगीं, तट से टकराने लगीं। बहार के दिनों का यह पहला तूफ़ान था। यह हमारी पहली रात थी। केबिन पर, शीशों पर पानी की धारायें बह रही थीं। झील को काली गहराई में बिजली की सफ़ेद कौंधे पड़ रही थीं। हम खुसुर-फुसुर करते हुए एक दूसरे के साथ चिपके जा रहे थे। मैं महसूस कर रहा था कि असेल कांप रही है – शायद डरी हुई है, शायद ठिठुर गयी है। मैंने अपने कोट से उसे ढंक दिया, ज़ोर से कस लिया और इस तरह मुझे ऐसा लगा कि मैं ताक़तवर हूं, बड़े डील-डौल वाला हूं। मैने कभी सोचा भी नहीं था कि इतना प्यार भरा है मुझमें, कभी नहीं जाना था यह कि किसी की देख-भाल, किसी की फ़िक्र करने में इतना मज़ा है। मैंने उसके कान में फुसफुसाकर कहा – "कभी किसी को तुम्हारा बाल भी बांका नहीं करने दूंगा, लाल रूमाल वाली मेरी सरो!"

तूफ़ान जैसे तेजी से आया था, वैसे ही तेजी से ख़त्म भी हो गया। मगर बेचैन झील में लहरें उठती रहीं और बारिश की टपटप जारी रही।

मैंने अपना छोटा-सा सफ़री रेडियो सेट निकाला। उन दिनों मेरे पास सिर्फ़ वही एक क़ीमती चीज़ थी। मैंने उसे चालू किया। मुझे इस वक़्त भी अच्छी तरह से याद है, शहर के थियेटर से "चोल्पोन" बैले रेडियो पर आ रहा था। पहाड़ों और चोटियों को लांघता हुआ संगीत केबिन में गूंज रहा था। उस प्यार की तरह ही कोमल-कोमल और जानदार संगीत, जिस प्यार का उस बैले में ज़िक्र था। हाल गूंज रहा था, तालियों की गड़गड़ाहट हो रही थी, लोग

फ़नकारों के नाम ले रहे थे, शायद वे नाचनेवालों के क़दमों पर फूल बिखरा रहे थे। मगर मेरे ख़्याल में थियेटर में बैठा कोई भी आदमी इतनी ख़ुशी और दिल में ऐसी हलचल नहीं महसूस कर रहा होगा, जैसी कि उफनती-फुंकारती इस्सीक-कूल के किनारे हमें महसूस हो रही थी। उस बैले में हमारी, हमारे प्यार की ही कहानी थी। अपने सुख की खोज में जानेवाली चोल्पोन की क़िस्मत में हमें गहरी दिलचस्पी महसूस हो रही थी। मेरी चोल्पोन, मेरी उम्मीद का तारा मेरे साथ था। आधी रात को वह मेरे कंधे पर सिर रखे हुए सो गयी, मगर मैं बहुत देर तक बेचैन रहा। धीरे-से उसके चेहरे को सहलाता रहा, इस्सीक-कूल की गहराई में उसकी सांसों को सुनता रहा...

सुबह हम मोटरों के अड्डे पर आ गये। मेरी ख़ासी डांट-डपट हुई। मगर जब उन्हें यह मालूम हुआ कि मैंने ऐसी हरकत क्यों की थी, तो सारे मामले को ध्यान में रखते हुए मुझे माफ़ कर दिया गया। बाद में लोग-बाग बहुत अर्से तक यह याद करके कि मैं किस तरह क्रेन के नीचे से मोटर भगा ले गया था, हंसते रहे।

मुझे ट्रक लादकर चीन जाना था। असेल को मैंने अपने साथ ले लिया। यह सोचा कि उसे रास्ते में अपने दोस्त अलीबेग जानतूरीन के यहां छोड़ दूंगा। वह अपने बीवी-बच्चों समेत नारीन के क़रीब दर्रे वाले मोटरों के अड्डे पर रहता था। यह जगह चीन की हद से कुछ ख़ास दूर नहीं थी। मैं हमेशा रास्ते में उसके यहां रुका करता था। अलीबेग की बीवी बहुत ही नेक औरत थी, मैं उसकी बड़ी इज़्ज़त करता था।

तो हम चल दिये। पहला काम तो हमने यह किया कि सड़क किनारे वाली दुकान पर से असेल के लिये कुछ कपड़े ख़रीदे। उसके पास तो सिर्फ एक फ्राक ही था। और चीज़ों के अलावा, एक बड़े फूलों के छापेवाली चटकीली शाल ख़रीदी। वह बहुत काम आयी। रास्ते में हमारे बुज़ुर्ग ड्राइवर हुरमत-अका मिले। दूर से ही उन्होंने मुझे गाड़ी रोकने का इशारा किया। मैंने ब्रेक लगाया। हमने केबिनों से निकलकर सलाम-दुआ की –

"अस्सलाम अलेकुम, हुरमत-अका!"

"अलेकुम सलाम, इल्यास। अल्लाह तुम दोनों की जोड़ी बनाये रखे!" उसने रिवाज के मुताबिक़ मुझे बधाई दी। "दूधों नहाओ, पूतों फलो!"

"शुक्रिया! आपको कहां से पता चल गया, हुरमत-अका?" मैने हैरान होकर पूछा।

"अरे बेटा, ख़ुशख़बरी भी कभी छिपी रहती है? कानों-कान फैलती जाती है..."

"अच्छा!" मुझे और भी हैरानी हुई।

हम सड़क पर खड़े बातचीत कर रहे थे, मगर हुरमत-अका मेरी गाड़ी के पास नहीं आ रहे थे, असेल की तरफ़ देख भी नहीं रहे थे। यह तो अच्छा ही हुआ कि असेल मामले को भांप गयी, उसने सिर पर रूमाल डाल लिया, मुंह ढंक लिया। तब हुरमत-अका खुश होकर मुस्कराये।

"अब सब ठीक है!" वे बोले। "बुज़ुर्गों की इज़्ज़त करने के लिये शुक्रिया, बेटी। अब, तो तुम हमारी बहू हो, सभी बुज़ुर्ग ड्राइवरों की बहू। इल्यास, यह लो मुंह-दिखाई," उन्होंने मुझे कुछ रूबल दिये। मैं इनकार नहीं कर सका, वे नाराज़ हो जाते।

हम अपने-अपने रास्ते चल दिये। असेल ने रूमाल सिर से नहीं उतारा। ट्रक के केबिन में बैठी हुई वह तो सचमुच क़िर्गीज़ घर की बहू की तरह जान-पहचान के ड्राइवरों से मुलाकात होने पर मुंह ढंक लेती थी। अकेले रह जाने पर हम हंसते।

रूमाल सिर पर डाले हुए असेल मुझे और भी ज़्यादा ख़ूबसूरत लगती थी।

"अरी मेरी दुलहन, नज़रें तो ऊपर उठाओ, मुझे चूमो!" मैं कहता।

"नहीं, मैं ऐसा नहीं कर सकती, बुज़ुर्ग देख लेंगे!" वह जवाब देती और उसी वक़्त मानो चोरी-छिपे मेरा गाल चूम लेती।

हमारे अड्डे के सभी ड्राइवरों ने हमें रास्ते में रोका, मुबारकबाद दी, हमारे सुख की तमन्ना की। उनमें से बहुत तो रास्ते में बटोरे गये फूल ही नहीं, तोहफ़े भी ले आये थे। मालूम नहीं किसके दिमाग़ में यह ख़्याल आया। शायद रूसी साथियों ने ही ऐसा किया था। उनके यहां शादी के मौक़े पर देहातों में मोटर को सजाया जाता है। हमारी मोटर पर भी उन्होंने लाल, नीले और हरे रिबन, रेशमी रूमाल और गुलदस्ते बांध दिये। मोटर रंग-बिरंगी हो उठी और दसियों किलोमीटरों तक उसकी झलक मिलने लगी। हम दोनों बहुत ख़ुश थे और अपने दोस्तों पर मुझे नाज़ हो रहा था। कहते हैं कि मुसीबत में दोस्तों की पहचान होती है, मगर शायद ख़ुशी में भी उन्हें पहचाना जा सकता है।

मेरा सबसे प्यारा दोस्त, अलीबेग जानतूरीन भी, रास्ते में ही मिला। वह

मुझसे दो-एक साल बड़ा है। बड़े डील-डौल का आदमी है। वह सोच-समझकर हर क़दम उठाता है, संजीदा है और बहुत बढ़िया ड्राइवर है। हमारे लोगों में उसकी बड़ी इज़्ज़त है। ट्रेड-यूनियन कमेटी में उसे चुना गया था। देखें, अब वह क्या कहता है?

अलीबेग ने चुपचाप हमारी गाड़ी की तरफ़ देखा, सिर हिलाया। वह असेल के पास गया, उससे हाथ मिलाया और मुबारकबाद दी।

"लाओ, अपना हुक्मनामा मुझे दो!" उसने मांग की। कुछ भी न समझ पाते हुए मैंने काग़ज़ उसे दे दिया। अलीबेग ने पेन निकाला और मोटी लिखावट में पूरे हुक्मनामे पर यह लिख दिया – "शादी का फेरा, नं. 167!" एक सौ सड़सठ हुक्मनामे का नम्बर था।

"यह तुम क्या कर रहे हो?" मैं परेशान हो उठा। "यह तो दस्तावेज़ है!"

"अगली पीढ़ियों के लिये यादगार बनी रहेगी!" उसने चुटकी ली। "तुम क्या समझते हो कि हिसाब-किताब के दफ़्तर में इनसान नहीं हैं? लो, अब हाथ मिलाओ!" उसने मुझे ज़ोर से गले लगाया, चूमा। हम खिलखिलाकर हंस पड़े। फिर हम अपनी-अपनी गाड़ियों की तरफ़ बढ़ने को हुए, तो अलीबेग ने मुझे रोका –

"तुम दोनों रहोगे कहां?"

मैंने हाथ झटके।

"यह रहा हमारा घर!" मैंने ट्रक की तरफ़ इशारा किया।

"केबिन में? बच्चे भी वहीं पालोगे? तो सुनो, तुम हमारे दर्रे वाले फ़्लैट में बस जाओ। मैं ऊपर वाले लोगों से इस सिलसिले में बात कर लूंगा और हम अपने मकान में चले जायेंगे।"

"मगर तुम्हारा मकान तो अभी पूरी तरह बना नहीं?" अलीबेग का मकान हमारे मोटरों के अड्डे के करीब ही रिबाच्ये में बन रहा था। फ़ुरसत के वक़्त में भी हाथ बंटाने वहां जाया करता था।

"कोई बात नहीं। वहां तो अब छुटपुट काम ही बाक़ी रह गया है। इससे ज़्यादा की तुम उम्मीद न रखो। जानते ही हो कि मकानों की अभी तंगी है।"

"शुक्रिया। हमें तो इससे ज़्यादा चाहिये भी नहीं। मैं तो वक़्ती तौर पर असेल को तुम्हारे यहां छोड़ना चाहता था और तुम पूरा फ़्लैट ही हमें दे रहे हो..."

"हां तो, हमारे यहां ही ठहर जाना। वापसी पर मेरा इन्तज़ार करना। तब हम बीवियों के साथ मिलकर ही सब कुछ तय करेंगे!" उसने असेल की तरफ़ आंख से इशारा करते हुए कहा।

"हां, अब सब कुछ बीवियों के साथ ही तय करेंगे।"

"शादी की सैर मुबारक हो!" अलीबेग ने गाड़ी बढ़ाते हुए चिल्लाकर कहा।

भई वाह! यह तो सचमुच ही शादी की सैर थी! सो भी क्या कमाल की!

हम खुश थे कि सब कुछ ठीक-ठाक होता जा रहा है, पर सिर्फ़ एक मुलाक़ात ने मेरा मूड कुछ-कुछ ख़राब कर दिया।

एक मोड़ पर जानताई की ट्रक सामने आ गयी। वह अकेला नहीं था, केबिन में कादीचा बैठी थी। जानताई ने हाथ हिलाकर मुझे रुकने का इशारा किया। मैंने झटपट ब्रेक लगाया। हमारी गाड़ियां बिल्कुल अगल-बगल ही रुकीं। जानताई ने खिड़की से सिरे निकालकर कहा –

"मोटर को ऐसे सजा रखा है जैसे कि शादी करके आ रहे हो?"

"सो तो है ही!" मैंने जवाब दिया।

"अरे, हटाओ भी!" उसने यक़ीन न करते हुए लफ़्ज़ों को खींचा और कादीचा की तरफ़ देखा। "हम तो तुम्हें ढूंढ़ रहे हैं!" उसके मुंह से निकल गया।

कादीचा बुत बनी बैठी रह गयी, उसके चेहरे का रंग फक हो गया था, वह परेशान हो उठी थी।

"सलाम, कादीचा!" मैंने मुस्कराकर कहा। उसने चुपचाप सिर हिला दिया।

"इसका मतलब है कि तुम्हारे साथ यह तुम्हारी मंगेतर है?" जानताई सिर्फ़ अभी यह भांप पाया था।

"मंगेतर नहीं, बीवी है," मैंने एतराज़ किया और असेल के कंधे के गिर्द बांह डाल दी।

"तो यह क़िस्सा है!" जानताई ने हैरानी से और भी ज़्यादा आंखें फाड़ते हुए कहा। वह समझ नहीं पा रहा था कि खुश हो या न हो। "हां तो, बधाई देता हूं, दिल से बधाई देता हूं..."

"शुक्रिया!"

जानताई ने चुटकी ली –

"बड़े तेज़ हो। कुछ दिये-दिलाये बिना ही उड़ा लाये हो न?"

"उल्लू!" मैंने उसे गाली दी। "बढ़ाओ गाड़ी।"

ऐसे लोग भी तो होते ही हैं! मन हुआ कि उसे जी भरकर खोटी-खरी सुनाऊं। मैंने केबिन में से बाहर झांका, तो देखा कि जानताई गाड़ी के पास खड़ा हुआ गाल सहला रहा है, कुछ चीख़ता-चिल्लाता हुआ कादीचा को मुक्का दिखा रहा है। कादीचा सड़क से दूर, मैदान की तरफ़ कहीं भागी जा रही थी। वह भागती गई, भागती गई और फिर धड़ाम से ज़मीन पर गिर पड़ी और सिर हाथों में थाम लिया। मुझे मालूम नहीं कि उनके बीच क्या क़िस्सा हुआ था, मगर कादीचा पर मुझे तरस आया, ऐसा लगा मानो मैं किसी बात के लिये क़ुसूरवार है। असेल से मैंने कुछ नहीं कहा।

एक हफ़्ते बाद हम दर्रे वाले अड्डे के छोटे-से घर में जा बसे। उसमें ड्योढ़ी और दो कमरे ही थे। वहां ऐसे कई घर हैं, उनमें बाल-बच्चों समेत ड्राइवर और पेट्रोल पम्प के मज़दूर रहते हैं। मगर जगह अच्छी है, सड़क किनारे और नारीन के नज़दीक। नारीन इलाक़े का सेंटर है। वहां सिनेमा घर है, दुकान है, अस्पताल है। हमें यह तो और भी अच्छा लगा कि दर्रे वाला अड्डा आधे रास्ते में पड़ता था। हम आम तौर पर रिबाच्ये और सिंकियांग के बीच आते-जाते थे। रास्ते में घर पर आराम किया जा सकता था, रात गुज़ारी जा सकती थी। मैं क़रीब-क़रीब हर दिन ही असेल से मिलता था। अगर रास्ते में कहीं रुक भी जाता, तो भी आधी रात को ही सही, घर पहुंच जाता। असेल हमेशा राह देखती, बेचैन रहती और जब तक मैं घर न पहुंच जाता, जागती रहती। हम घर-गिरस्ती की कुछ चीज़ें भी जुटाने लगे। थोड़े में, ज़िन्दगी धीरे-धीरे अपने एक रास्ते पर चलने लगी थी। हमने यह तय किया कि असेल भी काम करने लगेगी, वह खुद ही इसके लिये ज़िद कर रही थी – वह गांव में जन्मी-पली थी, काम-काज करने की आदी थी। मगर तभी हमें अचानक यह जानकर बड़ी खुशी हुई कि असेल जल्दी ही मां बननेवाली है।

...जिस दिन असेल के बच्चा हुआ, मैं चीन से लौट रहा था। मैं जल्दी कर रहा था, मन में हलचल मची हुई थी। असेल नारीन के जच्चा घर में थी। मैं वहां पहुंचा, तो पता चला – बेटा हुआ है! ज़ाहिर है कि मुझे असेल के पास नहीं जाने दिया गया। मैं गाड़ी में जा बैठा और लगा उसे पहाड़ों पर दौड़ाने। जाड़े के दिन थे। सभी तरफ़ बर्फ़ और चट्टानें थीं। आंखों के

सामने सफ़ेद और काला, सफ़ेद और काला ही आता-जाता था... मैं दोलोन दर्रे की चोटी पर ट्रक को चढ़ा ले गया, बहुत ही ज़्यादा ऊंचाई थी, बादल ज़मीन पर रेंग रहे थे और नीचे के पहाड़ बौनों जैसे लग रहे थे। मैं कूदकर केबिन से बाहर आया, फेफड़ों में ख़ूब ज़ोर भरकर सारी दुनिया को सुनाता हुआ चिल्लाया –

"ए-ए पहाड़ो! मेरे बेटा हुआ है!"

मुझे लगा कि पहाड़ सिहर उठे। उन्होंने मेरे लफ़्ज़ दोहराये और बहुत देर तक उनकी गूंज बनी रही, एक खड्ड से दूसरे खड्ड में घूमती रही।

बेटे का नाम हमने समद रखा। मैंने ही उसके लिये यह नाम चुना था। हमारी सारी बातचीत उसी के गिर्द घूमती थी – समद, हमारा समद, समद मुस्करा दिया, समद के दांत निकलने लगे हैं। कुल मिलाकर, वही हाल था जैसा कि जवान मां-बाप का होता है।

हम दोनों बहुत प्यार-मुहब्बत से रहते थे, एक दूसरे को चाहते थे, मगर बाद में मुसीबत टूटी पड़ी...

यह समझ पाना मुश्किल है कि मुसीबत आई कहां से। सब कुछ उलझ-उलझा गया, गड्ड-मड्ड हो गया... हां, अब तो मैं बहुत कुछ समझने लगा हूं, मगर इससे क्या हासिल।

इस आदमी से मेरी मुलाक़ात अचानक रास्ते में ही हुई और जब हम जुदा हुए, तो मुझे इस बात का गुमान तक भी नहीं था कि इससे फिर कभी मुलाक़ात होगी।

पतझड़ के आख़िरी दिन थे और मैं अपने फेरे पर जा रहा था। मौसम बहुत बेहूदा था। आसमान से न तो पानी, न तो बर्फ़, बल्कि कुछ अजीब गीली-गीली-सी चीज़ गिर रही थी। पहाड़ों की ढालों पर जैली जैसा कुहासा फैला था। रास्ते भर ब्रश चालू रखे – सामने का शीशा जो धुंधला हो जाता था। मैं पहाड़ों में काफ़ी दूर जा चुका था, दोलोन दर्रे के क़रीब। ओह, दोलोन, दोलोन, त्यान-शान के देव! कितनी मेरी यादें उससे जुड़ी हुई हैं! सारे रास्ते की सबसे मुश्किल, सबसे ख़तरनाक जगह है वह! रास्ता बहुत ही टेढ़ा-मेढ़ा है, मोड़ के बाद मोड़ आता है, ऊपर ही ऊपर चढ़ता चला जाता है, खड़ी चढ़ाइयों पर आसमान की तरफ़, पहियों के नीचे बादल रौंदे जाते हैं, कभी तो आदमी सीट

से चिपक जाता है, पीछे की तरफ़ नहीं हट पाता, तो कभी तेज़ी से नीचे गिरता है, स्टीयरिंग ह्वील से हटने के लिये हाथों पर ज़ोर डालना पड़ता है। दर्रे में मौसम भी तो हमेशा ही बिगड़े हुए ऊंट जैसा रहता है – जाड़ा हो या गर्मी – दोलोन की बला से! पलक झपकते में ओले गिरने लगते हैं, या बारिश होने लगती है, या फिर बर्फ़ का ऐसा बवंडर आता है कि कुछ भी दिखाई नहीं देता। तो ऐसा है हमारा दोलोन। मगर हम त्यान-शान वाले उसके आदी हो चुके हैं, अक्सर रातों को भी वहां आते-जाते हैं। यह तो इस वक़्त में तरह-तरह की मुश्किलों और ख़तरों को याद कर रहा हूं। मगर जब वहां हर दिन काम करते हैं; तो आगा-पीछा सोचने का सवाल ही नहीं पैदा होता।

दोलोन के क़रीब एक दर्रे में मैं एक ट्रक से आगे निकल रहा था। अब भी अच्छी तरह याद है – 'गाज़-51' थी वह। यह कहना ठीक नहीं होगा कि मैं उससे आगे निकल रहा था, क्योंकि ट्रक तो खड़ी थी। दो आदमी इंजन से उलझ रहे थे। उनमें से एक धीरे-धीरे सड़क के बीच आ खड़ा हुआ और उसने हाथ उठाया। मैंने ब्रेक लगाया। तिरपाल की भीगी बरसाती पहने और टोपी ओढ़े हुए एक आदमी मेरे क़रीब आया। कोई चालीस के क़रीब उम्र होगी उसकी, भूरी, फ़ौजियों जैसी छोटी-छोटी मूंछें थीं उसकी, कुछ-कुछ कठोर-सा चेहरा, मगर आंखें शान्त।

"जीगित, दोलोन की सड़क की देख-भाल के दफ़्तर तक ले चलो, वह बोला। "ट्रैक्टर ले जाना है, इंजन जबाब दे गया।"

"आइये बैठिये। शायद हम कोई तरकीब ही निकाल लें?" मैंने कहा और केबिन से बाहर आया।

"तरकीब क्या निकलेगी, इंजन ही ठप हो गया है," ढक्कन को बन्द करते हुए ड्राइवर ने मरी-सी आवाज़ में कहा। बेचारे का बुरा हाल हो गया था ठंड से, बुरी तरह ठिठुर रहा था, झुका जा रहा था। साफ़ था कि वह हमारे लोगों में से नहीं था , राजधानी का रहनेवाला था, भौचक्का-सा इधर-उधर देख रहा था। ये लोग फ्रूंजे से कोई सामान ले जा रहे थे। मैं सोचने लगा कि क्या किया जाये? मेरे दिमाग़ में एक सनक-सी आयी। मगर कुछ कहने से पहले मैंने दर्रे पर एक नजर डाली। आसमान धुंधला था, अंधेरा-सा छाया था, बादल बहुत निचाई पर दौड़ लगा रहे थे। फिर भी मैंने हिम्मत बटोरी। बात तो कोई ख़ास नहीं थी, मगर मुझे उस वक़्त ऐसे लगा कि जैसे मैं जंग के मैदान में कूदने जा रहा हूं।

"ब्रेक तो ठीक है न तुम्हारा?" मैंने ड्राइवर से पूछा।

"यह भी ख़ूब रही... क्या ब्रेक के बिना ही गाड़ी चलाता फिरता हूं! बताया तो है तुम्हें कि इंजन किसी काम का नहीं।"

"रस्सा है?"

"है!"

"लाकर अपनी गाड़ी को मेरी गाड़ी के पीछे बांध दो।"

यकीन न करते हुए वे मुझे घूरने लगे, मगर टस से मस न हुए।

"दिमाग़ चल निकला है क्या तुम्हारा?" ड्राइवर धीरे-से बोला।

मगर मेरा तो मिज़ाज़ ही कुछ ऐसा है। मालूम नहीं यह अच्छा है या बुरा, पर अगर दिमाग़ में कोई धुन सवार हो जाती है, तो बेशक जान भी चली जाये, अपनी बात पूरी ही करके रहता हूँ।

"सुनो दोस्त, बांध दो गाड़ी! सच कहता हूं कि खींच ले जाऊंगा!" मैं ड्राइवर के पीछे ही पड़ गया।

मगर उसने सिर्फ़ हाथ झटक दिया।

"फ़ज़ूल की बात न करो! तुम क्या नहीं जानते कि यहां गाड़ी के साथ गाड़ी बांधकर जाना मना है? मैं तो ऐसा सोच भी नहीं सकता!"

मुझे ऐसे बुरा लगा जैसे कि उसने मेरी सबसे बड़ी दरख़्वास्त को ठुकरा दिया हो।

"अरे, तुम तो बुज़दिल गधे हो!"

मैंने सड़क के मिस्तरी को आवाज़ दी। वह सड़क का मिस्तरी था, यह मुझे बाद में पता चला। उसने मेरी तरफ़ देखा और ड्राइवर से बोला –

"रस्सा निकालो।"

ड्राइवर तो हक्का-बक्का रह गया –

"आप जवाबदेह होंगे बाइतमीर-अका।"

"सभी जवाबदेह होंगे!" उसने बस इतना ही जवाब दिया।

मुझे यह अच्छा लगा। ऐसे आदमी के लिए फ़ौरन दिल में इज़्ज़त पैदा हो जाती है।

तो इस तरह रस्से से बंधी हुई हमारी दो मोटरें चल दीं। शुरू में तो सब कुछ ठीक-ठाक ही रहा। मगर दोलोन का रास्ता लगातार ऊंचाइयों, खड़ी चढ़ाइयों और खड़ी ढालों का रास्ता है। इंजन चीख़ने-गरज़ने लगा और उसका

शोर कानों के पर्दे फाड़ने लगा। मैंने सोचा कि यह मेरी आंख में धूल झोंक रहा है, मैं ख़ूब कसकर इससे काम लूंगा। पहले भी इस बात की तरफ़ मेरा ध्यान गया था कि दोलोन का रास्ता चाहे कितना ही मुश्किल है, फिर भी इंजन में कुछ और बोझ खींचने की ताक़त बची रह जाती है। लदाई हमेशा ही कुछ गुंजाइश के साथ की जाती थी, सत्तर फ़ीसदी से ज़्यादा नहीं। बेशक उस वक़्त तो मैंने इसके बारे में सोचा ही नहीं था। मुझमें अंधी ताक़त का तूफ़ान उठ रहा था, खेलकूद के मैदान का-सा जोश था – बस, अपने मन की करके ही रहूंगा – ट्रक को मंज़िल पर पहुंचाने में लोगों की मदद करूंगा। मगर यह करना कुछ आसान साबित नहीं हुआ। मेरी गाड़ी कांप रही थी, पूरा ज़ोर लगा रही थी, शीशे पर नमी-सी चिपकी जाती थी, जिसे ब्रश बड़ी मुश्किल से साफ़ कर पाते थे। अचानक कहीं से बादल आ गये, पहियों के नीचे आते हुए सड़क लांघने लगे। ज़्यादा खड़े मोड़ शुरू हो गये। दिल ही दिल में अपने को कोस रहा था, कहीं लोगों को मौत के मुंह में ही न धकेल दूं। गाड़ी से ज़्यादा तो ख़ुद मेरा ही बुरा हाल हो रहा था। जो कुछ पहने था सभी कुछ मैने उतार फेंका था – टोपी, जाकेट, कोट और स्वेटर। सिर्फ़ एक क़मीज़ पहने बैठा था और मेरे बदन से ग़ुसलख़ाने की तरह भाप उठ रही थी। कोई मज़ाक़ थोड़े ही था – पीछे बंधी गाड़ी का काफ़ी बड़ा वजन था और इसके अलावा माल भी। यह भी अच्छा ही हुआ कि बाइतमीर पायदान पर खड़ा हुआ हमारी दोनों गाड़ियों की हरकत में ताल-मेल बैठाता जाता था – मुझे बोलकर और उसे – पीछे वाले ड्राइवर को – हाथ से इशारे करके। जब बल खाती, टेढ़ी-मेढ़ी चढ़ाई शुरू हुई, तो मैंने सोचा कि अब यह इस तरह खड़ा नहीं रह सकेगा और कहीं सड़क पर कूद जायेगा। मगर वह तो हिला-डुला भी नहीं। उड़ने के लिए तैयार उक़ाब जैसा बना हुआ वह केबिन से चिपका खड़ा था। मैंने उसके चेहरे पर नज़र डाली, ज़रा-सी भी परेशानी नहीं थी उसपर, ऐसे लगता था जैसे पत्थर को तराशकर बनाया गया हो, गालों और मूंछों पर पानी की धारें बह रही थीं। मेरे मन को इससे बड़ी राहत मिली।

हमें बस एक और बड़ी चढ़ाई चढ़नी थी और इसके बाद जीत हमारी थी। इसी वक़्त बाइतमीर ने खिड़की में झांककर कहा –

"संभल कर, सामने से गाड़ी आ रही है! दायें हाथ कर लो।"

मैंने गाड़ी दायें हाथ कर ली। ऊपर से ट्रक उतरी – जानताई की! सोचा,

अब तो हिफ़ाज़त के लिए ज़िम्मेदार इंजीनियर से ज़रूर डांट पड़ेगी। जानताई तो बताये बिना रहेगा नहीं। वह मेरे क़रीब-क़रीब आता जा रहा था। स्टीयरिंग ह्वील को कसकर थामे हुए वह अपनी गाड़ी को नीचे ला रहा था और भौंहें चढ़ाकर मुझे देख रहा था। हमारी गाड़ियां इतनी पास-पास से गुज़र रही थीं कि हाथ बढ़ाकर उन्हें छुआ जा सकता था। जब हम एक दूसरे के सामने आये, तो जानताई ने अपना सिर, जिसपर लोमड़ी की खाल की टोपी थी, पीछे हटाया और उसे हिक़ारत से हिलाया। "जहन्नुम में जाओ तुम," मैंने सोचा, "अगर बकना ही चाहते हो, तो जाओ बकों।"

हम चढ़ाई के सिरे पर पहुंच गये, नीचे खड़ी ढाल थी, फिर ढलवां रास्ता था और इसके बाद सड़क की देख-भाल के दफ़्तर की तरफ़ जानेवाला मोड़ था। मैंने गाड़ी को उधर ही मोड़ दिया। तो खींच ही लाया था मैं उसे! मैंने इंजन बन्द किया, तो मुझे कुछ भी सुनाई नहीं देता था। मुझे लगा कि मैं बहरा नहीं हुआ, क़ुदरत गूंगी हो गयी है। एक भी आवाज़ सुनाई नहीं दे रही थी। मैं केबिन से निकलकर पायदान पर बैठ गया। मेरा दम घुट रहा था, मैं थककर चूर हो गया था और फिर ऊंचाई पर हवा भी तो कम हो जाती है। बाइतमीर लपककर मेरे पास आया, उसने मुझपर जाकेट डाली और सिर पर टोपी रख दी। पिछली गाड़ी का ड्राइवर ठोकर खाता हुआ मेरी तरफ़ आया। उसका चेहरा फक था, वह ख़ामोशी साधे था। मेरे सामने उकड़ूं बैठकर उसने सिगरेटों की डिब्बी मेरी तरफ़ बढ़ाई। मैंने एक सिगरेट ले ली, मेरा हाथ कांप रहा था। हम तीनों सिगरेट पीने लगे, हमारे होश ठिकाने पाये। मेरे अन्दर फिर वही कम्बख़्त अंधी ताक़त मचल उठी।

"देखा!" मैं चिल्लाया, "अब तो मानते हो!" और इतने ज़ोर से ड्राइवर के कंधे पर हाथ मारा कि वह तो गिरते-गिरते बचा। इसके बाद हम तीनों खड़े हुए और लगे एक दूसरे की पीठ और कंधों को थपथपाने। हम खिलखिलाकर हंस रहे थे, ख़ुशी भरी ऊट-पटांग बकवास कर रहे थे...

आख़िर इस खेल से हमारी तसल्ली हुई और हमने एक-एक सिगरेट और पी। मैंने कपड़े पहने, घड़ी पर नज़र डाली और जैसे चौंकते हुए कहा –

"तो मैं चल दिया!"

बाइतमीर ने बुरा मानते हुए कहा –

"नहीं, हमारे घर चलो, तुम्हारी ख़ातिरदारी करेंगे!"

मगर मेरे पास तो एक मिनट भी नहीं था।

"शुक्रिया!" मैंने शुक्रगुज़ार होते हुए कहा। मैं नहीं रुक सकता। घर पहुंचना चाहता हूं, बीवी इन्तज़ार कर रही होगी।"

"रुक ही जाओ न! बोतल चढ़ायेंगे!" मेरा नया ड्राइवर दोस्त मिन्नत करने लगा।

"नहीं रोको इसे!" बाइतमोर ने उसे टोककर कहा। "बीवी इन्तज़ार कर रही है। तुम्हारा नाम क्या है?"

"इल्यास।"

"जाओ, इल्यास। शुक्रिया, तुमने बड़ी मदद की है।"

पायदान पर खड़ा बाइतमीर मुझे सड़क तक पहुंचाने आया, उसने चुपचाप हाथ मिलाया और नीचे उतर गया।

पहाड़ पर जाते हुए मैंने केबिन से पीछे मुड़कर देखाः बाइतमोर अभी भी सड़क पर ही खड़ा था, टोपी को मोड़-माड़कर हाथ में लिये था और सिर झुकाये कुछ सोच रहा था।

बस, इतना ही क़िस्सा था यह।

असेल को मैंने सभी तफ़सीलें नहीं बतायीं। सिर्फ़ इतना ही कहा कि रास्ते में लोगों की मदद के लिए रुक गया था, इसीलिए देर हो गयी। मैं बीवी से कुछ भी नहीं छिपाता था, मगर ऐसा कुछ बताने की हिम्मत नहीं कर पाया। वह तो यों ही हमेशा मेरे लिए परेशान रहती थी। इसके अलावा इस तरह के कारनामे दोहराने का मेरा क़तई ख़्याल नहीं था। ज़िन्दगी में एक बार ऐसी बात हो गयी, दोलोन से पंजा लड़ाकर देख लिया और बस, काफ़ी था। अगर वापसी पर रास्ते में मेरी तबीयत ख़राब न हो जाती, तो मैं दूसरे दिन ही इसके बारे में भूल भी गया होता। उस दिन मुझे ठंड लग गयी थी। मुश्किल से घर पहुंचा ही था कि चारपाई पकड़ ली। याद नहीं कि मुझे क्या हुआ था, बस ऐसे ही लगता था जैसे कि दोलोन के रास्ते पर अपनी गाड़ी के पीछे बंधी हुई दूसरी गाड़ी खींच रहा हूं। दहकती आंधी चेहरे को झुलस रही थी, दम घुटता था, स्टीयरिंग ह्वील तो जैसे रूई का बना था, मैं उसे घुमाता था और वह हाथों में गुड़ी-मुड़ी हुआ जाता था। सामने दर्रा था – ओर-छोर के बिना ट्रक आसमान की तरफ़ उठ गई, ऊपर ही ऊपर चढ़ती जाती थी, ख़ूब ज़ोर से चीख़-चिल्ला रही थी, खड़ी ढालों से गिर रही थी... शायद यह बीमारी का 'दर्रा' था। तीसरे

दिन मैंने इसे पार किया, ठीक होने लगा। और दो दिन तक बिस्तर पर पड़ा रहा, तबीयत अच्छी हो गयी, मैंने उठना चाहा, मगर असेल तो यह सुनने को ही तैयार नहीं थी; उसने मुझे बिस्तर में ही पड़े रहने को मजबूर किया। मैंने उसे ग़ौर से देखा और सोचने लगा – बीमार मैं हुआ था या वह? ऐसे घुल गयी थी कि पहचानना मुश्किल था – आंखों के नीचे नीले घेरे पड़ गये थे, ऐसे दुबला गई थी कि हवा का झोंका आये, तो इसे गिरा जाये। फिर साथ में गोद का बच्चा। नहीं, ऐसे काम नहीं चलेगा, मैने तय किया। मुझे बिस्तर में पड़े रहने का कोई हक़ नहीं है। असेल को आराम करना चाहिये। मैं बिस्तर से उठा और कपड़े पहनने लगा।

"असेल!" मैंने धीमे-से कहा – बेटा जो सो रहा था। "पड़ोसियों से बात कर लो कि वे कुछ देर समद की देख-भाल कर लें और हम सिनेमा देखने चलते हैं।"

वह भागकर मेरे बिस्तर के क़रीब आई, उसने मुझे तकिये पर गिरा दिया और ऐसे देखने लगी जैसे कि पहली बार देख रही हो। वह आंसुओं को रोकना चाहती थी, मगर वे बरौनियों में चमक रहे थे और उसके होंठ फड़क रहे थे। असेल मेरी छाती में मुंह छिपाकर रो पड़ी।

"क्या बात है, असेल? यह तुम्हें क्या हुआ है?" मेरी समझ में कुछ नहीं आ रहा था।

"कोई बात नहीं, खुश हूं कि तुम ठीक हो गये।"

"मैं भी खुश हूं, मगर ऐसे परेशान क्यों हो रही हो? अगर थोड़ा बीमार हो गया, तो क्या हुआ? इसी की बदौलत तुम्हारे साथ घर में रहा, समद के साथ जी भरकर खेल पाया।" बेटा घुटनियां चलने लगा था, जल्दी ही पैरों पर चलनेवाला था, सबसे ज़्यादा दिलचस्प उम्र थी यह उसकी। "सच तो यह है कि इस तरह से कुछ और बीमार पड़े रहने में मुझे बिल्कुल एतराज़ नहीं है!" मैने मज़ाक़ किया।

"ऐसी बुरी बात नहीं निकालो मुंह से! मैं ऐसा नहीं चाहती!" असेल चिल्ला उठी।

इसी वक़्त बेटा जाग उठा। वह उसे मेरे पास लायी, अभी-अभी जागे, गर्म बदन वाले समंद को। हम तीनों लगे मस्तियां करने – बिस्तर पर पड़े हुए शरारतें कर रहे थे और समद हमें रौंदता हुआ भालू के बच्चे की तरह इधर-उधर रेंग रहा था।

"देखती हो न कि कितना मज़ा है!" मैं बोला। "और तुम! जल्दी ही हम तुम्हारे बुज़ुर्गों के पास गांव चलेंगे। देखेंगे कि कैसे माफ़ नहीं करते। हमारे समद को देखते ही उनका सारा गुस्सा-गिला हवा हो जायेगा।"

हां, हमारा इरादा था कि गांव जाकर असेल के मां-बाप से माफ़ी मांगे। ऐसे हालात में ऐसा ही तो किया जाता है। ज़ाहिर था कि उसके मां-बाप हमसे बेहद नाराज़ थे। इतना ही नहीं, उन्होंने तो गांव से नारीन आनेवाले एक आदमी से यह भी कहलवा दिया था कि वे बेटी को उसकी हरकत के लिए कभी माफ़ नहीं करेंगे। यह भी कहा था कि हमारी ज़िन्दगी के बारे में वे कुछ भी जानना नहीं चाहते। मगर हमें तो उम्मीद थी कि जब हम गांव जाकर उनसे माफ़ी मांगेंगे, तो मामला ठीक-ठाक हो जायेगा।

मगर इसके लिए छुट्टी लेना, सफ़र की तैयारी करना ज़रूरी था – सभी रिश्तेदारों के लिए तोहफ़े ख़रीदना भी लाज़िमी था। ख़ाली हाथ नहीं जाना चाहता था।

इन्हीं दिनों जाड़ा शुरू हो गया। त्यान-शान का जाड़ा ख़ूब कड़ाके का होता है, ज़ोरों से बर्फ़ गिरती है, बर्फ़ के तूफ़ान आते हैं, पहाड़ों में बर्फ़ीली चट्टानें गिर जाती हैं। हम ड्राइवरों की परेशानियां बढ़ जाती हैं, सड़कों की देख-भाल करनेवालों की तो और भी ज़्यादा। इन दिनों वे बर्फ़ की चट्टानों के ख़िलाफ़ जूझते हैं। उन ख़तरनाक जगहों पर, जहां बर्फ़ की चट्टान गिरने का अन्देशा होता है, वे उसे पहले से ही तोड़कर रास्ता साफ़ कर देते हैं। हां, उस साल तो जाड़ा कुछ हद तक नर्म ही रहा, या शायद मेरा इस तरफ़ ध्यान ही नहीं गया, क्योंकि हम ड्राइवरों के पास तो कामों की भरमार होती है। फिर हमारे दफ़्तर को कुछ और काम सौंप दिया गया था। शायद यह कहना ज़्यादा सही होगा कि हम ड्राइवरों ने ही उसे करने का ज़िम्मा ले लिया था और सबसे पहले तो मैं ही आगे आया था। मुझे तो अब भी इसका कुछ मलाल नहीं है, लेकिन शायद यहीं से मेरी मुसीबतों की शुरुआत हुई। मामला यों हुआ:

एक शाम को मैं अड्डे पर लौट रहा था। असेल ने अलीबेग जानतूरीन की बीवी के लिए मुझे एक छोटा-सा पैकेट दिया था। मैं उनके घर की तरफ़ मुड़ गया, हार्न बजाया, तो अलीबेग की बीवी बाहर आई। उसी से मुझे यह पता चला कि चीन के मज़दूरों ने अड्डे पर तार भेजा है, जिसमें कारख़ाने का साज़-सामान जल्दी से जल्दी पहुंचाने की इल्तिजा की है।

"अलीबेग कहां हैं?" मैंने पूछा।

"कहां है? जहां माल उतरता है, वहीं। सभी लोग वहां पर जमा हैं। सुना है कि मालगाड़ियां तो पहुंच भी गयी हैं।"

मैं भी उधर ही चल दिया। सोचा सब कुछ अच्छी तरह मालूम करना चाहिये। झील के पास एक खड्ड में माल उतारा जाता है। रेलगाड़ी का यह आख़िरी स्टेशन है। सभी तरफ़ बेचैन-सा झुटपुटा छाया रहता है। खड्ड से तेज़ हवा के झोंके आते हैं, उनसे खम्भों पर बत्तियां झूलने लगती हैं, रेलवे लाइनों पर बर्फ़ के बवंडर घूमने लगते हैं। डिब्बों को छांटने के लिए इंजन इधर-उधर छिक-छिक करते रहते हैं। रेलवे लाइन के सिरे पर क्रेन अपना कांटा घुमाता हुआ प्लेटफार्म से टीन की पट्टियों से मढ़ी और तारों से बंधी बड़ी-बड़ी पेटियां उतारता रहता है। यह माल सिंकियांग के मशीन निर्माण कारख़ाने के लिए भेजा जाता था। वहां बड़े ज़ोर-शोर से कारख़ाना बन रहा था और हम कुछ साज़-सामान तो वहां पहुंचा भी चुके थे।

ट्रकें तो वहां ढेर सारी जमा हो गयी थीं, मगर माल कोई नहीं लाद रहा था। जैसे किसी चीज़ का इन्तज़ार हो रहा था। ड्राइवर केबिनों में या पायदानों पर बैठे थे और कुछ हवा से बचने के लिए पेटियों की ओट में हो गये थे। मेरे सलाम का भी किसी ने ढंग से जवाब नहीं दिया। सब ख़ामोश थे, सिगरेटें फूंक रहे थे। अलीबेग एक तरफ़ को खड़ा था। मैं उसके पास गया।

"क्या क़िस्सा है यहां? तार आया है?"

"हां। वे लोग जल्दी से कारख़ाना चालू करना चाहते हैं।"

"तो क्या हुआ?"

"हम पर ही सारा दारोमदार है... देखो तो, लाइनों के किनारे-किनारे सामान का कितना ढेर लग गया है, अभी और भी आयेगा। कब पहुंचा पायेंगे? उधर लोग राह देख रहे हैं, हमपर उम्मीद लगाये बैठे हैं ! उनके लिए एक-एक दिन मानी रखता है!"

"लेकिन तुम मुझसे क्यों बिगड़ रहे हो? मेरा क्या सरोकार है इससे?"

"तुम्हारा क्या सरोकार है, इसका क्या मतलब है! तुम क्या किसी दूसरे मुल्क में रहते हो? या यह समझ नहीं रहे हो कि कैसे ज़रूरी काम की ज़िम्मेदारी है हमपर?"

"क़सम खुदा को, तुम्हारा तो दिमाग़ चल निकला है!" मैंने हैरान होकर कहा और एक तरफ़ को हट गया।

इसी वक़्त अड्डे का सबसे बड़ा अफ़सर अमनजोलोव हमारे पास आया। उसने पल्ले की ओट करके एक ड्राइवर की सिगरेट से चुपचाप अपनी सिगरेट जलाई और हम सभी पर नज़र डाली।

"तो साथियो, बात यह है कि मैं मिनिस्ट्री में टेलीफ़ोन करूंगा। मुमकिन है कि वे हमारी मदद करें। मगर इसका भरोसा नहीं किया जा सकता। फ़िलहाल क्या किया जाये, मैं ख़ुद भी यह नहीं जानता..."

"हां, यह तो कुछ आसान काम नहीं है, साथी अमनजोलोव!" किसी की आवाज़ सुनाई दी। बंडल बहुत बड़े-बड़े हैं। दो-तीन से ज़्यादा ट्रक में नहीं समायेंगे। अगर चौबीसों घण्टे भी ट्रकें चलती रहें, तो भी अल्लाह के फ़ज़ल से बहार तक काम का यह सिलसिला चलता जायेगा।"

"यही तो बात है," अमनजोलोव ने जवाब दिया। "मगर करना तो होगा ही। ख़ैर, फ़िलहाल आप सभी अपने-अपने घर जायें और दिमाग़ लड़ायें।"

अमनजोलोव जीप पर बैठकर चला गया। हमारे ड्राइवरों में से कोई भी अपनी जगह से नहीं हिला। अंधेरे कोने में से किसी की भारी आवाज़ सुनाई दी –

"बिल्कुल बेसिर-पैर की बात है! एक भेड़ की खाल से कभी दो कोट भी बने हैं! पहले से सोचना चाहिये था!" वह उठा, उसने सिगरेट का टोटा बुझाया और अपनी मोटर की तरफ़ चला गया।

किसी दूसरे ने उसकी बात की ताईद की। बोला – "हमारे यहां तो हमेशा यही होता है – जब सिर पर आ पड़ती है, तो कहते हैं कि आओ भाई ड्राइवरो, हमें बचाओ!"

किसी ने उसकी बात काटी –

"यह तो भाईचारे का सवाल है और इस्माइल तुम गली में बैठी औरतों जैसी बातें कर रहे हो!"

मैंने इस बहस में हिस्सा नहीं लिया। मगर अचानक मुझे याद हो आया कि कैसे अपनी ट्रक के पीछे दूसरी ट्रक बांधकर मैं उसे दर्रे में से खींच ले गया था। बस, फिर क्या था, मैं हमेशा की तरह जोश में आ गया।

"इसमें दिमाग़ खपाने की बात ही कौनसी है!" मैं लपककर बीच में जा खड़ा हुआ। "गाड़ियों के पीछे ट्रेलर बांध लीजिये!"

कोई भी हिला-डुला नहीं। कुछ ने तो मेरी तरफ़ देखा तक नहीं। कोई बिल्कुल सिरफिरा ही ऐसी बकवास कर सकता था।

जानताई ने धीरे-से सीटी बजाकर कहा —

"सुना?" मैंने आवाज़ से उसे पहचाना।

मैं अपनी जगह पर खड़ा इधर-उधर देख रहा था, उन्हें बताना चाहता था कि मेरे साथ क्या क़िस्सा हुआ था। मगर इसी वक़्त एक हट्टा-कट्टा देव पेटी से उतरा, अपने दस्ताने उसने पास बैठे ड्राइवर को सौंपे, मेरे क़रीब आया और मुझे अपनी ओर खींचकर कहा —

"सांस छोड़ो तो!"

"हा-आ!" मैंने उसके मुंह पर सांस छोड़ी।

"नशे में तो नहीं है!" मेरी गर्दन छोड़ते हुए उसने कहा।

"तो उल्लू है!" उसके दोस्त ने कहा और दोनों अपनी ट्रकों पर सवार होकर चले गये। बाक़ी लोग भी चुपचाप उठे और जाने को तैयार हुए। मेरा ऐसा मज़ाक़ कभी नहीं उड़ा था! मैं तो शर्म से गड़ा जा रहा था।

"रुकिये, किधर चल दिये!" मैं ड्राइवरों के बीच इधर-उधर भागने लगा। "मैं तो संजीदगी से कह रहा हूं। ट्रेलरें ले जायी जा सकती हैं..."

एक बुज़ुर्ग ड्राइवर, झल्लाया हुआ मेरे पास आया —

"जब मैं यहां ड्राइवरी करने लगा था, तब तुम गली में नंगे फिरते होगे, मेरे अज़ीज़। त्यान-शान नाच का मैदान नहीं है। मुझे तुमपर तरस आ रहा है, लोगों में अपनी खिल्ली नहीं उड़वाओ..."

लोग मज़ाक़ करते हुए अपनी-अपनी ट्रकों की तरफ़ चल दिये। तब मैंने चिल्लाकर कहा —

"तुम लोग ड्राइवर नहीं, हिजड़े हो!"

बेकार ही मैंने ऐसा किया, ख़ुद अपने लिये मुसीबत को बुलाया। सभी रुक गये और फिर एकबारगी मुझ पर बरस पड़े।

"तुम किस फेर में हो! दूसरों की जानों से खिलवाड़ करना चाहते हो?"

"देखो तो इसे, नयी तरकीब बतानेवाले को! बोनस बनाने के चक्कर में है।" जानताई ने बात आगे बढ़ायी।

आवाज़ें घुल-मिल गयीं, लोग मेरी तरफ़ बढ़े और मैं पेटियों के साथ सटकर रह गया। मैंने सोचा कि घूंसे मार-मारकर ये मेरा भुरकस निकाल देंगे। चुनांचे मैंने ज़मीन पर पड़ा हुआ एक तख़्ता उठा लियाः

"एक तरफ़ हट जाओ!" किसी ने सीटी बजाई और सब को इधर-उधर हटाने लगा। यह अलीबेग था।

"ख़ामोश!" वह चिल्लाया। "और तुम इल्यास समझाकर अपनी बात कहो! जल्दी से!"

"कहने की बात ही क्या है!" मैने सांस लेते हुए कहा। "मेरे सारे बटन तोड़ डाले हैं उन्होंने। दर्रे में मैंने सामान से लदी एक ट्रक को अपनी गाड़ी के पीछे बांधकर सड़क की देख-भाल करनेवालों के दफ़्तर की तरफ़ खींचा था। बस, इतनी ही बात है।"

ड्राइवर यक़ीन न करते हुए ख़ामोश रहे।

"तो क्या खींच ले गये थे?" किसी ने शक ज़ाहिर करते हुए पूछा।

"हां। पूरे दोलोन को लांघकर।"

"भई, वाह!" किसी ने हैरानी ज़ाहिर की।

"योंही भौंकता है!" किसी दूसरे ने कहा।

"भौंकते हैं कुत्ते। जानताई ने अपनी आंखों से देखा था। ए जानताई, कहां हो तुम? बतायो तो! याद है न कि हम वहां मिले थे..."

मगर जानताई ने कोई जवाब नहीं दिया। उसे तो जैसे ज़मीन निगल गयी थी। पर उस वक़्त उसकी किसी को क्या परवाह हो सकती थी! बहस शुरू हो गयी, कुछ तो मेरी हिमायत भी करने लगे थे। मगर किसी शक्की ने फ़ौरन ही फिर से मामला ठंडा कर दिया —

"फ़ज़ूल बहस में क्या पड़ा है।" उसने उदास आवाज़ में कहा। "किसी ने कभी एक बार कुछ कर दिखाया तो इससे क्या होता है! दुनिया में यों तो बहुत कुछ हो जाता है। हम बच्चे नहीं है। हमारी इस सड़क पर ट्रेलर लेकर जाना मना है। कोई इसकी इज़ाज़त नहीं देगा। हिफ़ाज़त के इंजीनियर से तुम बात तो करके देखो। वह तुम्हें ऐसा मज़ा चखायेगा कि याद करोगे। तुम्हारी ख़ातिर जेल नहीं जाना है उसे ...बस, क़िस्सा ख़त्म।"

"अरे, हटाओ भी," किसी दूसरे ने कहा। "क्या कहते हो तुम यह — इज़ाज़त नहीं देगा! देखो तो, इवान स्तेपानोविच ने तीसवें साल में डेढ़ टनी ट्रक पर पहले-पहल इस दर्रे का रास्ता खोला था। किसी ने उसे इज़ाज़त नहीं दी थी। ख़ुद ही गया था। अभी तक जीता-जागता तुम्हारे सामने है ..."

"हां, यह सही है," इवान स्तेपानोविच ने ताईद की। मगर, मुझे भी बात जंचती नहीं। यहां तो गर्मी में भी कोई ट्रेलर लेकर नहीं गया और अब तो जाड़ा है..."

अलीबेग इस दौरान चुप रहा था, मगर अब बोल उठा।

"बस, काफ़ी बहस हो ली। बेशक पहले ऐसा नहीं हुआ, मगर इसपर ग़ौर ज़रूर करना चाहिये। हां, पर तुम्हारी तरह उल्टे-सीधे ढंग से नहीं, इल्यास – ट्रेलर लो और चल दो। इसके लिए तैयारी करनी होगी, ढंग से सब कुछ सोचना-समझना होगा, सलाह-मशविरा और तजरबा करना होगा। कहने भर से तो कुछ साबित नहीं हो जाता।"

"मैं साबित कर दूंगा," मैंने जवाब दिया। "जब तक आप लोग सोचेंगे, अन्दाज़े लगायेंगे, मैं करके दिखा दूंगा। तब तो मानेंगे न!"

हर आदमी का अपना-अपना मिज़ाज होता है। ज़ाहिर है कि अपने को काबू में रखना चाहिये, मगर हमेशा ही तो हमें इसमें कामयाबी नहीं मिलती। "मैं स्टीयरिंग ह्वील घुमा रहा था, मगर न तो गाड़ी को ही महसूस कर रहा था और न मुझे रास्ते का ही एहसास था। मेरे अन्दर ठेस, गुस्सा, खीझ और झल्लाहट ही उबल रहे थे। जैसे-जैसे मैं आगे जा रहा था, मेरी खुददारी को लगी चोट मुझे और भी ज़्यादा भड़का रही थी। नहीं, मैं यह करके ही दम लूंगा! मैं तुम्हें यह दिखाकर रहूंगा कि इनसान पर यक़ीन न करने का क्या मतलब होता है, कैसे उसका मज़ाक़ उड़ाया जाता है, तुम्हें यह दिखाकर ही रहूंगा कि कितना बेमानी है तुम्हारी होशियारी, तुम्हारा आगा-पीछा सोचना! अलीबेग ने भी कमाल कर दिया – सोचना-समझना चाहिये, तैयारी करनी चाहिये, तजरबा करना चाहिये! बड़ा आया फूंक-फूंककर क़दम रखनेवाला, बड़ा अक़्लमन्द कहीं का! मेरी जूती परवाह करती है इस सब की। बस, करके दिखा दूंगा और तब सब की बोलती बन्द हो जायेगी।

गाड़ी को गैरेज में ले जाकर मैं देर तक उससे उलझा रहा। मेरे भीतर के तार पूरी तरह कसे हुए थे। सिर्फ़ एक ही बात दिल-दिमाग़ में चक्कर काट रही थी – ट्रेलर लगाकर दर्रे की तरफ़ चल दूं। मुझे हर क़ीमत पर यह करना ही था। मगर मुझे ट्रेलर कौन देगा?

यही कुछ सोचता हुआ मैं अहाते में इधर-उधर आता-जाता रहा। काफ़ी देर हो चुकी थी। सिर्फ़ कंट्रोलर के दफ़्तर में ही रोशनी थी। मैंने रुककर सोचा– कंट्रोलर! हां, कंट्रोलर सब इन्तज़ाम कर सकता है! आज तो कादीचा ही ड्यूटी पर थी। यह तो और भी अच्छी बात है। वह इनकार नहीं करेगी, उसे इनकार नहीं करना चाहिये। वैसे अगर सोचा जाये, तो मैं कोई जुर्म थोड़े ही करने जा

रहा हूं। उल्टे, वह तो सभी के लिए ज़रूरी, सभी के फ़ायदे का काम पूरा करने में हाथ ही बंटायेगी।

कंट्रोलर के दफ़्तर के पास पहुंचने पर मेरे दिमाग़ में यह ख़्याल कौंध गया कि एक अर्से से मैं यह दरवाजा लांघकर अन्दर नहीं गया, जैसा कि पहले होता था। अब तो मैं खिड़की में से ही बात करता था। मैं ठिठक गया। इसी वक़्त दरवाज़ा खुला। कादीचा दहलीज़ पर खड़ी दिखाई दी।

"मैं तो तुम्हारे पास ही जा रहा था, कादीचा! अच्छा ही हुआ कि तुम मिल गयीं!"

"मैं घर जा रही हूं।"

तो चलो, तुम्हें घर तक पहुंचा आता हूं।"

कादीचा ने हैरानी से भौंहें चढ़ायीं, यक़ीन न करते हुए मुझे देखा, फिर मुस्कराकर बोली –

"चलो।"

हम बाहर आये। सड़क पर अंधेरा था। झील की तरफ़ से पानी का शोर सुनाई दे रहा था, ठंडी हवा आ रही थी। कादीचा ने मेरी बांह में बांह डाल ली, हवा से बचने के लिए मेरे साथ चिपक गयी।

"ठंड लग रही है?" मैंने पूछा।

"तुम्हारे होते तो ठिठुरने से रही!" उसने मज़ाक़ में जवाब दिया।

एक मिनट पहले तक मैं बेहद परेशान था, मगर अब न जाने क्यों, परेशानी काफ़ूर हो गयी थी।

"कल किस वक़्त तुम्हारी ड्यूटी है, कादीचा?"

"दूसरी पाली में। क्यों, क्या बात है?"

"एक काम है, बहुत ही ज़रूरी काम। तुम्हीं पर सारा दारोमदार है..."

शुरू में तो वह कुछ सुनना ही नहीं चाहती थी, मगर मैं उसे यक़ीन दिलाता रहा। एक नुक्कड़ पर हम लैम्प के नीचे रुक गये।

"ओह, इल्यास!" मेरी आंखों में घबराहट से देखते हुए वह बोली – "बेकार तुम यह झंझट मोल ले रहे हो!"

मगर मैं समझ गया था कि अब यह मेरी बात टालेगी नहीं। मैंने उसका हाथ अपने हाथ में लेकर कहा –

"तुम मुझ पर भरोसा करो! सब कुछ ठीक-ठाक होगा। तो, बात पक्की रही?"

उसने गहरी सांस लेकर कहा –

"तुम्हें इनकार भी तो नहीं कर सकती!" और सिर हिलाकर हामी भरी।

अनचाहे ही मैंने उसे गले लगा लिया।

"तुम्हें तो जीगित होना चाहिये था, कादीचा! तो कल मुलाक़ात होगी!" मैने बड़े तपाक से उससे हाथ मिलाया। "शाम तक सभी काग़ज़ात तैयार कर लेना, समझ गयीं?"

"तुम भागो नहीं!" मेरा हाथ न छोड़ते हुए वह बोली। फिर अचानक मुड़ी और कह उठी– "अच्छा, जाओ... आज तुम होस्टल में रहोगे?"

"हां, कादीचा!"

"तो सलाम!"

अगले दिन हमारी मोटरों का मुआयना होनेवाला था। ड्राइवर लोग परेशान हो रहे थे – ये इन्स्पेक्टर हमेशा बेवक़्त ही आ धमकते हैं, हमेशा हर चीज़ में मीन-मेख निकाला करते हैं, रिपोर्टें लिखा करते हैं। इनकी वजह से कितनी सिरदर्दी, कितना झंझट होता है। मगर उन्हें इससे क्या फ़र्क़ पड़ता है।

अपनी मोटर के बारे में मुझे किसी तरह की कोई फ़िक्र नहीं थी, फिर भी इन्स्पेक्टरों से कन्नी काटता रहा, यह ज़ाहिर करता रहा कि मरम्मत में जुटा हुआ हूं। कादीचा के ड्यूटी पर आने तक किसी तरह वक़्त तो बिताना ही था। किसी ने मुझसे बातचीत नहीं की, पिछले दिन की याद नहीं दिलाई। मैं समझ रहा था कि लोगों को मेरी तरफ़ ध्यान देने की फ़ुरसत ही कहां है। सभी जल्दी से अपनी गाड़ी का मुआयना कराकर अपने फेरे पर जाना चाहते थे, बरबाद हुए वक़्त की कमी पूरा करना चाहते थे। फिर भी मेरे दिल में ठेस का दर्द तो बना ही हुआ था।

दोपहर के बाद मैंने अपनी मोटर का मुआयना कराया। इन्स्पेक्टर चले गये। गैरेज में कोई न रहा, ख़ामोशी छा गयी। अहाते के सिरे पर खुले में ट्रेलरें खड़ी थीं। अन्दरूनी हमवार सड़कों पर ही उनका इस्तेमाल किया जाता था। मैंने अपने लिए एक ट्रेलर चुन ली – चार पहियोंवाली आम ट्रेलर। सिर्फ़ इतनी-सी ही तो बात थी। मगर इसके लिए कितना ज़्यादा परेशान होना पड़ा था... उस वक़्त तो मैं यह नहीं जानता था कि आगे मेरे साथ क्या गुज़रनेवाली है। मैं इतमीनान से होस्टल की तरफ़ चल दिया। ख़ूब डटकर खाना और कोई घन्टे भर की झपकी ले लेना ज़रूरी था – रास्ता बड़ा मुश्किल जो था। मगर

नींद नहीं आई, करवटें ही बदलता रहा। जब झुटपुटा होने लगा, तो मैं अड्डे पर लौट आया।

कादीचा ड्यूटी पर थी। सब कुछ तैयार था। मैं हुक्मनामा लेकर जल्दी-जल्दी गैरेज में गया। "अब मैं तुम सब को दिखाऊंगा!" मैंने मोटर मोड़ी, उसे ट्रेलर के पास ले गया, इंजन को धीमा किया, बाहर निकलकर सभी तरफ़ नज़र दौड़ाई। कोई भी तो नहीं था। मरम्मतख़ाने से ख़रादों और झील की मौज़ों का ही शोर सुनाई दे रहा था। वैसे तो आसमान साफ़ लग रहा था, मगर तारे नहीं थे। उधर इंजन धीरे-धीरे धड़क रहा था और इधर मेरा दिल। सिगरेट पीने को जी हुआ, मगर उसी वक़्त सिगरेट फेंक दी – बाद में पीऊंगा।

फाटक पर चौकीदार ने मुझे रोका –

"रुको, किधर जा रहे हो?"

"माल लादने, बुज़ुर्ग," मैंने लापरवाही ज़ाहिर करने की कोशिश करते हुए कहा। "यह रहा हुक्मनामा।"

चौकीदार काग़ज़ में ही उलझकर रह गया, लैम्प की रोशनी में उसे पढ़ ही नहीं पा रहा था।

"वक़्त बरबाद नहीं कीजिये, बड़े मियां!" मेरे सब्र का प्याला छलक गया। "काम तो इन्तज़ार नहीं करेगा।"

लदाई ढंग से हो गयी। पूरा माल लाद दिया गया–दो नग ट्रक में, दो ट्रेलर में। किसी ने एक लफ़्ज़ भी नहीं कहा – मुझे तो हैरानी भी हुई। रास्ते पर आकर ही मैंने सिगरेट जलाई। ज़्यादा आराम से बैठ गया, सामने की बत्तियां जला दी और पूरी रफ़्तार पर गाड़ी छोड़ दी। सड़क पर अंधेरा हिलने-डुलने और आंखों को परेशान करने लगा। रास्ता बिल्कुल खाली था और इसलिये मैं गाड़ी को ख़ूब रफ़्तार बढ़ा सकता था। मोटर बड़े मज़े से चली जा रही थी, पीछे गड़गड़ाती ट्रेलर का तो क़रीब-क़रीब एहसास ही नहीं हो रहा था। हां, यह सही है कि मोड़ों पर हम ज़रूर एक तरफ़ को कुछ खिसक जाते थे और मुझे स्टीयरिंग करने में तकलीफ़ होती थी, मगर यह आदत न होने का नतीजा था। मैंने सोचा कि जल्दी ही इसका आदी हो जाऊंगा। "दोलोन तक! सिंकियांग तक!" मैंने चिल्लाकर कहा और स्टीयरिंग ह्वील पर ऐसे झुक गया जैसे घुड़सवार घोड़े के अयाल पर झुकता है। जब तक सड़क हमवार थी, जल्दी से रास्ता तय कर लेना चाहिये था। आधी रात को मैंने दोलोन पर धावा बोलने की ठानी।

कुछ वक़्त तक तो मैं अपने अन्दाज़ से भी ज़्यादा तेज़ी के साथ बढ़ता गया, मगर जैसे ही पहाड़ शुरू हुए, होशियारी से काम लेना पड़ा। इसलिए नहीं कि इंजन इतना बोझ नहीं खींच पा रहा था। दरअसल चढ़ाई से ज़्यादा उतराई मेरे लिये मुसीबत बन रही थी। ढालों पर ट्रेलर हिचकोले खाती, झनझनाती, ट्रक को धकेलती और आराम से नीचे उतरने में खलल डालती। बार-बार रफ़्तार बदलनी पड़ती, ब्रेक लगाना पड़ता, ट्रक और ट्रेलर को सीध में करना होता। शुरू में तो मैं जी कड़ा किये रहा, मैंने इसकी परवाह न करने की कोशिश की। मगर जैसे-जैसे आगे बढ़ता गया, मुझे यह चीज़ ज़्यादा से ज़्यादा परेशान करने, मुझमें झल्लाहट पैदा करने लगी। कितनी चढ़ाइयां-उतराइयां हैं रास्ते में–कभी किसी के दिमाग़ में इनकी गिनती करने का ख़्याल आया है! फिर भी मैंने दिल छोटा नहीं किया। मेरे लिये किसी तरह का कोई खतरा नहीं था, सिर्फ ताक़त जवाब देती जा रही थी। "कोई बात नहीं," मैंने अपने को तसल्ली दी। "दर्रे से पहले थोड़ा आराम कर लूंगा। खींच ले जाऊंगा!" मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि पतझड़ में जब मैं ट्रक को अपनी गाड़ी के पीछे बांधकर ले गया था, अब उसके मुक़ाबले में मुझे इतनी ज़्यादा मुश्किल क्यों हो रही थी।

दोलोन नज़दीक आ रहा था। मोटर की सामने वाली बत्तियों की रोशनी खड्ड के काले, बड़े-बड़े पथरीले ढेरों पर फिसल रही थी। बर्फ़ीली टोपियां पहने हुए चट्टाने रास्ते के ऊपर खड़ी थीं। बर्फ़ के मोटे-मोटे रोयें झलक उठे। "लगता है कि दर्रे की तरफ़ से हवा चल पड़ी है," मैंने सोचा। मगर बर्फ़ के रोयें शीशे पर चिपकने और नीचे फिसलने लगे – बर्फ़ गिरने लगी थी। वह बहुत ज़्यादा तो नहीं, मगर गीली थी। "बस, यही कसर बाक़ी रह गयी थी!" मैंने झल्लाकर कहा और ब्रश चालू कर दिये।

दर्रे की पहली चढ़ाइयां शुरू हुई। इंजन ने जाना-पहचाना राग अलापना शुरू किया। परेशानकुन शोर अंधेरे में सड़क पर रेंग रहा था। आख़िर चढ़ाई ख़त्म हुई। अब आगे लम्बा ढालवां रास्ता था। इंजन घरघराया, ट्रक नीचे जाने लगी। फ़ौरन वह दायें-बायें हिचकोले खाने लगी। मैं महसूस कर रहा था कि पीछे ट्रेलर कितनी बेहूदगी कर रही है, कैसे तेज़ी से फिसलकर ट्रक से टकराती है, सुन रहा था कि जहां ज़ंजीर जुड़ी हुई थी, वहां धातु कैसे खड़खड़ा और झनझना रही है। यह झनझनाहट मेरी पीठ को जैसे टुकड़े-टुकड़े किये दे रही

थी, कंधों में रेंगता-सा दर्द पैदा कर रही थी। पहिये ब्रेक के क़ाबू में नहीं आ रहे थे, गीली बर्फ़ पर फिसलते जाते थे। गाड़ी झटके खाने लगी, उसकी सारी बाडी हिलने लगी, स्टीयरिंग ह्वील हाथों से निकलने लगा और वह सड़क को चीरती हुई एक तरफ़ को फिसल चली। मैंने स्टीयरिंग ह्वील घुमाया, ट्रक रुकी। मैं उसे आगे नहीं ले जा सकता था, ताक़त जवाब दे गयी थी। मैने बत्तियां बुझा दीं, इंजन बन्द कर दिया। हाथ तो जैसे काठ की तरह बेजान हो गये थे। मैंने टेक लगाई और अपनी खरखराती सांस की आवाज़ सुनी। कुछ मिनट तक ऐसे ही बैठा रहा, दम लिया, सिगरेट जलाई। इर्दगिर्द अंधेरा था, भयानक ख़ामोशी थी! केबिन की सेंधों में से सिर्फ़ हवा सीटियां बजा रही थी। यह सोचते हुए डर लगता था कि आगे क्या होगा। यहां से आगे टेढ़ी-मेढ़ी खड़ी चढ़ाई थी। लगातार टेढ़ी-मेढ़ी चढ़ाई चढ़ना इंजन और हाथों के लिए मुसीबत होता है। मगर आगा-पीछा करना मुमकिन नहीं था, बर्फ़ ज़ोरों से गिर रही थी।

मैंने इंजन चालू किया। ट्रक ज़ोर से चीख़ती हुई पहाड़ पर चढ़ने लगी। दांतों को भींचे और दम लिये बिना ही मैं एक के बाद एक टेढ़े-मेढ़े मोड़ों को लांघने लगा। आख़िर यह भूल-भुलैयां ख़त्म हुई। इसके बाद खड़ी ढाल थी, सड़क की देख-भाल करनेवालों के दफ़्तर तक हमवार, सीधा रास्ता था और उसके बाद दर्रे पर आख़िरी धावा बोलना था। बड़ी मुश्किल से गाड़ी नीचे ले गया। सीधे रास्ते पर, जो कोई चार किलोमीटर लम्बा है, मैंने ट्रक को ख़ूब तेज़ दौड़ाया और चढ़ाई पर बढ़ा ले चला। चढ़ चली, चढ़ चली ट्रक ऊपर, ज़रा और ... दौड़ाने से गाड़ी में जो तेज़ी आई थी, उसने कुछ देर तक ही साथ दिया। उसकी रफ़्तार बहुत ही तेज़ी से कम होने लगी, उसे दूसरे और फिर पहले गीयर पर किया। मैंने पीछे टेक लगाई, स्टीयरिंग ह्वील को कसकर पकड़ लिया। बादलों के बीच से सितारों की झलक मिली – गाड़ी ज़रा भी आगे नहीं बढ़ रही थी। पहिये जहां के तहां घूमने लगे, एक पहलू को खिसक चले। मैंने एक्सेलेरेटर को पूरी तरह दबा दिया।

"थोड़ा और! थोड़ा-सा और! ज़ोर लगाओ!" मैं तो जैसे बेगानी-सी आवाज़ में चीख़ उठा।

इंजन में से लम्बी चीख़ की जगह कांपती झनझनाहट सुनाई देने लगी, फिर वह झटके के साथ ठप हो गया। गाड़ी धीरे-धीरे नीचे रेंगने लगी। ब्रेकों ने भी मदद नहीं की। वह ट्रेलर के बोझ की वजह से पहाड़ से नीचे फिसल

रही थी और आख़िर चट्टान से टकराकर एकबारगी रुक गयी। ख़ामोशी छा गयी। मैंने केबिन का दरवाज़ा खोलकर बाहर झांका। बस, वही हुआ! बेड़ा ग़र्क़! ट्रेलर बग़ल के गहरे गढ़े में जा फंसी थी। अब तो किसी तरह भी उसे वहां से निकालना मुमकिन नहीं था। मैंने पागल की-सी हालत में फिर से इंजन चालू किया, गाड़ी को ज़ोर से आगे बढ़ाया। पहिये बहुत तेज़ी से घूमे, गाड़ी ने पूरा ज़ोर लगाया, उसकी पूरी बाडी ने अपने ऊपर ख़ूब ज़ोर डाला, मगर वह हिली भी नहीं। मैं सड़क पर कूदा, भागकर ट्रेलर के पास गया। उसके पहिये गढ़े में गहरे धंसे हुए थे। अब क्या किया जाये? कुछ भी न समझ पाते हुए मैं ग़ुस्से से उबलता हुआ पागलों की तरह ट्रेलर की तरफ लपका, हाथों और पूरे ज़िस्म से पहियों को धकेलने लगा। फिर बाडी के नीचे से कंधा दिया, दरिन्दे की तरह चिल्लाया और ट्रेलर को सड़क पर धकेलने की कोशिश करते हुए मैंने इतना ज़ोर लगाया कि दिमाग़ जैसे फटने लगा, मगर बेसूद। बेदम होकर मैं मुंह के बल सड़क पर गिर पड़ा और बर्फ़ मिली कीच को अपने नीचे खरोंचता हुआ खीझ से रो पड़ा। फिर उठा, लड़खड़ाता हुआ मोटर के पास गया और पायदान पर बैठ गया।

दूर से किसी दूसरी मोटर का शोर सुनाई दे रहा था। दो बत्तियां ढाल से सीधे रास्ते की तरफ़ नीचे जा रही थीं। मुझे मालूम नहीं कि इस गाड़ी का ड्राइवर कौन था, आधी रात को क़िस्मत उसे किधर और किसलिये दौड़ा रही थी, मगर मैं डर गया, जैसे कि ये बत्तियां मेरा पीछा करने और मुझे पकड़ने के लिये ही आ रही हों। चोर की तरह मैं ब्रैकेट की तरफ लपका, जोड़नेवाला छल्ला निकालकर ज़मीन पर फेंका, कूदकर केबिन में जा बैठा और ट्रेलर को गढ़े में ही छोड़ गाड़ी को ऊपर चढ़ा ले गया।

एक अनबूझ, भयानक डर मेरा पीछा कर रहा था। मुझे ऐसा लग रहा था कि ट्रेलर बिल्कुल मेरे पीछे-पीछे आ रही है और बस, अब आ पकड़ेगी, अब आ दबोचेगी। मैं अनजानी रफ़्तार से गाड़ी को उड़ाये लिये जा रहा था और अगर वह किसी चट्टान से टकरायी नहीं, तो सिर्फ़ इसलिये कि मैं रास्ते के चप्पे-चप्पे से पूरी तरह वाकिफ़ था।

पौ फटते-फटते मैं दर्रे वाले अड्डे पर पहुंच गया। उन्माद में होश-हवास भूले हुए पागलों की तरह दरवाज़े पर धमाधम मुक्के मारने लगा। दरवाज़ा खुल गया। असेल की तरफ़ देखे बिना ही सिर से पांव तक धूल-मिट्टी से लथपथ मैं घर में चला गया। गहरी सांस लेकर मैं किसी नम चीज़ पर बैठ गया। स्टूल

पर यह धुले हुए कपड़ों का ढेर था। सिगरेट के लिये जेब में हाथ डाला। मोटर की चाबियां हाथ में आ गयीं। ज़ोर से उन्हें फेंक दिया, सिर लटका लिया और बुत-सा बना रह गया, टूटा हुआ, गन्दगी से लथपथ, बदहवास! असेल मेज़ के पास नंगे पांव खड़ी थी। मगर मैं उससे कह ही क्या सकता था? असेल ने फ़र्श से चाबियां उठाकर उन्हें मेज़ पर रख दिया।

"मुंह-हाथ धोओगे? मैंने तो शाम से पानी गर्म किया हुआ है," उसने धीमे-से कहा।

मैंने धीरे-से सिर ऊंचा किया। ठिठुरी हुई असेल सिर्फ़ क़मीज़ पहने मेरे सामने खड़ी थी, अपनी पतली-पतली बांहों को छाती पर बांधे थी। उसकी डरी-सहमी आंखें घबराहट और हमदर्दी से मेरी तरफ़ देख रही थीं।

"ट्रेलर छोड़ आया दर्रे में", मैंने परायी, टूटती-सी आवाज़ में कहा। "कौनसी ट्रेलर?" वह समझ नहीं पाई।

"लोहे की, हरी, 02-38! इससे भला क्या फ़र्क़ पड़ता है कि कौनसी!" मैं खीझकर चिल्लाया। "मैंने उसे चुराया था, समझी? चुराया था!"

असेल धीरे-से आह भरकर पलंग पर बैठ गयी।

"किसलिये?"

"किसलिये से तुम्हारा मतलब?" मुझे इस बात से ग़ुस्सा आ रहा था कि वह मेरी बात नहीं समझ पा रही थी। "ट्रेलर के साथ दर्रे को पार करना चाहता था! समझीं? अपनी बात साबित करना चाहता था... बस , मामला चौपट हो गया!"

मैंने फिर से सिर थाम लिया। कुछ देर तक हम दोनों ख़ामोश रहे। अचानक असेल उठी और कपड़े पहनने लगी।

"तो तुम बैठे क्यों हो?" उसने कड़ाई से कहा।

"क्या करूं?" मैं बुदबुदाया।

"अड्डे पर वापस जाओ।"

"अड्डे पर! ट्रेलर के बिना?"

"वहां सब कुछ बयान कर देना।"

"क्या कह रही हो तुम यह!" मैं चिल्लाया और कमरे में इधर-उधर दौड़ने लगा – "किस मुंह से मैं ट्रेलर लेकर वहां जाऊंगा? मुझ पर रहम कीजिये, मुझे माफ़ कीजिये, ग़लती हो गई मुझसे। उनके सामने नाक रगड़ूं, उनकी

मिन्नत-समाजत करूं? नहीं करूंगा मैं यह! जो भी उनके जी में आये, करें। मेरी बला से!"

मेरी चीख़-चिल्लाहट से पलंग पर सोया हुआ बेटा जाग गया। वह रोने लगा। असेल ने उसे गोद में ले लिया, वह और भी ज़ोर से रोने लगा।

"तुम बुज़दिल हो!" असेल ने धीमे-से, मगर ज़ोर देकर कहा।

"क्या-आ?" अपने होश-हवास भूलकर मैं मुक्के ताने हुए उसकी तरफ़ झपटा। मैने हाथ ऊपर उठाया, मगर उसे मारने की जुर्रत नहीं हुई। उसकी हैरान, फैली-फैली आंखों ने मुझे रोक दिया। उसकी पुतलियों में मुझे अपने डरावने, बिगड़े हुए चेहरे की झलक मिली।

बुरे ढंग से उसे एक तरफ़ धकियाकर में दहलीज़ की तरफ़ बढ़ा और फटाक से दरवाज़ा बन्द कर बाहर निकल गया।

बाहर उजाला हो चुका था। दिन की रोशनी में पिछली रात का सारा क़िस्सा– मुझे और भी उलझा हुआ, भयानक और ऐसा लग रहा था, जिसे ठीक करना मुमकिन नहीं। फ़िलहाल तो मुझे एक ही रास्ता नज़र आ रहा था – ट्रक पर लदे हुए माल को ठिकाने पर पहुंचाया जाये। इसके बाद ...

वापसी पर मैं घर नहीं गया। इसलिये नहीं कि असेल से झगड़ा हो गया था। बस, न तो किसी की सूरत देखना चाहता था, न किसी को अपनी सूरत दिखाना चाहता था। दूसरों की बात तो मैं नहीं जानता, लेकिन मेरे लिये तो ऐसे मौक़ों पर अकेले रहना ही ज़्यादा अच्छा रहता है। लोगों को अपना दुःख-दर्द दिखाना मुझे अच्छा नहीं लगता। किसे ज़रूरत है उसकी? जब तक ग़म दूर नहीं हो जाता; उसे बर्दाश्त ही करना चाहिये...

रास्ते में राहगीरों के लिये बने मकान में मैंने रात गुज़ारी। सपने में देखा कि जैसे दर्रे में ट्रेलर को ढूंढ़ रहा हूं। बड़ा ही अटपटा सपना था। पहियों के निशान नज़र आ रहे थे, मगर ट्रेलर ग़ायब थी। मैं इधर-उधर दौड़ रहा था, लोगों से पूछ रहा था कि ट्रेलर कहां गयी, कौन ले गया उसे?

जब मैं लौटा, तो उस क़िस्मत की मारी जगह पर ट्रेलर सचमुच ही नहीं थी। बाद में मुझे पता चला कि अलीबेग उसे अड्डे पर ले गया था।

ट्रेलर के पीछे-पीछे सुबह मैं भी वहां पहुंच गया। इन दिनों के दौरान मेरा चेहरा मुरझा गया था – केबिन के आईने में अपनी सूरत देखी, तो पहचान न पाया।

मोटरों के अड्डे पर हमेशा की तरह रोज़मर्रा की ज़िन्दगी चल रही थी। सिर्फ़ मैंने ही एक अजनबी की तरह झिझकते-झिझकते गाड़ी को फाटक की तरफ़ बढ़ाया, आहिस्ते-आहिस्ते अहाता लांघा, गैरेज से दूर, एक कोने में ले जाकर गाड़ी खड़ी की। कुछ देर तक केबिन में ही बैठा रहा। सभी तरफ़ नज़र डाली। लोग काम-काज छोड़कर मेरी तरफ़ देख रहे थे। काश कि अभी यहां से कहीं दूर, बहुत दूर भाग जाता! मगर जाता तो कहां, केबिन से निकलना पड़ा। अपनी सारी ताक़त बटोरी और अहाते को लांघता हुआ कंट्रोलर के दफ़्तर की तरफ़ चला। मैंने यह दिखावा करने की कोशिश की कि मैं बिल्कुल परेशान नहीं है, मगर असल में अपने को क़ुसूरवार महसूस कर रहा था, यह जानता था कि सभी नाक-भौंह सिकोड़ कर मुझे देख रहे हैं। न किसी ने मुझे पुकारा, न किसी ने सलाम-दुआ की। इनकी जगह मैंने भी ऐसा ही किया होता।

दहलीज़ पर मैंने ठोकर खाई। मेरे दिल को भी जैसे ठोकर लगी – कादीचा को तो भूल ही गया था, उसे भी नीचा दिखा दिया था!

बरामदे में सामने ही "मोलनिया" (ताज़ा ख़बर) पोस्टर लगा था। उस पर मोटे लफ़्ज़ों में लिखा था – "लानत है!" और इनके नीचे पहाड़ों में छोड़ दी गयी ट्रेलर बनी हुई थी।

मैंने मुंह फेर लिया। चेहरा ऐसे जल रहा था जैसे किसी ने तमाचा मार दिया हो। मैं कंट्रोलर के दफ़्तर में दाख़िल हुआ। कादीचा टेलीफ़ोन पर बात कर रही थी। मुझे देखते ही उसने रिसीवर रख दिया।

"यह लो!" मैंने वह बदक़िस्मत हुक्मनामा मेज़ पर फेंक दिया।

कादीचा ने तरस भरी नज़र से मेरी तरफ़ देखा। कहीं बह चीख़ने-चिल्लाने, रोने न लगे। "यहां नहीं, बाद में किसी और जगह!" मैं दिल ही दिल में उसकी मिन्नत कर रहा था। वह समझ गयी, उसने कुछ भी नहीं कहा।

"शोर-गुल हुआ?" मैंने धीरे-से पूछा।

कादीचा ने सिर हिलाकर हामी भरी।

"कोई बात नहीं!" मैंने उसे दिलासा देने की कोशिश करते हुए मन मारकर कहा।

"तुम्हें इस रास्ते से हटा लिया गया है," उसने कहा।

"हटा लिया गया है? बिल्कुल ही?" मैंने अटपटी मुस्कान लाते हुए पूछा।

"बिल्कुल ही हटाना चाहते थे – मरम्मतख़ाने में भेजना चाहते थे... मगर

कुछ लोगों ने तुम्हारी हिमायत की... फ़िलहाल अन्दरूनी रास्तों पर माल ले जाओगे। जाओ, मैनेजर के पास, उसने आने को कहा है।"

"नहीं जाऊंगा। मेरे बिना ही जैसा भी चाहें फैसला कर लें। कोई अफ़सोस नहीं होगा मुझे..."

मैं बाहर आ गया। उदास-सा बरामदे को लांघ रहा था। कोई सामने से आ रहा था। मैंने तो बग़ल से निकल जाना चाहा, मगर अलीबेग ने रास्ता रोक लिया।

"रुको तो!" उसने मुझे कोने में धकेलते हुए कहा। मुझे एकटक देखकर उसने गुस्से से फुकारते हुए फुसफुसाकर कहा – "कहो सूरमा, कर दिया साबित? कर दिया साबित कि तुम कुत्ते के पिल्ले हो!"

"मैने तो भले के लिये ही ऐसा किया था," मैंने तड़ाक से जवाब दिया।

"बकते हो! सिर्फ अपना ही झंडा गाड़ना चाहते थे! अपनी ही फ़िक की तुमने! जो ज़रूरी काम सामने है, उसे चौपट कर दिया। अब कैसे यह यक़ीन दिलाया जा सकता है कि ट्रेलर लेकर जाना मुमकिन है! निरे उल्लू हो! शेख़ीख़ोर हो!"

शायद किसी दूसरे को ये लफ़्ज़ सोचने-समझने को मजबूर करते, मगर मुझे अब इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता था। कुछ भी तो नहीं समझा मैं, सिर्फ़ अपनी ठेस का ही एहसास था मुझे। मैं शेख़ीख़ोर, अपना झंडा गाड़ना चाहता हूं, अपना डंका बजाना चाहता हूं? यह तो सच नहीं था, न!

"जाने दो मुझे!" मैंने अलीबेग को एक तरफ़ हटाते हुए कहा। "यों ही दिल पर कुछ कम भारी नहीं गुजर रही है।"

मैं दरवाज़े पर गया। ठंडी, तन चीरती हुई हवा अहाते में बर्फ़ीली धूल उड़ा रही थी। कनखियों से चुपचाप मुझे देखते हुए लोग मेरे पास से गुज़र रहे थे। मैं कर ही क्या सकता था? मुट्ठियां जेबों में डाल मैं फाटक की तरफ़ चल दिया। डबरों पर जमी बर्फ़ की पपड़ी चटकती हुई ज़मीन में धसक रही थी। लोहे की कोई डिब्बी मेरे पैरों के नीचे आ गयी। मैने पूरे ज़ोर से ठोकर मारकर उसे फाटक के बाहर कर दिया और उसके पीछे-पीछे खुद भी बाहर चला गया।

दिन भर सड़कों पर आवारागर्दी करता रहा, सुनसान घाट पर भटकता रहा। इस्सीक-कूल में तूफ़ान आया हुआ था, किनारे पर बंधे बजरे डोल रहे थे।

बाद में मैं चायख़ाने में जा बैठा। मेरी मेज़ पर वोद्का की खुली बोतल

और तश्तरी में कुछ नाश्ता था। पहला गिलास चढ़ाते ही मुझे नशा हो गया और मैं उल्लुओं की तरह अपने पैरों के नीचे देखने लगा।

"किस सोच में डूब गये, जीगित?" मुझे अपने नज़दीक किसी की कुछ-कुछ ठिठोली करती, हमदर्दी भरी आवाज़ सुनाई दी। बड़ी मुश्किल से मैंने सिर ऊपर किया। यह कादीचा थी।

"क्या अकेले पी नहीं जाती?" वह मुस्कराई और मेरे पास बैठ गयी। "आओ, दोनों पीते हैं!"

कादीचा ने गिलासों में वोद्का डाली और मेरे क़रीब खिसका दी।

"यह लो!" उसने कहा और शोख़ी से आंख मारी, जैसे कि हम यहां योंही बैठने और पीने-पिलाने के लिये ही आये हों।

"तुम्हें किस बात की खुशी हो रही है?" मैने कुछ नाराज़गी से पूछा।

"गमगीन होने की भी क्या बात है? तुम साथ हो, तो मुझे किसी भी चीज़ की परवाह नहीं , इल्यास! मेरा तो ख़्याल था कि तुम कहीं ज़्यादा मज़बूत दिल के आदमी हो। पर खैर, लाओ पियें !" वह धीरे-से हंसी, नज़दीक खिसक आई और अपनी प्यार भरी काली आँखों से मुझे एकटक देखते हुए उसने मेरे गिलास से अपना गिलास खनकाया।

हमने गिलास चढ़ाये। मैंने सिगरेट सुलगा ली। दिल से जैसे कुछ-कुछ बोझ हट गया, सारे दिन में मैं इस वक्त पहली बार मुस्कराया।

"शाबाश है तुम्हें, कादीचा!" मैने कहा और उसका हाथ दबाया।

कुछ देर बाद हम बाहर आये। अंधेरा हो चुका था। झील की तरफ़ से आनेवाली तेज़ हवा से पेड़ और लैम्प हिल रहे थे। पैरों के नीचे ज़मीन डोल रही थी। कादीचा मेरी बांह थामे हुए मुझे सहारा देकर ले जा रही थी, मेरी फ़िक्र करते हुए उसने मेरा कालर ऊपर उठा दिया था।

"तुम्हारे सामने मैं क़ुसूरवार हूँ!" अपने को एहसानमन्द और क़ुसूरवार महसूस करते हुए मैं कह उठा। "मगर याद रखना, तुमपर कोई मुसीबत नहीं आने दूंगा ... सब कुछ अपने ऊपर ही ले लूंगा..."

"तुम इसकी कुछ फ़िक्र न करो, मेरे प्यारे!" उसने जवाब दिया। "तुम चैन से जीना तो जानते ही नहीं। हमेशा किसी न किसी चीज़ में उलझते रहते हो और मुझे तुम्हारे लिये अफ़सोस होता रहता है। मैं खुद भी ऐसी ही थी। ज़िन्दगी में सभी कुछ तो हासिल नहीं किया जा सकता, जितना कुछ लिया जा सकता है, ले लो... क़िस्मत का मुंह चिढ़ाने में क्या तुक है..."

"यह तो खैर, अपने-अपने सोचने के ढंग की बात है!" मैने एतराज़ किया, मगर फिर कुछ सोचकर कहा – "मुमकिन है, तुम्हारी बात ही सही हो..."

हम कादीचा के घर के पास जाकर रुक गये। वह एक अर्से से अकेली ही रहती थी। ख़ाविंद के साथ किसी वजह से तलाक़ हो गया था। .

"लो, मेरा घर तो आ गया," कादीचा बोली।

मैं ठिठका रहा, गया नहीं। हमारे बीच अब कुछ तो ऐसा था, जो हमें एक तार में पिरोता था। सचाई अच्छी चीज़ है, मगर कभी-कभी वह इतनी कड़वी होती है कि हम अनचाहे ही उससे दूर भागने की कोशिश करते हैं।

"किस सोच में डूब गये, प्यारे?" कादीचा ने पूछा। "थक गये? दूर जाना है?"

"कोई बात नहीं, जैसे-तैसे पहुंच जाऊंगा। सलाम!"

उसने मेरा हाथ अपने हाथ में ले लिया।

"अरे, कैसे ठिठुर गया है! ज़रा ठहरो, मैं गर्मा दूं!" कादीचा ने कहा और मेरा हाथ अपने ओवरकोट के नीचे छिपा लिया, झटपट अपनी छाती के साथ चिपका लिया। मैं हाथ हटाने, उसके इस सुलगते प्यार से दामन बचाने की जुर्रत नहीं कर पाया। मेरे हाथ के नीचे उसका दिल धड़क रहा था, ज़ोर-ज़ोर से उछल रहा था, जैसे कि उस चीज की मांग कर रहा हो, जिसका उसे एक मुद्दत से इन्तज़ार था। मैं नशे में तो था, लेकिन इस हद तक नहीं कि कुछ भी न समझूं। मैंने धीरे-से हाथ हटा लिया।

"तुम चल दिये?" कादीचा ने पूछा।

"हां "

"तो जाओ!" कादीचा ने गहरी सांस ली और जल्दी से चल दी। अंधेरे में ज़ोर से फाटक बन्द हुआ। मैं भी अपने रास्ते चल दिया, मगर कुछ क़दम जाकर रुक गया। मैं ख़ुद नहीं जानता कि यह कैसे हुआ, मगर मैं फिर फाटक के क़रीब पहुंच गया। कादीचा मेरी राह देख रही थी। उसने मेरे गले में बांहें डाल दी, ज़ोर से मुझे कस लिया, मेरे होंठ चूमे।

"लौट आये!" वह फुसफुसाई , मेरा हाथ थामा और अपने घर ले गयी।

रात को मेरी आंख खुली और देर तक यह नहीं समझ पाया कि मैं कहां हूं। सिर में दर्द था। हम दोनों पास-पास लेटे हुए थे। गर्म-गर्म बदन वाली, अधनंगी कादीचा मुझसे चिपकी हुई मेरे कंधे पर चैन से सांस ले रही थी। मैने उठने, फ़ौरन वहां से जाने का फ़ैसला कर लिया। हिला-डुला। कादीचा ने आंखें मूंदे-मूंदे ही मुझे बांहों में भर लिया।

"नहीं जाओ!" उसने धीमे-से मिन्नत की। इसके बाद सिर उठाया, अंधेरे में मेरी आंखों में झांका और फुसफुसाते हुए रुक-रुककर कहने लगी – "मैं अब तुम्हारे बिना नहीं रह सकती... तुम मेरे हो! तुम हमेशा मेरे थे! मैं और कुछ नहीं जानना चाहती! सिर्फ़ इतना ही चाहती हूं कि तुम मुझे प्यार करो, इल्यास! और कुछ नहीं चाहिये मुझे... मैं तुम्हारा दामन नहीं छोड़ूंगी, समझ लो, कभी नहीं छोड़ूगी!" कादीचा रोने लगी, उसके आंसू मेरे चेहरे पर बहने लगे।

मैं नहीं गया। जब हमारी आंख लगी, तो पौ फटनेवाली थी। जब जागे, तो बाहर दिन चढ़ चुका था। मैंने झटपट कपड़े पहने, घबराहट और परेशानी पैदा करनेवाली झुरझुरी दिल को दबोचे थी । चलते-चलते ही कोट पहनकर मैं जल्दी से अहाते में आया, फाटक से बाहर निकला। लोमड़ी की खाल की बड़ी-सी लाल टोपी पहने एक आदमी सीधा मेरी तरफ़ आ रहा था। काश मैं उसे गोली मार देता! जानताई काम पर जा रहा था, वह यहां नज़दीक ही रहता था। हम घड़ी भर को जहां के तहां खड़े रह गये। मैंने ऐसे ज़ाहिर किया जैसे उसे देखा ही न हो। मैं मुड़ा और तेज़ क़दम बढ़ाता हुआ मोटरों के अड्डे की तरफ़ चल दिया। जानताई पीछे से अर्थपूर्ण ढंग से खांसा। बर्फ़ पर उसके जूतों की चूं-चूं सुनाई दे रही थी, उसके क़दमों की आहट एक ही फ़ासले पर सुन पड़ रही थी। इस तरह एक दूसरे के आगे-पीछे ही हम अड्डे तक चलते गये।

गैरेज की तरफ़ मुड़ने के बजाय मैं सीधा दफ़्तर की तरफ़ बढ़ गया। बड़े इंजीनियर के कमरे में, जहां आम तौर पर सुबह की छोटी-छोटी फ़ौरी मीटिंगें होती थीं, ख़ूब शोर मच रहा था। मेरे दिल ने चाहा कि मैं अन्दर चला जाऊं, टांग पर टांग रखकर खिड़की के दासे पर कहीं बैठ जाऊं, सिगरेट के कश लगाऊं और ड्राइवरों को खीझे बिना आपस में बहस करते और एक दूसरे को भला-बुरा कहते सुनूं। मैं तो कभी सोच भी नहीं सकता था कि आदमी को ऐसा करना भी इतना अच्छा लग सकता है। मगर मैं अन्दर जाने का इरादा नहीं बना पाया। मैं बुज़दिली नहीं दिखा रहा था, ऐसी बात नहीं थी। मुझमें अभी तक वही खीझ, वही मायूसी और लाचारी भरी हुई थी। इसके अलावा कादीचा के साथ बितायी गयी रात की वजह से घबराहट भी थी...फिर लोग भी तो मेरी नाकामयाबी के बारे में ज़रा भी भूलने को तैयार नहीं थे। कमरे में मेरा ही ज़िक्र हो रहा था। कोई चिल्लाकर कह रहा था –

"बड़ी बदतमीज़ी है यह! मुक़दमा चलाना चाहिये उसपर और आप लोग तरस खा रहे हैं! इसपर यह कहने की भी जुर्रत करता है कि उसने तो ठीक ही तरकीब सोची थी! मगर ट्रेलर तो दर्रे में छोड़ दी!"

किसी दूसरे ने बीच ही में कहना शुरू किया –

"सोलह आने सही है तुम्हारी बात! बहुत देखे है उसके जैसे हमने। बड़ा अक़्लमन्द कहीं का! मैं तो तुम सभी को उबार रहा हूं, इस बहाने चुपचाप बोनस मार लेना चाहता था... मगर पासा उलटा पड़ गया!"

लोग बहस करने लगे, शोर मचाने लगे। मैं वहां से टल गया – दरवाज़े के पास खड़े रहकर सुनना मुनासिब जो नहीं था।

अपने पीछे आवाज़ें सुनकर मैंने क़दम तेज़ कर दिये। ड्राइवर अभी भी बहस-मुबाहसा कर रहे थे। अलीबेग राह चलते ख़ूब ज़ोर-शोर से किसी को यक़ीन दिलाते हुए कह रहा था –

"ट्रेलर के लिए ब्रेक हम यहां अड्डे पर खुद ही बना लेंगे। कंप्रेसर से चिपके रबड़ के पाइप को जोड़ना और ब्रेकों में उसे लागू करना कोई ख़ास मुश्किल काम नहीं है। यह इल्यास है क्या? इल्यास, रुको!" उसने मुझे आवाज़ दी।

मैं बिना रुके गैरेज की तरफ़ चलता गया। अलीबेग मेरे पास आ गया, उसने मेरा कंधा पकड़कर खींचा।

"ओ, कम्बख़्त! आख़िर मैंने उन्हें यक़ीन दिला दिया! अब तैयार हो जाओ, इल्यास! मेरे जोड़ीदार बनकर चलोगे न? तजरबाती फेरे में। ट्रेलर लेकर!"

मैं जल-भुन गया – चला है मुझे सहारा देने, नाकामयाब दोस्त को जोड़ीदार बनाने! मैंने अपने कंधे से उसका हाथ झटक दिया।

"जहन्नुम में जाओ अपनी ट्रेलरों के साथ..."

"क्यों भुनभुना रहे हो? खुद ही तो क़ुसूरवार हो... अरे हां, मैं तो भूल ही गया था। वोलोद्या शिरयायेव ने तुमसे कुछ नहीं कहा?"

"नहीं, मेरी उससे मुलाक़ात नहीं हुई। क्यों, क्या बात है?"

"क्या बात है? तुम कहां गुम हो जाते हो? असेल सड़क पर तुम्हारी राह देखती है, हमारे ड्राइवरों से तुम्हारे बारे में पूछती है, परेशान है! और तुम!"

मेरी टांगें जवाब देने लगीं। दिल पर इतना बोझ महसूस हुआ, ऐसा बुरा-बुरा लगा कि अगर इसी वक़्त मौत आ जाती, तो मुझे बड़ी ख़ुशी होती।

मगर अलीबेग मेरी आस्तीन खींचते हुए ट्रेलर को ट्रक के साथ फ़िट करने की बात करता जा रहा था... जानताई एक तरफ़ को खड़ा हुआ यह सब सुन रहा था।

"छोड़ दो मुझे!" मैंने अपना हाथ छुड़ा लिया। "किसलिए तुम लोग मेरे पीछे पड़े हुए हो? बस, काफ़ी हो चुका! नहीं ज़रूरत है मुझे ट्रेलरों की। मैं किसी का जोड़ीदार बनकर नहीं जाऊंगा... समझ गये?"

अलीबेग के माथे पर बल पड़ गये, उसके जबड़े फड़कने लगे।

खुद शुरुआत की, ख़ुद ही मामले को बिगाड़ा और ख़ुद ही मैदान छोड़ गये? यही हुआ न?"

"जो भी चाहो, समझो।"

मैं ट्रक के पास गया, हाथ कांप रहे थे, कुछ भी तो समझ में नहीं आ रहा था। न जाने क्यों, ट्रक के नीचे वाले गड्ढे में कूद गया, सिर को ठंडा करने के लिए उसे ईंटों पर टिका दिया।

"सुनो, इल्यास!" कान के पास किसी की फुसफुसाहट सुनाई दी।

मैंने सिर ऊपर उठाया – यह अब और कौन आ गया? फ़र की टोपी पहने जानताई गढ़े के ऊपर खुमी की तरह बैठ गया, चालाकी भरी आंखों को सिकोड़कर मेरी तरफ़ देखने लगा।

"तुमने उसे ख़ूब जवाब दिया, इल्यास!"

"किसे?"

"अलीबेग को, जो बहुत सरगर्मी दिखाता रहता है। मुंह पर जैसे करारा तमाचा पड़ गया! बोलती बन्द हो गयी, उस नयी तरकीबें सोचनेवाले की।"

"तुम्हें इससे क्या मतलब?"

"मतलब तो है। और तुम खुद ही यह समझ गये होंगे कि हम ड्राइवरों को ट्रेलर से कुछ लेना-देना नहीं है। हमें मालूम है कि यह सब कैसे होता है– लदाई का कोटा बढ़ जायेगा, वक़्त कम हो जायेगी, सब लोग ऐसा ही करें और इसी बीच माल लदाई की दर कम कर दी जायेगी। क्या ज़रूरत पड़ी है हमें अपनी जेब काटने की? दो-चार दिन वाह-वाह हो जायेगी; मगर उसके बाद? हम लोग तुमसे नाराज़ नहीं हैं। तुम ऐसे ही डटे रहो..."

"ये 'हम' कौन हैं?" मैंने जहां तक मुमकिन हुआ अपने को क़ाबू में रखते हुए पूछा। 'हम'– यह तुम ही हो न?"

"मैं अकेला थोड़े ही हूं," जानताई ने आंखें झपकायीं।

"झूठ बोलते हो, नाली के कीड़े! तुम्हारा मुंह चिढ़ाने के लिए ही ट्रेलर लेकर जाऊंगा... काम में अपनी जान लड़ा दूंगा – उसे सिरे चढ़ाकर दम लूंगा। अब तुम यहां से दफ़ा हो जाओ! तुमसे फिर निपटूंगा!"

"बस, बस, तुम बहुत नहीं चिल्लाओ!" जानताई भड़क उठा। "जानता हूं मैं तुम्हें, बड़े आये दूध के धोये! जहां तक उस मामले का ताल्लुक़ है, जब तक मौज़ कर सकते हो, करो..."

"अरे, कमीने!" मैं आपे से बाहर होकर चिल्ला उठा और पूरे ज़ोर से उसकी ठोड़ी के नीचे घुसा रसीद कर दिया।

वह गड्ढे के सिरे पर ही लुढ़क गया। टोपी जमीन पर जा गिरी। मैं उछलकर गड्ढे से बाहर निकला, उसकी तरफ़ झपटा। मगर जानताई इसी बीच उठा, एक तरफ़ को हटा और गला फाड़कर चिल्लाया –

"लफ़ंगा! बदमाश! मार-पीट करता है? तुम्हारी अक़्ल ठिकाने कर दी जायेगी! बिल्कुल बेलगाम हो गये हो, गुस्से से जले जा रहे हो!"

सभी तरफ़ से लोग भाग आये। अलीबेग भी आया।

"क्या मामला है? किसलिए तुमने इसे पीटा है?"

"सचाई के लिए!" जानताई चिल्लाया।" इसलिए कि मुंह पर सच बात कह दी है! खुद ट्रेलर चुरायी, उसे दर्रे में गिरा आया, बेहयाई दिखाई और जब दूसरे ईमानदारी से इसकी ग़लती को ठीक करना चाहते हैं, तो मार-पीट पर उतारू हो रहा है। अब इसे इसमें कोई फ़ायदा दिखाई नहीं देता, नाम पैदा करने का मौक़ा जो हाथ से जाता रहा!"

अलीबेग मेरी तरफ़ बढ़ा। उसके चेहरे का रंग बदला हुआ था, वह गुस्से से हकला रहा था।

"कमीने!" उसने मेरी छाती पर धक्का दिया। "दिमाग़ चल निकला है, दर्रे की नाकामयाबी का बदला ले रहे हो! कोई बात नहीं, तुम्हारे बिना ही काम चला लेंगे। सूरमाओं के बिना ही!"

मैं चुप रहा। मुझमें कुछ कहने की ताक़त ही नहीं रही थी। जानताई ने जिस बेशर्मी से झूठ बोला था, उससे मुझे ऐसा धक्का लगा था कि मुंह से एक भी लफ़्ज़ नहीं निकाल पा रहा था। साथी नाक-भौंह सिकोड़े हुए मुझे घूर रहे थे।

भाग चलो, भाग चलो यहां से... मैं लपककर ट्रक में जा बैठा और उसे अड्डे से दूर भगा ले चला।

रास्ते में मैंने काफ़ी वोद्का पी ली। भागकर सड़क किनारे वाली दुकान पर पीने गया – उससे कोई फ़ायदा नहीं हुआ, रास्ते में फिर गाड़ी रोकी और पूरा गिलास चढ़ा लिया। इसके बाद ख़ूब तेज़ गाड़ी चलाने लगा – बस पुलों, रास्ते के निशानों और सामने से आनेवाली गाड़ियों की ही झलक मिलती थी। जी कुछ हल्का हो गया था। "ओह!" मैंने सोचा, "भाड़ में जाये सब कुछ! क्या चाहिये तुम्हें; स्टीयरिंग ह्वील घुमाते हो, घुमाते जाओ। और क़ादीचा ... वह दूसरों से किस बात में कम है? जवान है, ख़ूबसूरत है। तुम्हें प्यार करती है, तुम पर जान देती है। तुम्हारे लिए सभी कुछ करने को तैयार है...कैसे एहसान फ़रामोश उल्लू हो तुम!"

जब मैं घर पहुंचा, तो शाम हो चुकी थी। लड़खड़ाता हुआ दरवाज़े में खड़ा रहा। मेरा कोट एक कंधे पर पीछे की तरफ़ लटका हुआ था। मैं कभी-कभी दायें हाथ को आस्तीन से बाहर निकाल लेता हूं ताकि गाड़ी चलाने में आसानी रहे। बचपन में जब कंकड़-पत्थर फेंका करता था, तभी से ऐसी आदत पड़ गयी है।

असेल मेरी तरफ़ लपकी।

"इल्यास, क्या हुआ है तुम्हें?" मगर बाद में वह समझ गई कि क्या मामला है। "तुम खड़े क्यों हो? थक गये, ठिठुर गये? कपड़े उतार लो!"

उसने मेरी मदद करनी चाही, मगर मैंने चुपचाप उसे परे हटा दिया। अपनी शर्म पर बुरे सुलूक का पर्दा डालना पड़ा। ठोकर खाता हुआ कमरे में गया, कोई चीज़ गिरा दी और धम से कुर्सी पर जा बैठा।

"क्या कोई ख़ास बात हो गयी है, इल्यास?" असेल ने नशे में चूर मेरी आंखों में परेशानी से देखते हुए पूछा।

"क्या तुम्हें कुछ मालूम नहीं?" मैंने सिर झुका लिया – उससे आंखें न मिलाने में ही भलाई थी। मैं इस इन्तज़ार में बैठा था कि असेल मुझे बुरा-भला कहने लगेगी, अपनी क़िस्मत का रोना रोयेगी, मेरी लानत-मलामत करेगी। मैं सब कुछ सुनने और अपनी सफ़ाई में कुछ भी न कहने को तैयार था। मगर वह ऐसे चुप रही जैसे कि कमरे में थी ही नहीं। मैंने एहतियात से नज़र ऊपर की। असेल मेरी तरफ़ पीठ किये हुए खिड़की के क़रीब खड़ी

थी। उसका चेहरा बेशक मुझे दिखाई नहीं दे रहा था, फिर भी मैं जानता था कि वह रो रही है। मुझे उसपर बेहद तरस आया।

"सुनो असेल, मैं तुमसे यह कहना चाहता हूं," मैंने झिझकते हुए कहना शुरू किया। "यह कहना चाहता हूं..." और ख़ामोश हो गया। अपना गुनाह मान लेने की हिम्मत नहीं हुई। नहीं, मैं उसके दिल को ऐसी चोट नहीं पहुंचा सकता। तरस खा गया, मगर ऐसा नहीं करना चाहिये था... "शायद हम जल्दी ही तुम्हारे मां-बाप के पास गांव नहीं जा सकेंगे," मैंने बात बदल दी। "कुछ अर्से बाद चलेंगे। इस वक़्त इसका होश नहीं है..."

"टाल दो, कोई जल्दी नहीं है..." असेल ने जवाब दिया। आंखें पोंछकर वह मेरे पास आई। "इस वक़्त इस बात की फ़िक्र नहीं करो, इल्यास। सब कुछ ठीक-ठाक हो जायेगा। पहले तो तुम अपनी फ़िक्र करो। कुछ अजीब-से हो गये हो तुम। पहचान ही नहीं पाती मैं तुम्हें, इल्यास..."

"ख़ैर, हटाओ!" मैंने बुज़दिली दिखाने की वजह से झल्लाते हुए उसे टोका। "थक गया हूं, सोना चाहता हूं।"

एक दिन बाद लौटते हुए दर्रे के उस तरफ़ अलीबेग से मेरी मुलाकात हुई। उसकी ट्रक के पीछे ट्रेलर थी। दोलोन पर फ़तह पा ली गयी थी।

मुझे देखकर अलीबेग चलती गाड़ी से सड़क पर कूद गया और उसने हाथ हिलाया। मैंने रफ़्तार कम कर दी। अलीबेग बहुत ख़ुश, जीत का सेहरा बांधे सड़क पर खड़ा था।

"सलाम, इल्यास! बाहर आओ, सिगरेट पियें!" उसने चिल्लाकर कहा।

मैंने गाड़ी धीमी कर ली। अलीबेग के केबिन में एक नौजवान ड्राइवर, जो उसका जोड़ीदार था, स्टीयरिंग ह्वील संभाले था। ट्रक के पहियों पर ज़ंजीरें बंधी थीं। ट्रेलर पर न्यूमेटिक ब्रेक लगे थे। फ़ौरन इस तरफ़ मेरा ध्यान गया। मगर मैंने गाड़ी रोकी नहीं। तुम्हें कामयाबी मिल गयी – अच्छी बात है! मगर मुझे इससे कोई सरोकार नहीं।

"रुको, रुको!" अलीबेग मेरी गाड़ी के पीछे भागा। "तुमसे कुछ काम है, रुको, इल्यास! ओह शैतान, कैसे हो तुम? ख़ैर, तो ऐसे ही सही..."

मैं गाड़ी को तेज़ी से बढ़ा ले गया। बेशक खड़े हुए चिल्लाते रहो – कोई काम नहीं हो सकता हमें एक दूसरे से। मेरा काम तो कभी का डूब चुका था। बहुत बुरा किया था यह मैंने, अपना सबसे अच्छा दोस्त खो दिया था।

वह बिल्कुल सही था, उसकी हर बात सही थी, अब तो मैं यह समझता हूं। मगर उस वक़्त उससे इसलिए बेहद नाराज़ था कि जिस चीज़ के लिए मुझे इतनी परेशानी उठानी पड़ी, इतना, तनाव बर्दाश्त करना पड़ा, मेहनत करनी पड़ी, उसे उसने इतनी आसानी और जल्दी से हासिल कर लिया था।

अलीबेग हमेशा ही सोच-समझकर काम करनेवाला संजीदा आदमी रहा था। उसने कभी भी मेरी तरह सनक में आकर दर्रे पर धावा न बोला होता। उसने एक जोड़ीदार ड्राइवर को अपने साथ लेकर बिल्कुल ठीक किया था। वे रास्ते में बारी-बारी से स्टीयरिंग कर सकते थे और ताज़ादम होकर दर्रे पर धावा बोल सकते थे। दर्रे में कामयाबी का दारोमदार होता है इंजन पर, इनसान के पक्के इरादे और हाथों की ताक़त पर। इसके अलावा जोड़ीदार ड्राइवर की बदौलत अलीबेग को कुल रास्ता तय करने में भी क़रीब-क़रीब आधा वक़्त लगा। उसने इन सब बातों को ध्यान में रखा, ट्रेलर के ब्रेकों को ट्रक के कम्प्रेसर के साथ जोड़ दिया। मामूली जंजीरों को भी पहियों पर लपेट दिया। कुल मिलाकर, उसने पूरी तैयारी करके दर्रे से लोहा लिया, सिर्फ़ छाती ठोंककर ही उस पर नहीं टूट पड़ा।

अलीबेग के बाद दूसरी ट्रकें भी ट्रेलरें लेकर जाने लगीं। किसी भी काम में सबसे बड़ी बात तो होती है बिसमिल्ला करना। इसी दौरान ट्रकें बढ़ गयीं, पड़ोस के अड्डे वालों ने भी मदद की। डेढ़ हफ़्ते तक त्यान-शान के रास्तों पर दिन-रात मोटरें गूंजती रहीं। थोड़े में, चाहे कितनी ही मुश्किल का सामना क्यों न करना पड़ा, हमारे लोगों ने चीनी मज़दूरों की इल्तिज़ा पूरी कर दी। मैने भी इस काम में हाथ बंटाया...

यह तो अब, जब कि इतने साल गुज़र गये हैं और सब कुछ ठीक-ठाक हो गया है, मैं ऐसे इतमीनान से आपको अपनी बीती सुना रहा हूं। मगर उन परेशानी के दिनों में तो मैं बिल्कुल बौखलाया रहता था। ज़िन्दगी का ऊंट गलत करवट जो बैठ गया था....

पर ख़ैर, मैं सब कुछ सिलसिलेवार सुनाता हूँ।

अलीबेग के साथ मुलाक़ात के बाद जब मैं अड्डे पर पहुंचा, तो अंधेरा हो चुका था। होस्टल को चल दिया, मगर रास्ते में फिर शराबख़ाने की तरफ़ मुड़ गया। इन दिनों मुझमें जनून की हद तक पीने की ज़बर्दस्त और ग़ैरमामूली ख़्वाहिश बनी रहती थी, ताकि मैं पूरी तरह सभी कुछ भूल जाऊं, मुर्दों की

नींद सो सकूं। मैंने बहुत पी, मगर वोदका का मुझपर जरा भी असर नहीं हुआ। शराबख़ाने से और भी ज़्यादा झल्लाया हुआ और परेशान बाहर निकला। रात को शहर में गया और मेरे पांव ख़ुद-ब-ख़ुद ही बेरेगोवाया सड़क पर कादीचा के घर की तरफ़ मुड़ गये।

बस, ऐसे ही यह सिलसिला चल पड़ा। मैं दो पाटों के बीच पिसने लगा। दिन को स्टीयरिंग ह्वील घुमाता और शाम होते ही कादीचा के पास चला जाता। उसके यहां मुझे ज़्यादा आराम और चैन मिलता, मैं जैसे कि अपने से, लोगों और सचाई से ख़ुद को छिपा लेता। मुझे लगता कि सिर्फ़ कादीचा ही मुझे समझती है, प्यार करती है। घर से मैं जल्दी ही चल देने की कोशिश करता। असेल, मेरी प्यारी असेल! काश कि उसे मालूम होता कि मुझपर अपने भरोसे, अपनी रूह की पाकीज़गी से वह मुझे घर से भगाती थी। मैं उसे धोखा नहीं दे सकता था, यह महसूस किये बिना नहीं रह सकता था कि वह मेरे लिए जो कुछ करती है, मैं उसके लायक़ नहीं हैं। कई बार मैं नशे में धुत्त घर आया। उसने तो मुझे भला-बुरा भी नहीं कहा। अब तक नहीं समझ पाता कि यह क्या था – तरस, हिम्मत की कमी या इसके उलटे – धीरज, इनसान पर यक़ीन? हां, वह उम्मीद करती रही, यक़ीन करती रही कि मैं ख़ुद ही संभल जाऊंगा, अपने पर क़ाबू पा लूंगा और पहले जैसा ही हो जाऊंगा। लेकिन अगर वह डांटती-डपटती, ईमानदारी से सारी सचाई बताने को मजबूर करती, तो बेहतर रहता। असेल को अगर यह मालूम होता कि सिर्फ़ काम की वजह से ही मैं परेशान नहीं हूं, तो शायद वह मुझसे पूछताछ करती। इन दिनों मेरे साथ क्या गुज़र रही थी, उसे इसका अन्दाज़ ही नहीं था। मुझे उस पर तरस आता था, अगले दिन, अगली बार पर ही बात टालता रहा और इस तरह वह नहीं कर पाया, जो मुझे असेल की ख़ातिर, हम दोनों के प्यार और अपने परिवार की ख़ातिर करना चाहिये था ...

आख़िरी बार असेल बहुत ख़ुश-ख़ुश, बहुत चहकते हुए मुझसे मिली। उसके गालों पर गुलाब खिले हुए थे, आंखें चमक रही थीं। कोट और बूटों में ही वह मुझे कमरे में खींच ले गयी।

"देखो, इल्यास! समद तो खड़ा भी होने लगा है!"

"सच! कहां है वह?"

"वह रहा – मेज़ के नीचे!"

"वह तो फ़र्श पर रेंग ही रहा है।"

"अभी दिखाती हूं तुम्हें! हां बेटा, जरा पापा को दिखाओ तो कि तुम कैसे खड़े होते हो! आओ, इधर आओ, समद!"

समद किसी तरह यह समझ गया कि उसे क्या करने को कहा जा रहा है। वह हुमकता हुआ घुटनों के बल रेंगकर मेज़ के नीचे से निकला और पलंग का सहारा लेकर मुश्किल से सीधा खड़ा हुआ। वह दिलेरी से मुस्कराता, गुदगुदे पैरों पर डोलता हुआ खड़ा रहा और इसी दिलेराना मुस्कान के साथ धम से ज़मीन पर गिर गया। मैं लपककर उसके पास गया, उसे बांहों में भर लिया और बच्चे की नाज़ुक गंध को सांस में भरते हुए उसे अपने साथ चिपका लिया। कितनी प्यारी थी यह गंध, उतनी ही जितनी असेल।

"तुम तो इसका दम निकाल दोगे, इल्यास! ऐसे नहीं भींचो इसे!" असेल ने बेटे को मुझसे ले लिया। "बोलो, अब क्या कहते हो? कपड़े बदल लो। जल्दी ही यह बड़ा हो जायेगा, तब इसकी मां भी काम करने लगेगी। तब सब कुछ ठीक-ठाक हो जायेगा, क्यों ऐसे ही है न, बेटा? और तुम!" असेल ने मुस्कराती और उदास आंखों से मेरी तरफ़ देखा। मैं कुर्सी पर बैठ गया। मैं समझ गया कि उसने वह सब कुछ कह दिया है, जो कहना चाहती थी, वह सब कुछ, जो इन दिनों के दौरान उसके दिल में जमा हो गया था। इन लफ़्ज़ों में इल्तिजा थी, लानत-मलामत थी, उम्मीद थी। मुझे इसी वक़्त उसे सब कुछ कह देना या फ़ौरन घर से चले जाना चाहिये था। चले जाना ही बेहतर होगा। असेल बहुत ख़ुश है और किसी तरह का शक-शुबह नहीं है उसके दिमाग़ में। मैं कुर्सी से उठा।

"मैं जाता हूं।"

"कहां चल दिये तुम?" असेल चौंकी। "आज भी नहीं रुकोगे क्या? कम से कम चाय तो पी लेते।"

"नहीं रुक सकता। मुझे जाना ही होगा," मैं बुदबुदाया। "तुम तो जानती ही हो कि आजकल कैसा काम चल रहा है..."

नहीं, काम मुझे घर से नहीं धकेल रहा था। मुझे तो सुबह ही फेरे पर जाना था।

केबिन में मैं धम से सीट पर जा बैठा, दुःख से कराह उठा और देर तक स्टार्टर में चाबी नहीं लगा पाया। फिर गाड़ी को सड़क पर लाया और

जब तक मेरे पीछे खिड़कियों की रोशनियां आंखों से ओझल नहीं हो गयीं, मैं मोटर बढ़ाता चला गया। पुल के पीछे मैने मोटर को सड़क के किनारे की झाड़ियों में ले जाकर खड़ा किया और बत्तियां बुझा दीं। मैंने यहीं रात बिताने का फैसला किया। सिगरेट निकाली। दियासलाई की डिब्बी में सिर्फ़ एक ही तीली निकली। वह ज़रा-सी जलकर बुझ गयी। मैंने सिगरेट के साथ दियासलाई की ख़ाली डिब्बी भी खिड़की से बाहर फेंक दी, कोट को सिर पर डाला और गुड़ी-मुड़ी होकर सीट पर पड़ रहा।

ठंडे, काले पहाड़ों के ऊपर चांद मनहूस-सी सूरत बनाये था। घाटी में हवा उदासी भरी सीटियां बजा रही थी, केबिन के कुछ-कुछ खुले हुए दरवाज़े को हिला-डुला रही थी। वह धीरे-धीरे चूं-चूं कर रहा था। कभी भी मैंने अपने को इतना अकेला, लोगों, परिवार और अड्डे के अपने साथियों से इतना ज़्यादा कटा हुआ महसूस नहीं किया था। आगे भी इसी तरह से जीते जाना मुमकिन नहीं था। मैंने क़सम खाई कि जैसे ही अड्डे पर लौटूंगा, कादीचा से खुलकर बात करूंगा, उससे माफ़ी मांगूंगा और कहूंगा कि हमारे बीच जो कुछ हुआ था, वह उसे भूल जाये। यही ईमानदारी की और सही बात होगी।

मगर ज़िन्दगी ने दूसरा ही फैसला कर दिया। मैंने कभी ऐसी उम्मीद नहीं की थी, कभी यह सोचा भी नहीं था कि ऐसा हो जायेगा। एक दिन बाद मैं सुबह ही दर्रे वाले अड्डे पर लौटा। घर पर कोई नहीं था, दरवाज़ा खुला था। शुरू में तो मैंने यही समझा कि असेल लकड़ी या पानी लाने के लिए कहीं बाहर गयी है। मैंने इधर-उधर नजर दौड़ाई। कमरे में गड़बड़ मची हुई थी। काला चूल्हा ठंडा पड़ा था और उसकी ठंडी सांस जैसे कह रही थी कि घर में कोई नहीं है। मैं समद के पलंग की तरफ़ गया – वह भी ख़ाली था।

"असेल!" मैं धड़कते दिल से फुसफुसाया। "असेल!" दीवारों ने फुसफुसाकर इसे दोहराया।

मैं ज़ल्दी से दरवाज़े की तरफ़ भागा।

"असेल!"

किसी ने जवाब नहीं दिया। भागा हुआ पड़ोसियों के पास गया, पेट्रोल पम्प पर पूछताछ की, मगर ढंग से किसी को भी कुछ मालूम नहीं था। सिर्फ़ इतना ही बताया लोगों ने कि पिछले रोज़ वह बच्चे को जान-पहचान वालों के पास छोड़कर दिन भर को कहीं गयी थी, रात हुए लौटी थी। "चली गई, सब कुछ मालूम कर लिया उसने!" इस दहशत भरे ख़्याल से मैं कांप उठा।

उस बदक़िस्मत दिन की तरह मैंने त्यान-शान के पहाड़ों में शायद ही कभी तेज़ रफ़्तार से मोटर दौड़ाई हो। मुझे लगातार ऐसे लगता था कि उस मोड़ पर, उस घाटी में या रास्ते में किसी जगह पर मैं उसे जा पकड़ूंगा। उक़ाब की तरह मैं अपने आगे जानेवाली मोटरों को जा लेता, ब्रेक लगाता, केबिन और बाडी पर नज़र डालते हुए बग़ल से गाड़ी गुजारता और तेज़ी से आगे निकाल ले जाता। ड्राइवर मेरे पीछे गालियां बकते रह जाते। मैं दम लिये बिना तीन घण्टे तक गाड़ी को ऐसे ही दौड़ाता रहा, यहां तक कि रेडियेटर में पानी उबलने लगा। मैं कदकर केबिन से बाहर आया, रेडियेटर पर बर्फ़ डाली, पानी लाया। रेडियेटर से भाप निकल रही थी, ट्रक बेतहाशा दौड़ाये गये घोड़े की तरह हांफ रही थी। मैं गाड़ी चालू ही करनेवाला था कि ट्रेलर के साथ अलीबेग की ट्रक सामने से आती दिखाई दी। मैं खिल उठा। यह सही था कि हमारे बीच बोलचाल बन्द थी, हम सलाम-दुआ भी नहीं करते थे, पर फिर भी अगर असेल उसके घर में है, तो वह ज़रूर बता देगा। मैं भागकर सड़क पर गया, हाथ उठाया –

"रुको, रुको, अलीबेग! गाड़ी रोको!"

उसके जोड़ीदार ड्राइवर ने सवालिया नज़र से अलीबेग की तरफ़ देखा। अलीबेग ने मुंह फेर लिया। गाड़ी मेरे क़रीब से निकल गई। बर्फ़ीली धूल से लथपथ मैं सड़क पर खड़ा था और देर तक वैसे ही हाथ उठाये रहा। कुछ देर बाद मैंने चेहरा पोंछा। ठीक ही था, ईंट का जवाब पत्थर से मिल गया था। मगर इस वक़्त मुझे ग़ुस्सा-गिला करने का होश नहीं था। बात साफ़ थी कि असेल उनके घर नहीं गयी थी। यह तो और भी बुरा था। ज़ाहिर था कि वह अपने गांव चली गयी थी, कोई और ठिकाना तो था ही नहीं उसके लिए। किस मुंह से मां-बाप के घर की दहलीज़ लांघी होगी उसने, क्या कहा होगा? ऐसी बेइज़्ज़ती के साथ उसकी वापसी पर क्या रवैया रहा होगा वहां लोगों का? अकेली, बच्चे को गोद में उठाये हुए!

फ़ौरन गांव जाना चाहिये मुझे।

जल्दी से माल उतारा और गाड़ी को सड़क पर खड़ी करके काग़ज़ात देने के लिए कंट्रोलर के दफ़्तर की तरफ़ भाग गया। बरामदे में जानताई सामने आ गया – ओह, वैसी बेहयाई और हिक़ारतभरी जहरीली मुस्कान थी उसके चेहरे पर!

कंट्रोलर के दफ़्तर की खिड़की में सिर घुसेड़कर जब मैंने हुक्मनामा मेज़ पर फेंका, तो कादीचा ने अजीब ढंग से मेरी तरफ़ देखा।

उसकी नज़रों में कुछ परेशानी, कुछ कुसूर-सा झलक उठा।

"जल्दी से काग़ज़ात ले लो!" मैंने कहा।

"कोई बात हो गयी है क्या?"

"वह घर पर नहीं है। असेल चली गई!"

"क्या कह रहे हो तुम?" कादीचा मेज़ से उठकर खड़ी हो गयी, उसके चेहरे का रंग उड़ गया था। होंठ काटते हुए वह कह उठी – "माफ़ कर दो मुझे, माफ़ कर दो, इल्यास! यह तो मैं, मैं..."

"मैं, मैं क्या कर रही हो? साफ़-साफ़ बताओ!' मैं दरवाज़े की तरफ़ लपका।

"मैं तो खुद नहीं जानती कि यह सब कैसे हुआ। क़सम खाकर कहती हूं तुमसे, इल्यास । कल चौकीदार ने खिड़की खटखटाई और बोला कि कोई लड़की मुझसे मिलना चाहती है। मैं फ़ौरन असेल को पहचान गयी। उसने चुपचाप मेरी तरफ़ देखा और पूछा – 'यह सच है क्या?' मैं अपने होश-हवास भूलकर अचानक कह उठी – 'हां, सच है। सब कुछ सच है। वह मेरा है!' वह खिड़की से हट गयी। मैं मेज़ पर गिर पड़ी और रोती हुई पागलों की तरह यह रट लगाने लगी – 'वह मेरा है! मेरा है!' इसके बाद मैंने उसे नहीं देखा... मुझे माफ़ कर दो!"

"मगर उसे इसका पता कहां से चला?"

"जानताई से। उसी ने मुझे भी धमकी दी थी। तुम क्या उस कमीने को नहीं पहचानते हो? इल्यास, तुम असेल के पास जाओ, उसे ढूंढ़ लो। मैं अब तुम लोगों के रास्ते में रोड़ा नहीं बनूंगी, कहीं चली जाऊंगी..."

मेरी ट्रक जाड़े के दिनों की स्तेपी में से चली जा रही थी। ज़मीन नीलगूं थी, जमी हुई थी। हवा बर्फ़ के ढेरों की चोटियों पर बगूले बना रही थीं, सिंचाई के नालों से सूखी जंगली घास को उड़ाकर कहीं दूर ले जा रही थी। दूरी पर धूप-हवा से झुलसी हुई दीवालों और गांव के निपत्ते बाग़-बगीचे दिखाई दे रहे थे।

शाम होते-होते मैं गांव में पहुंच गया। जाने-पहचाने अहाते के करीब गाड़ी रोकी, घबराहट दूर करने के लिए जल्दी-जल्दी सिगरेट पी, टोटे को बुझाया और हार्न बजाया। मगर असेल की जगह उसकी मां कंधों पर फ़र का कोट डाले हुए बाहर आई। मैंने पायदान पर खड़े होकर धीमे-से कहा –

"सलाम, आपा!"

"हुंह, तो यह तुम नमूदार हुए हो?" उसने ग़ुस्से से जवाब दिया। "इस सारे क़िस्से के बाद तुम मुझे आपा कहने की भी जुर्रत कर रहे हो? दफ़ा हो जाओ यहां से, दूर हो जाओ मेरी आंखों के सामने से! आवारा, लफ़ंगे! बहकाकर भगा ले गये मेरे जिगर के टुकड़े को और अब आये हो सूरत दिखाने! शर्म-हया नहीं है तुम्हारी आंखों में! ज़िन्दगी भर को हमारे मुंह पर कालिख पोत दी..."

बुढ़िया ने मुझे तो मुंह ही नहीं खोलने दिया। वह मुझे कोसती और बुरे से बुरे लफ़्ज़ कहती रही। उसकी आवाज़ सुनकर अड़ोस-पड़ोस के घरों से लोग-बाग आने लगे।

"चलते बनो यहां से, नहीं तो लोगों को बुला लूंगी! ख़ुदा तुम्हें ग़ारत करे! कभी तुम्हारी सूरत देखनी नसीब न हो!" ग़ुस्से से लाल-पीली हुई बुढ़िया अपना कोट ज़मीन पर फेंक मेरी तरफ़ बढ़ी।

मेरे लिए गाड़ी चालू करने के सिवा कोई चारा न रह गया। अगर असेल मुझसे मिलना ही नहीं चाहती, तो मेरे लिए वहां रुकना बेमानी था। गाड़ी में कंकड़-पत्थर और डंडे गिरने लगे। लड़कों ने मुझे गांव से ऐसे विदा किया...

उस रात में देर तक इस्सीक-कूल के किनारे भटकता रहा। चांदनी में नहायी हुई झील बहुत बेचैन थी। और इस्सीक-कूल – हमेशा गर्म रहनेवाली झील! उस रात तुम भी ठंडी थीं, ठिठुरी हुई थीं, तुम्हारा मिज़ाज बिगड़ा हुआ था। मैं उल्टी हुई नाव पर बैठा था। ग़ुस्से से फुंकारती हुई बड़ी-बड़ी लहरें किनारे की तरफ़ आतीं, बूटों के सिरों से टकराती और गहरी सांस छोड़ती हुई लौट जाती ...

...किसी ने मेरे पास आकर धीरे-से कंधे पर हाथ रखा। यह कादीचा थी।

कुछ दिन बाद हम फ़्रूंजे चले गये और अनारख़ाई स्तेपी की चरागाहों के एक खोज-दल में काम करने लगे – मैं ड्राइवर और कादीचा मज़दूरिन की हैसियत से। तो इस तरह शुरू हुई हमारी नयी ज़िन्दगी।

हम लोग अनारख़ाई में बहुत दूर, बलख़ाश झील के पास वाले इलाके में चले गये। अगर अपनी बीती ज़िन्दगी से नाता तोड़ना ही था, तो उसे हमेशा के लिये तोड़ा जाये।

शुरू में तो काम ने उदास नहीं होने दिया। काम वहां ढेरों था। तीन साल से ज़्यादा अर्से तक हमारी मोटरें अनारख़ाई स्तेपी के आर-पार आती-जाती रहीं, वहां कुएं खोद दिये गये, रास्ते बिछा और अड्डे बना दिये गये। थोड़े में यह कि अब अनारख़ाई पहले की तरह वीरान-सुनसान इलाक़ा नहीं रहा था, जहां आदमी दिन दहाड़े रास्ता भूल सकता था और महीने भर टीलों और नागदौने वाली स्तेपी में भटकता रह सकता था। अब यह ढोर पालनेवालों का इलाक़ा था, जिनके लिए ढंग के मकान थे, तहज़ीबी सेन्टर थे... अनाज बोया जाता था, यहां तक कि घास भी सुखायी जाती थी। अनारख़ाई में काम की कुछ कमी नहीं थी, ख़ासकर हम ड्राइवरों के लिये। मगर मैं लौट आया। सो भी इसलिये नहीं कि ऐसी जगहों में ज़िन्दगी बहुत मुश्किल थी। यह तो वक़्ती चीज़ थी। हम दोनों मुश्किलों से नहीं डरते थे और यह भी कहना चाहिये कि हमारी ज़िन्दगी भी कुछ बुरी नहीं थी, हम एक दूसरे की इज़्ज़त करते थे। मगर इज़्ज़त करना एक चीज़ हैं, प्यार करना दूसरी। अगर एक प्यार भी करता हो, मगर दूसरा नहीं, तो यह भी असली ज़िन्दगी नहीं कही जा सकती। या तो इनसान बना ही हुआ है कुछ ऐसी मिट्टी का या फिर मेरा ही मिज़ाज ऐसा है, मगर मैं हर वक़्त किसी चीज़ की कमी महसूस करता था। और यह कमी न तो काम से पूरी हो सकती थी, न प्यार करनेवाली औरत की दोस्ती, उसके ध्यान और उसकी नेकी से। मैं बहुत अर्से से दिल ही दिल में इस बात के लिये पछताता था कि जल्दबाज़ी में वहां से चला आया, एक बार फिर असेल के पास जाने की कोशिश नहीं की। पिछले डेढ़ साल से तो मुझे असेल और बेटे की बहुत ही याद आने लगी थी। रातों को नींद नहीं आती थी। समद मेरी आंखों के सामने घूमता, मुस्कराता हुआ, अपनी कमज़ोर टांगों पर डगमगाता हुआ। उसकी प्यारी-प्यारी, बच्चे की गन्ध ज़िन्दगी भर को जैसे मेरी सांसों में बसकर रह गयी थी। अपने त्यान-शान के प्यारे पहाड़ों, अपनी नीली इस्सीक-कूल झील और पहाड़ के दामन में फैली अपनी स्तेपी की तरफ़ मेरा मन भागता। वहीं तो अपने पहले और आख़िरी प्यार से मेरी मुलाक़ात हुई थी। कादीचा यह जानती थी, मगर किसी भी बात के लिये मुझे क़ुसूरवार नहीं ठहराती थी। आख़िर हम समझ गये कि एकसाथ नहीं रह सकते।

अनारख़ाई में बहुत जल्दी ही बहार आ गयी थी। बर्फ़ तेज़ी से पिघल गयी, टीले उभरे, हरे-भरे हो गये। स्तेपी में ज़िन्दगी आ गयी, वह गर्म और नम हो

उठी। रातों को हवा बिल्लौरी हो गयी, आसमान सितारों से जगमगाने लगा।

हम डेरिक के क़रीब तम्बू में लेटे हुए थे। नींद नहीं आ रही थी। स्तेपी के सन्नाटे में अचानक न जाने कहां से, बहुत दूर से और बड़ी धीमी-सी इंजन की सीटी सुनाई दी। कैसे वह हम तक आ पहुंची, यह कहना मुश्किल है – रेलवे स्टेशन पर जाने के लिये हमें आधे दिन तक स्तेपी में सफ़र करना होता था। या शायद मुझे ऐसा भ्रम ही हुआ था, कह नहीं सकता। मगर दिल छटपटाने लगा, रास्ते की तरफ़ मुझे बुलाने लगा। मैंने कहा –

"कादीचा, मैं यहां से चला जाऊंगा।"

"हां, इल्यास। हमें अपने रास्ते अलग कर लेने चाहिये," उसने जवाब दिया।

और हम अलग हो गये। कादीचा उत्तरी कज़ाख़स्तान में परती जमीन पर काम करने चली गयी।

मेरी दिली तमन्ना है कि वह सुखी हो। मैं यह यक़ीन करना चाहता हूँ कि आख़िर उस आदमी से उसकी मुलाक़ात हो जायेगी, जो शायद ख़ुद भी यह न जानते हुए, उसकी खोज में है। पहले ख़ाविन्द के मामले में भी क़िस्मत ने उसका साथ नहीं दिया था और मेरे साथ भी वह ख़ुशक़िस्मत नहीं हो पाई थी। अगर मैं असली प्यार से अनजान होता, अगर मैंने यह न जाना होता कि खुद प्यार करने और किसी का प्यार पाने का क्या मतलब होता है, तो शायद मैं कादीचा के साथ रह ही जाता। यह तो ऐसा मामला है, जिसे समझाना ही मुश्किल है।

मैं कादीचा को रेलवे स्टेशन पर ले गया, गाड़ी में बिठा दिया। जब तक गाड़ी चली नहीं गयी, उसके साथ-साथ भागता रहा। "ख़ुदा तुम्हें सुखी रखे, कादीचा! मेरे बारे में बुरा नहीं सोचना!" मैंने आख़िरी बार फुसफुसाकर कहा।

अनारख़ाई के ऊपर सारस दक्षिण को उड़ रहे थे और मैं उत्तर को, त्यान-शान की तरफ़ जा रहा था...

मैं वहां पहुंचा और कहीं भी रुके बिना सीधा गांव की तरफ़ रवाना हो गया। मैं उसी तरफ़ जानेवाली एक ट्रक में पीछे बैठा था, कुछ भी न सोचने की कोशिश कर रहा था – मैं ख़ुश भी था और डर भी रहा था। हम पहाड़ के दामन वाली स्तेपी में, उसी रास्ते पर जा रहे थे, जहां असेल से मुलाक़ात

हुआ करती थी। मगर यह अब पहले जैसा रास्ता नहीं था, बजरी बिछी सड़क थी, कंकरीट के पुल बन गये थे और रास्ता बतानेवाले निशान लगे हुए थे। स्तेपी के पुराने रास्ते के लिये मुझे तो अफ़सोस भी हुआ। सिंचाई के नाले में से होकर जानेवाले उस रास्ते को भी मैं नहीं पहचान पाया, जहां कभी मेरी ट्रक फंस गयी थी। वह पत्थर भी नहीं मिला, जिस पर असेल बैठी थी।

गांव के सिरे पर पहुंचने से पहले ही मैंने केबिन को खटखटाया।

"क्या बात है?" ड्राइवर ने सिर बाहर निकालकर पूछा।

"गाड़ी रोक दो, उतरना चाहता हूं।"

"मैदान में ही? अभी पहुंच जाते हैं।"

"शुक्रिया! पास ही में तो जाना है," मैं नीचे कूद गया। "पैदल पहुंच जाऊंगा," मैंने उसको तरफ़ पैसे बढ़ाते हुए कहा। .

"रहने दो!" वह बोला। "अपनों से पैसे नहीं लिये जाते।"

"ले लो, कोई माथे पर थोड़े ही लिखा है।"

"रंग-ढंग से नज़र आ रहा हैं।"

"ख़ैर, अगर ऐसा ही है, तो सलाम!"

गाड़ी चली गयी। मैं सड़क पर ही खड़ा रहा, हिम्मत नहीं बटोर पा रहा था। हवा की तरफ़ पीठ करके मैंने सिगरेट जला ली। सिगरेट जब होंठों के क़रीब ले गया, तो हाथ कांप रहे थे। कुछ कश खींचे, टोटे को पैरों तले रौंदा और चल दिया। "लो, पहुंच गया!" मैं बुदबुदाया। दिल ऐसे ज़ोर से धड़क रहा था कि कानों में बजता-सा लगता था, सिर पर हथौड़े-से पड़ रहे थे।

गांव साफ़ तौर पर बदला हुआ दिखाई दे रहा था, बढ़-फैल गया था, स्लेट पत्थर की छतोंवाले बहुत-से नये मकान बन गये थे। सड़कों पर बिजली के तार थे, सामूहिक फ़ार्म के दफ़्तर के क़रीब खम्भे पर रेडियो बज रहा था। बच्चे स्कूल भागे जा रहे थे। कुछ बड़े बालक जवान उस्ताद के साथ कोई बात करते हुए जा रहे थे। मुमकिन है कि इनके बीच वे भी हों, जिन्होंने कभी मुझपर पत्थर और डंडे फेंके थे... वक़्त तो गुज़रता जाता है, गुज़रता जाता है, कभी नहीं रुकता।

मैंने क़दम तेज़ कर दिये। यह आ गया वह अहाता – सरपत और मिट्टी की चारदीवारी वाला। मैं सांस लेने के लिये रुका। डर और घबराहट से मुझे

ठंडे पसीने पा रहे थे। मैं झिझकते क़दमों से फाटक की तरफ़ बढ़ा। दस्तक दी। स्कूल का थैला हाथों में लिये एक लड़की भागती हुई आई। यह वही थी, जिसने कभी मुझे ज़बान दिखाई थी। अब वह स्कूल जाती थी। वह स्कूल जाने की जल्दी में थी। उसने कुछ हैरानी से मेरी तरफ़ देखा और बोली –

"घर पर तो कोई नहीं है!"

"कोई नहीं?"

"हां, आपा वन-फ़ार्म में किसी के यहां मेहमान गई है। अब्बा ट्रैक्टरों के साथ पानी वाली गाड़ी पर काम कर रहे हैं।"

"असेल कहां है?" मैंने दबी ज़बान से पूछा और यह महसूस किया कि फ़ौरन मेरा गला सूख गया है।

"असेल?" लड़की हैरान हुई। "असेल तो कभी की चली गयी..."

"क्या कभी नहीं आई?"

"हर साल जीजा जी के साथ आती है। आपा का कहना है कि वे बहुत अच्छे आदमी हैं!"

इसके बाद मैंने और कुछ नहीं पूछा। लड़की स्कूल गयी और मैं वापस चल दिया।

इस ख़बर से मुझे ऐसा धक्का लगा कि किससे, कब और किस जगह उसने शादी की, मुझे किसी भी बात में कोई दिलचस्पी न रही। क्या लेना है मुझे यह जानकर? न जाने क्यों, मेरे दिमाग़ में यह बात कभी नहीं आई थी कि असेल किसी दूसरे आदमी से शादी कर सकती है। मगर ऐसा तो होना ही था। मेरे नमूदार होने तक वह सालों बैठी इन्तज़ार थोड़े ही करती रहती!

मैं किसी मोटर की राह देखे बिना, पैदल ही चल दिया।

हां, मैं जिस रास्ते पर चल रहा था, वह बदल गया था – यह कंकड़ी बिछा हमवार रास्ता था। सिर्फ़ स्तेपी ही पहले जैसी थी – काली ज़मीन और उस पर खड़ी बदरंग कटी बालियां। चौड़ी-चौड़ी, छोटी-छोटी लहरों की शक्ल में स्तेपी पहाड़ों से क्षितिज तक फैली हुई थी और दूर इस्सीक-कूल के किनारों पर सुनहरी लकीर बनकर ख़त्म होती थी। बर्फ़ के बाद ज़मीन उघाड़ी और नम थी। कहीं दूरी पर वसन्त की बोवाई करनेवाले ट्रैक्टर भी शोर मचाने लगे थे।

रात को मैं हलका-केन्द्र तक जा पहुंचा। सुबह मैंने मोटरों के अड्डे पर

जाने का फ़ैसला किया। सब कुछ ख़त्म हो चुका था, सब कुछ खो चुका था। मगर जीना और काम तो करना ही था। आगे क्या होगा – अल्लाह जाने...

त्यान-शान का रास्ता हमेशा की तरह गूंज रहा था। मोटरों की क़तारें चली जा रही थीं। मगर मैं अपने अड्डे की गाड़ी की ताक में था। आख़िर मैंने हाथ उठाया।

गाड़ी तेज़ी से मेरे क़रीब से निकल गई, मगर फिर एक़दम रुकी। मैंने सूटकेस हाथ में ले लिया, ड्राइवर केबिन से निकला। अरे, यह तो एर्मेक था, मेरे साथ पलटन में रह चुका था, मुझ से फ़ौजी तालीम भी हासिल की थी उसने। तब उसने जवानी में क़दम रखा ही था। एर्मेक झिसकती-सी मुस्कान के साथ चुपचाप खड़ा मुझे देखता रहा।

''नहीं पहचाना?''

''सार्जेन्ट ... इल्यास! इल्यास अलीबायेव!'' आख़िर उसे याद हो आया।

''हां, वही हूं!'' मैं मुस्कराया, मगर दिल को ठेस-सी लगी – अगर लोग इतनी मुश्किल से मुझे पहचान पाते हैं, तो इसका मतलब तो यही है कि मैं बहुत बदल गया हूं।

तो हम चल दिये। सभी तरह की बातें कीं हमने, फ़ौज के दिनों को याद किया। मुझे लगातार इस बात का डर बना रहा कि वह कहीं मेरी ज़िन्दगी के बारे में पूछताछ शुरू न कर दे। मगर ऐसा लग रहा था कि एर्मेक को कुछ भी मालूम नहीं है। मुझे राहत मिली।

''फ़ौज से कब लौटे?''

''यही कोई दो साल से काम कर रहा हूं।''

''अलीबेग जानतूरीन कहां है?''

''पता नहीं। मेरे यहां आने से पहले ही कहीं चला गया था। सुनने में आया है कि पामीर के किसी मोटर अड्डे पर बड़ा मिस्तरी है।''

''शाबाश अलीबेग! शाबाश, मेरे दोस्त! बड़े पक्के इरादे के जवान हो तुम!'' मैं दिल ही दिल में खुश हुआ। तो उसने जो सोचा था, उसे हासिल कर ही लिया। फ़ौज के दिनों में ही मोटरों के तकनीकी स्कूल में चिट्ठी-पत्री के जरिये तालीम पाता था और इन्स्टीट्यूट की पढ़ाई भी इसी तरह ख़त्म करना चाहता था।

''अमनजोलोव ही बड़ा अफ़सर है?''

''नहीं, कोई नया आदमी है। अमनजोलोव की तरक़्क़ी हो गयी, मिनिस्ट्री में चला गया।''

''क्या ख़्याल है, मुझे नौकरी मिल जायेगी?''

''क्यों नहीं, जरूर मिल जायेगी। पहले दर्जे के ड्राइवर हो, तुम्हारी तो फ़ौज के दिनों में भी अच्छे ड्राइवरों में गिनती होती थी।''

''हां, कभी तो होती थी!'' मैं बुदबुदाया ''जानताई को जानते हो?''

''ऐसा तो कोई नहीं है हमारे यहां। कभी नाम भी नहीं सुना।''

''हां, बहुत काफ़ी तब्दीलियां हो गयी है मोटरों के अड्डे पर...'' मैंने सोचा और फिर पूछा –

''ट्रेलरों का क्या हाल है, उन्हें लेकर दर्रे में से जाते हैं?''

''यह तो आम बात है,'' एर्मेक ने मामूली ढंग से ज़वाब दिया। ''सवाल तो यह होता है कि माल कैसा है। ज़रूरी तब्दीलियां कर ली जाती हैं और हम खींच ले जाते हैं। अब मोटरें बहुत ताक़तवर हैं।''

एर्मेक नहीं जानता था कि इन ट्रेलरों के लिये मुझे क्या क़ीमत देनी पड़ी थी।

कुल मिलाकर यह कि मैं अपने अड्डे पर लौट आया। एर्मेक ने मुझे अपने घर चलने की दावत दी, ख़ातिरदारी की, मुलाक़ात होने की खुशी में पीने को कहा। मगर मैंने इनकार कर दिया। एक मुद्दत से नहीं पीता था।

मोटरों के अड्डे पर भी लोग तपाक से मिले। अपने वाक़िफ़ साथियों का मैं बहुत शुक्रगुज़ार हुआ कि उन्होंने सवाल पूछ-पूछकर मुझे परेशान नहीं किया। वे समझ गये थे कि आदमी भटक गया था, लौट आया, ईमानदारी से काम करता है, बस, ठीक है। किसलिये गड़े मुर्दे उखाड़े जायें? मैं ख़ुद भी सब कुछ भूल जाने की कोशिश करता था, सब कुछ एकबारगी और हमेशा के लिये। दर्रे वाले अड्डे के क़रीब से, जहां कभी बीवी-बच्चे के साथ रहता था, मैं बहुत तेज़ी से मोटर निकाल ले जाता, दायें-बायें नज़र तक न डालता और पेट्रोल पम्प पर पेट्रोल भी न लेता। मगर मेरी तमाम कोशिश बेकार रही, मैं अपने को धोखा नहीं दे पाया।

मुझे काम करते काफ़ी वक़्त हो गया था, यहां का आदी हो गया था, गाड़ी को पहचान गया था, सभी रफ़्तारों और चढ़ाइयों पर इंजन को आज़माकर

देख चुका था। मतलब यह कि अपने काम से वाक़िफ़ हो चुका था...

उस दिन मैं चीन से लौट रहा था। बड़े इतमीनान से गाड़ी चला रहा था, दिमाग़ में किसी तरह का कोई ख़्याल नहीं था, मज़े से स्टीयरिंग ह्वील घुमा रहा था, इधर-उधर देखता जाता था। बहार के दिन थे, इर्दगिर्द बहुत अच्छा लग रहा था। दूरी पर कहीं-कहीं तम्बू लगे थे – ढोर पालनेवाले जानवरों को चराने के लिये वसन्त की चरागाहों में ले आये थे। तम्बुओं के ऊपर नीलगूं धुआं फैला हुआ था। घोड़ों की बेचैन हिनहिनाहट सुनाई दे रही थी। भेड़ें सड़क के क़रीब घूम रही थीं। मुझे अपना बचपन याद हो आया, मन उदास हो गया ... झील की तरफ़ मुड़ने पर मैं चौंका – राजहंस!

ज़िन्दगी में दूसरी बार मुझे इस्सीक-कूल पर बहार के दिनों में राजहंस देखने का मौक़ा मिला था। नीली-नीली झील के ऊपर सफ़ेद राजहंस ... मंडरा रहे थे। मालूम नहीं क्यों, मैंने फ़ौरन सड़क से गाड़ी उतारी और, जैसा कि तब हुआ था, परती ज़मीन पर से उसे सीधे झील की तरफ़ ले गया।

इस्सीक-कूल, इस्सीक-कूल – मेरा गीत अभी बाक़ी है!

किसलिये मुझे वह दिन याद आया, जब इसी पहाड़ी पर, पानी के ऐन ऊपर, मैंने असेल के साथ यहीं लाकर मोटर खड़ी की थी? हां, सब कुछ ऐसा ही था – नीली-सफ़ेद लहरें जैसे कि एक दूसरी का हाथ थामे हुए क़तार बांधकर पीले किनारे की तरफ़ दौड़ रही थीं। सूरज पहाड़ों के पीछे डूब रहा था और दूरी पर पानी गुलाबी लग रहा था। राजहंस बेचैनी और ख़ुशी से चिल्ला रहे थे। वे पंखों को फैलाये ऊपर उठते, उन्हें गुंजाते-से नीचे गिरते और बड़े-बड़े, झाग वाले भंवर बनाते। हां, सब कुछ वैसा ही था। सिर्फ़ असेल ही मेरे साथ नहीं थी। कहां हो तुम, लाल रूमाल वाली मेरी सरो?

मैं देर तक किनारे पर खड़ा रहा। फिर अड्डे पर वापस आया और अपने पर क़ाबू न रख पाया... फिर से शराबख़ाने को चल दिया ताकि दिल के टीसते दर्द को कुछ हल्का कर सकूँ। रात को काफ़ी देर होने पर वहां से बाहर आया। आसमान काला था, काली घटायें छाई थीं। घाटी से हवा ऐसे आ रही थी जैसे कि सुरंग से। वह गुस्से से पेड़ों को झकझोरती थी, तारों में सीटियां बजाती थी, चेहरे पर बजरी के थपेड़े मारती थी। झील शोर कर रही थी, कराह रही थी। मैं बड़ी मुश्किल से होस्टल में पहुंचा और कपड़े पहने-पहने ही सो गया।

सुबह सिर उठाते नहीं बना, ख़ुमार से वह टुकड़े-टुकड़े हुए जा रहा था। बाहर बर्फ़ मिली घिनौनी फुहार पड़ रही थी। कोई तीन घण्टे तक ऐसे ही बिस्तर पर पड़ा रहा, काम पर जाने को मन नहीं हो रहा था। पहली बार ऐसे हुआ था कि काम भी मेरे लिये ख़ुशी नहीं रहा था। मगर कुछ देर बाद मुझे शर्म आई और मैं काम पर चला गया।

मोटर मरी-मरी-सी चल रही थी। यह कहना ज़्यादा सही होगा कि मैं ख़ुद मरा-मरा-सा था और मौसम तो किसी भी काम का नहीं था। सामने से आनेवाली मोटरों पर बर्फ़ नज़र आ रही थी। इसका मतलब था कि दर्रे में बर्फ़ पड़ गयी थी। मगर मेरी बला से, क्या फ़र्क़ पड़ता है इससे, बेशक तूफ़ान आ जाये, मेरी जूती परवाह करती है, मुझे किसी बात का डर नहीं, अपना हश्र तो मुझे मालूम ही है...

बहुत ही बुरा मूड था। केबिन में लगे आईने में नज़र डाली, तो दिल डूबने-सा लगा – दाढ़ी बढ़ी हुई, चेहरा सूजा-सा, मुरझाया हुआ, जैसे कि बीमारी से उठा होऊं। रास्ते में मुझे कहीं कुछ खा लेना चाहिये था, सुबह से पेट में कुछ नहीं डाला था। मगर खाने को तबीयत नहीं हो रही थी, शराब चढ़ाने को दिल हो रहा था। यह तो सभी जानते हैं कि जैसे ही एक बार हम अपने को थोड़ी ढील दे देते हैं, वैसे ही ख़ुद पर काबू पाना मुश्किल हो जाता है। चुनांचे शराबख़ाने के पास मोटर रोकी। पहला गिलास पीते ही मैं खिल उठा, अपने रंग में आ गया। गाड़ी ज़्यादा मज़े से चलने लगी। रास्ते में फिर कहीं भागकर गया और सौ ग्राम वोद्का चढ़ा ली, इसके बाद फिर कहीं और पी ली। रास्ता तेजी से पीछे छूटने लगा, आंखों के सामने ब्रश आगे-पीछे घूमने लगे। मैं स्टीयरिंग ह्वील पर झुक गया, दांतों के बीच सिगरेट चबा रहा था। सिर्फ़ इतना ही नज़र आ रहा था कि सामने से आनेवाली मोटरें डबरों से छींटे उड़ाकर शीशे को गन्दा करती हुई तेजी से गुज़र जाती थीं। मैंने भी रफ़्तार बढ़ा दी, काफ़ी देर जो हो गयी थी। रात ने मुझे पहाड़ों में आ घेरा, एकदम काली, अंधेरी रात ने। अब वोद्का ने अपना असर दिखाया। बुरा हाल होने लगा। थकावट महसूस होने लगी। आंखों के सामने काले धब्बे उभरने लगे। केबिन में घुटन थी, मेरा जी मतलाने लगा। कभी भी मैं नशे में ऐसा धुत्त नहीं हुआ था। चेहरा पसीने से तर हो गया। मुझे ऐसा लगने लगा कि मोटर पर नहीं, बल्कि सामने वाली बत्तियों से आगे-आगे भागती दो किरणों पर बढ़ा जा रहा हूं। इन किरणों के साथ-साथ

मैं रोशन गहरी ढाल पर तेज़ी से नीचे गिरता, तो कांपती और चट्टानों पर रेंगती रोशनियों के साथ ऊपर उठता, उनके पीछे-पीछे इधर-उधर चक्कर खाने लगता। हर मिनट मेरी ताक़त जवाब देती जा रही थी, मगर मैंने गाड़ी रोकी नहीं। मैं जानता था कि स्टीयरिंग ह्वील से एक बार हाथ हटाने की देर है और बस, मैं उसे आगे नहीं ले जा सकूँगा। मेरी गाड़ी किस जगह थी, यह मुझे सही तौर पर तो याद नहीं, मगर कहीं दर्रे में ही थी। ओह, दोलोन, दोलोन, त्यान-शान के देव! बहुत ही मुश्किल है तुम्हारी चढ़ाई! ख़ास तौर पर रात के वक़्त, ख़ासकर नशे में चूर ड्राइवर के लिये!

गाड़ी बड़ा ज़ोर लगाकर किसी चढ़ाई पर चढ़ी और पहाड़ के नीचे, ढाल पर उतरने लगी। रात का अंधेरा आंखों के सामने घूमने लगा, सब कुछ उल्टा-टेढ़ा नज़र आने लगा। हाथ मेरे क़ाबू में नहीं रहे थे। बढ़ती हुई रफ़्तार के साथ गाड़ी बहुत तेज़ी से नीचे की तरफ़ उड़ चली। कुछ देर बाद दबा-घुटा-सा धमाका हुआ, खनक सुनाई दी, बत्तियां भभककर बुझ गयीं और आंखों के सामने अंधेरा छा गया। दिमाग़ की गहराई में कहीं यह ख़्याल कौंध गया – "हादिसा!"

कितनी देर तक मैं ऐसे ही पड़ा रहा, मुझे याद नहीं। कहीं बहुत दूर से, जैसे कि कानों में ठुंसी हुई रूई के बीच से, मुझे अचानक किसी की आवाज़ सुनाई दी –

"रोशनी करो तो!" किसी के हाथों ने मेरे सिर, कंधों और छाती को छूकर देखा। "ज़िन्दा, मगर नशे में धुत्त है," किसी ने कहा। दूसरे ने जवाब दिया – "रास्ता साफ़ करना चाहिये!"

"हां तो, दोस्त, थोड़ा हटो तो, गाड़ी को एक तरफ़ हटा दें," हाथों ने मेरे कंधे को धीरे-से धकेला।

मैं कराह उठा, बड़ी मुश्किल से मैंने सिर ऊपर उठाया। माथे से चेहरे पर ख़ून बह रहा था। छाती में कोई चीज़ मेरे सीधा होने में अड़चन डाल रही थी। आदमी ने दियासलाई जलाई। मुझपर नज़र डाली। इसके बाद फिर से दियासलाई जलाई और फिर से मुझ पर नज़र डाली, जैसे कि उसे अपनी आंखों पर यक़ीन न हो रहा हो...

"यह तुमने क्या किया, मेरे दोस्त? कैसे हो गया यह?" उसने दुखी होते हुए अंधेरे में कहा।

"गाड़ी... बहुत बुरी तरह टूट-फूट गयी है क्या?" ख़ून थूकते हुए मैंने पूछा।

"नहीं, बहुत तो नहीं। सिर्फ़ सड़क को रोके हुए है।"

"तो मैं अभी चला जाता हूं, जाने दीजिये मुझे!" कांपते और बात न मानते हुए हाथों से मैंने चाबी घुमाकर मोटर चालू करने की कोशिश की।

"रुको!" उस आदमी ने मुझे कसकर पकड़ लिया। "बस, काफ़ी हो चुका यह खेल। बाहर निकलो। अब चलकर सो रहो, सुबह देखा जायेगा..."

उन्होंने मुझे केबिन से बाहर निकाल लिया।

"केमेल, गाड़ी को एक तरफ़ कर दो, बाक़ी बाद में देख-समझ लेंगे!"

उसने अपने कंधे के गिर्द मेरी बांह डाली और अंधेरे में एक तरफ़ को खींच ले चला। एक अहाते तक पहुंचने से पहले हम काफ़ी देर चलते रहे। उस आदमी ने मुझे घर में दाख़िल होने में मदद दी। आगे वाले कमरे में लालटेन जल रही थी। आदमी ने मुझे स्टूल पर बिठाकर मेरा कोट उतारना शुरू किया। तब मैंने उसकी तरफ़ देखा। मुझे याद हो आया। यह तो सड़क का मिस्तरी बाइतमीर था। वही, जिसकी गाड़ी को कभी मैंने दर्रे में अपनी गाड़ी के पीछे बांधकर खींचा था। मुझे शर्म आई, मगर साथ ही ख़ुशी भी हुई। मैंने चाहा कि उससे माफ़ी मांगू, उसका शुक्रिया अदा करूं, मगर इसी वक़्त ठक से फ़र्श पर गिरनेवाली लकड़ियों ने मुझे पीछे मुड़कर देखने को मजबूर किया। मैंने उधर देखा और धीरे से, बड़ी मुश्किल से जैसे कि मेरे कंधों पर कोई बहुत भारी बोझ आ गिरा हो, अपनी जगह से थोड़ा उठा। दरवाज़े में बिखरी हुई लकड़ियों के क़रीब असेल खड़ी थी। वह ग़ैरक़ुदरती ढंग से सीधी तनी हुई थी और बेजान-सी मेरी तरफ़ देख रही थी।

"यह क्या मामला है?" वह धीरे-से फुसफुसायी।

मैं तो "असेल!" पुकारता-पुकारता ही रह गया। उसकी परायी, दूर हटाती नज़र ने मेरे मुंह पर ताला लगा दिया। शर्म से लाल होते हुए मैंने सिर झुका लिया। घड़ी भर को कमरे में गहरा सन्नाटा छा गया। अगर बाइतमीर मामले को न संभालता, तो मालूम नहीं कि इसका क्या नतीजा होता। उसने फिर से मुझे मेरी जगह पर बिठा दिया, जैसे कि कुछ हुआ ही न हो।

"कोई बात नहीं, असेल," उसने इतमीनान से कहा। "ड्राइवर को ज़रा-सी चोट लग गयी है, थोड़ा आराम करना चाहिये इसे ... तुम हमें थोड़ी आयोडिन ला दो।"

"आयोडिन?" उसकी आवाज़ में थोड़ी नर्मी, थोड़ी बेचैनी आ गयी थी।

"आयोडिन तो पड़ोसी ले गये हैं... मैं अभी ले आती हूँ!" उसने जवाब दिया और बाहर भाग गयी।

मैं दांतों तले होंठ दबाता हुआ बुत बना बैठा था। खुमार हवा हो गया, आन की आन में मेरे होश-हवास ठिकाने आ गये। सिर्फ़ कनपटियों में ख़ून तेज़ी से बज रहा था।

"पहले इसे साफ़ कर लेना चाहिये," मेरे माथे की खरोंच की तरफ़ देखते हुए बाइतमीर ने कहा। वह बालटी लेकर बाहर चला गया। बग़ल वाले कमरे से कोई पांचेक साल के लड़के ने झांका। वह नंगे पांव था, सिर्फ़ क़मीज़ पहने हुए। उसने बड़ी-बड़ी, कुरेद भरी आंखों से मेरी तरफ़ देखा। मैं उसे फ़ौरन पहचान गया। मालूम नहीं कैसे, मगर पहचान गया, मेरे दिल ने पहचान लिया।

"समद!" मैं धीरे-से फुसफुसाया और बेटे की तरफ़ बढ़ा। इसी वक़्त बाइतमीर दरवाज़े में दिखाई दिया और मैं किसी वजह से सहम गया। बेटे को मैंने कैसे नाम लेकर पुकारा था, लगता है कि उसने यह सुन लिया था। बड़ी झेंप-सी महसूस हुई, जैसे कि मुझे चोरी करते पकड़ लिया गया हो। अपनी यह झेंप मिटाने के लिये मैंने आंख के ऊपर आई खरोंच पर हाथ रखते हुए अचानक पूछ लिया –

"यह आपका बेटा है?" भला किसलिये मैंने उससे ऐसा सवाल किया? आज तक अपने को इसके लिये माफ़ नहीं कर पाता।

"मेरा है!" बाइतमीर ने काम-काजी ढंग से जवाब दिया। उसने बालटी फ़र्श पर रखकर समद को गोद में उठा लिया। "मेरा है, मेरा अपना है, ठीक है न, समद?" लड़के को चूमते और मूंछों से उसकी गर्दन को गुदगुदाते हुए वह कहता रहा। बाइतमीर की आवाज़ और रंग-ढंग में ज़रा भी बनावट नहीं थी। "तुम सोते क्यों नहीं? अरे, मेरे बछड़े, तुम्हें तो हर बात की कुरेद लगी रहती है। जाओ, भागो बिस्तर पर!"

"अम्मां कहां है?" समद ने पूछा।

"अभी आती है। वह रही। तुम जाओ, बेटा।"

असेल भागती हुई आई, चुपचाप चौकन्नी नज़र से उसने जल्दी-जल्दी हमारी तरफ़ देखा, बाइतमीर को आयोडिन की शीशी दी और बेटे को सुलाने के लिये दूसरे कमरे में ले गयी।

बाइतमीर ने तौलिया भिगोकर मेरे चेहरे से ख़ून साफ़ किया।

"चिल्लाना नहीं!" खरोंच पर आयोडिन लगाते हुए उसने मज़ाक किया और फिर कड़ाई से कहा – "ऐसा काम करने के लिये तुम्हारी अच्छी ख़ातिर करनी चाहिये, पर ख़ैर, तुम हमारे मेहमान हो... लो, अब सब ठीक हो गया, जख़्म भर जायेगा। असेल, तुम हमें चाय दे दो।"

"अभी।"

बाइतमीर ने नमदे पर गद्दा बिछा दिया, तकिया रख दिया।

"यहां आ जाओ, थोड़ा आराम कर लो," वह बोला।

"कोई बात नहीं, शुक्रिया!" मैं बुदबुदाया।

"जाओ, वहां बैठो! यहां अपने को घर की तरह महसूस करो," बाइतमीर ने ज़ोर देकर कहा।

मैं तो जैसे सपने में ही सब कुछ कर रहा था। सीने में दिल को जैसे कोई दबोच रहा था। घबराहट और इन्तज़ार में मेरी नस-नस तनी हुई थी। ओह, किसलिये मेरी मां ने मुझे पैदा किया था इस दुनिया में!

असेल दूसरे कमरे से निकली और हमारी तरफ़ न देखने की कोशिश करते हुए समोवार लेकर बाहर चली गयी।

"मैं अभी तुम्हारी मदद को आता हूं," बाइतमीर ने पीछे से कहा। वह जाने ही वाला था कि समद फिर से भाग आया। वह तो सोना ही नहीं चाहता था।

"समद, तुम फिर आ गये?" बाइतमीर ने प्यार से सिर हिलाया।

"चाचा, तुम सीधे सिनेमा से निकलकर आये हो?" मेरे नज़दीक आकर बेटे ने संजीदगी से पूछा।

मैं समझ गया कि क्या क़िस्सा है। बाइतमीर ठठाकर हंस दिया।

"ओ, मेरे नन्हें शैतान!" बाइतमीर ने लड़के के क़रीब उकड़ू बैठते हुए हंसकर कहा। "हंसा ही दिया... हम खान मज़दूरों की बस्ती में सिनेमा देखने जाते है और यह भी हमारे साथ हो लेता है," उसने मुझसे कहा।

"हां, मैं सिनेमा से निकलकर आया हूं!" सभी की ख़ुशी को बनाये रखते हुए मैंने कहा।

मगर समद ने माथे पर बल डालकर कहा –

"यह झूठ है!"

"क्यों?"

"वह तलवार कहां है जिससे तुम लड़े थे"

"घर छोड़ आया..."

"तुम मुझे दिखाओगे? कल दिखाओगे?"

"दिखाऊंगा। इधर आओ तो। क्या नाम है तुम्हारा, समद न?"

"हां, समद। और तुम्हारा क्या नाम है, चाचा?"

"मेरा नाम..." मैं चुप हो गया। "मेरा नाम है इल्यास," मैंने मुश्किल से कहा।

"समद, तुम जाकर सो जाओ, काफ़ी देर हो चुकी है!" बाइतमीर ने बेटे से कहा।

"पापा, मैं थोड़ी देर और यहीं रह लूँ!" समद ने मिन्नत करते हुए इज़ाज़त मांगी।

"अच्छी बात है!" बाइतमीर राजी हो गया। "हम अभी चाय लाते हैं।"

समद मेरे क़रीब आ गया। मैंने उसका हाथ सहलाया – वह मुझसे मिलता-जुलता था, बेहद मिलता-जुलता था। हाथ भी मेरे जैसे थे, हंसता भी बिल्कुल मेरी तरह ही था।

"बड़े होकर क्या बनोगे?" बेटे के साथ बातचीत का सिलसिला शुरू करने के लिए मैंने पूछा।

"ड्राइवर बनूंगा।"

"मोटर पर सैर करना अच्छा लगता है?"

"बहुत, बहुत अच्छा लगता है... लेकिन जब मैं हाथ उठाता हैं, तो कोई भी मुझे अपनी मोटर में नहीं बिठाता ..."

"तो कल मैं तुम्हें सैर कराऊंगा। चाहते हो?"

"चाहता हूं। मैं तुम्हें अपने पासे दे दूंगा!" वह पासे लाने के लिए बग़ल वाले कमरे में भाग गया।

बाहर समोवार की पाइप से आग की लपटें निकल रही थीं। असेल और बाइतमीर कुछ बातचीत कर रहे थे।

समद जंगली भेड़ की खाल की थैली में पासे लाया।

"चुन लो, चाचा!" उसने अपनी रंग-बिरंगी दौलत मेरे सामने बिखेर दी। मैंने चाहा कि यादगार के लिए एक पासा उठा लूं, मगर हिम्मत नहीं हुई। दरवाज़ा चौपट खुला और बाइतमीर उबलता हुआ समोवार लिये अन्दर

आया। उसके पीछे-पीछे ही असेल भी आयी। वह चाय बनाने लगी। बाइतमीर ने नमदे पर छोटी-सी गोल मेज़ रखी और उस पर मेज़पोश बिछा दिया। मैंने समद के साथ मिलकर पासे बटोरे और उन्हें थैली में वापस डाल दिया।

"अपनी दौलत दिखा रहे थे। ओह, कैसे शेख़ीख़ोर हो तुम," बाइतमीर ने प्यार में समद का कान खींचा।

घड़ी भर बाद हम सभी समोवार के करीब बैठ गये। मैं और असेल ऐसे ज़ाहिर कर रहे थे जैसे कि कभी हमारी जान-पहचान ही न रही हो। हम अपनी घबराहट को छिपाना चाहते थे और शायद इसीलिए ज़्यादा चुप थे। समद बाइतमीर की गोद में उससे चिपककर बैठ गया था, सिर को इधर-उधर हिला-डुला रहा था।

"पापा, तुम्हारी मूंछें तो हमेशा चुभती रहती हैं!" समद ने कहा और खुद ही अपने गालों को मूंछों के साथ सटा दिया।

मैं बेटे को बेटा कहने की जुर्रत नहीं कर सकता था। सुन रहा था कि कैसे वह किसी दूसरे आदमी को अपना पापा कह रहा है। ऐसी हालत में मेरे लिए उसके क़रीब बैठना कुछ आसान नहीं था। इस बात से भी मेरे दिल पर कुछ कम भारी नहीं गुज़र रही थी कि असेल, मेरी प्यारी असेल, मेरे पास ही बैठी है और मैं उससे आंखें मिलाने का भी हक़ नहीं रखता। वह यहां कैसे आ गयी? उसे मुहब्बत हो गयी और उसने शादी कर ली? अगर वह यह ज़ाहिर तक नहीं कर रही थी कि मुझे जानती है, अगर मैं उसके लिए जैसे कि बिल्कुल अनजाना और अजनबी आदमी था, तो मैं उसके बारे में जान ही क्या सकता था? क्या सचमुच इतनी नफ़रत हो गयी थी इसे मुझसे? और बाइतमीर? क्या वह यह अन्दाज़ नहीं लगा पा रहा कि दर असल मैं कौन हूं? क्या इस बात की तरफ़ उसका ध्यान नहीं गया कि समद से मेरी शक्ल-सूरत कितनी मिलती है? उसे दर्रे में हुई वह मुलाक़ात भी क्यों याद नहीं आयी, जब मैंने उसकी गाड़ी को अपनी गाड़ी के पीछे बांधा था? या वह सचमुच भूल गया?

जब सोने के लिए लेटे, तो दिल और भी ज़्यादा परेशान हो उठा। नमदे पर ही मेरा बिस्तर लगा दिया गया था। मैं दीवार की तरफ़ मुंह किये लेटा था, लालटेन की बत्ती कुछ धीमी कर दी गयी थी। असेल बर्तन समेट रही थी।

"असेल!" पिछले कमरे के खुले दरवाज़े से बाइतमीर की धीमी आवाज़ सुनाई दी।

असेल उसके क़रीब गयी।

"तुम क़मीज़ धो डालती।"

असेल ने ख़ून से लथपथ मेरी चौख़ानी क़मीज़ उठाई और उसे धोने लगी। मगर फ़ौरन ही उसे छोड़कर बाइतमीर के पास गयी –

"रेडियेटर से पानी तो निकाल दिया?" उसने धीरे-से पूछा। "कहीं पाले से जम ही न जाये..."

"निकाल दिया, केमेल ने निकाल दिया!" बाइतमीर ने भी उसी तरह धीरे-से जवाब दिया। "गाड़ी तो क़रीब-क़रीब ठीक-ठाक ही है... सुबह मदद कर देंगे..."

मैं तो भूल ही गया था – रेडियेटर और इंजन का होश ही कहां था मुझे।

असेल ने क़मीज़ धो डाली और उसे चूल्हे के ऊपर टांगते हुए गहरी सांस ली। फिर वह लालटेन बुझाकर चली गयी।

अंधेरा हो गया। हममें से किसी की भी आंखों में नींद नहीं थी। हरेक अपने-अपने ख़्यालों में डूबा हुआ था। बाइतमीर बेटे के साथ एक ही पलंग पर लेटा हुआ था। वह प्यार से कुछ बुदबुदाता था, समद जब नींद में बेचैनी से इधर-उधर करवटें बदलता था, तो वह उसे ढंक देता था। असेल कभी-कभी दबी-घुटी सांस छोड़ती। मुझे लगा जैसे कि मैं अंधेरे में उसकी नमी से चमकती हुई आंखें देख रहा हूं। शायद उनमें आंसू छलछला रहे थे। वह क्या सोच रही थी, किसके बारे में सोच रही थी? उसके सामने अब हम तीन आदमी थे... शायद वह भी मेरी तरह ही हमारे साथ जुड़ी ख़ुशियों और ग़मों पर ग़ौर कर रही थी। मगर अब उसतक मेरी रसाई नहीं थी, उसके ख़्याल भी मेरी पहुंच के बाहर थे। इन सालों के दौरान असेल बदल गयी थी, उसकी नज़रें बदल गयी थीं... अब उसकी आंखें भरोसे, पाकीज़गी और भोलेपन से चमकनेवाली आंखें नहीं रही थीं। उनमें संजीदगी आ गयी थी। मगर मेरे लिए तो असेल वही, पहले जैसी ही थी, वही लाल रूमाल वाली स्तेपी की सरो। उसकी हर बात, हर अदा मुझे जानी-पहचानी और प्यारी महसूस होती थी। इसीलिए दिल पर और भी ज़्यादा भारी गुज़रती थी, ठेस लगती थी, छटपटाहट होती थीं। बेहद मायूसी की हालत में मैं तकिये के सिरे को दांतों तले दबाये पड़ा रहा और ऐसे आंखों में ही मैंने सारी रात काट दी।

आसमान में काली घटाएं छाई हुई थीं, चांद उनमें तैर रहा था, डूब-उतरा रहा था।

तड़के ही असेल और बाइतमीर घरेलू काम-काज निपटाने के लिए बाहर अहाते में गये। मैं भी उठा। चलना चाहिए था। दबे पांव मैं समद के पास गया, उसे चूमा और झटपट कमरे से बाहर चला गया।

असेल पत्थरों पर टिकाये हुए बड़े देग़ में पानी गर्म कर रही थी और बाइतमीर लकड़ियां चीर रहा था। हम दोनों गाड़ी की तरफ़ चल दिये। दोनों ख़ामोश थे, सिगरेट पी रहे थे।

पता चला कि रात को मेरी गाड़ी सड़क किनारे के खम्भों से जा टकरायी थी। उनमें से दो कंकरीट की नींवों समेत उलटे पड़े थे। गाड़ी की सामने वाली बत्ती टूट गयी थी, आगे का हिस्सा टेढ़ा और पहिया जाम हो गया था। लोहे की छड़ और हथौड़े से हमने जैसे-तैसे यह सब कुछ ठीक कर लिया। इसके बाद बहुत लम्बा और जानलेवा काम शुरू हुआ। इंजन जम गया था, चालू नहीं होता था। जलते सूत से हमने उसे गर्माया, दोनों ने मिलकर हेंडल घुमाया। हमारे कंधे आपस में छू रहे थे, हथेलियां एक ही हेंडल पर गर्म हो रही थीं, हम एक दूसरे के मुंह पर सांसें छोड़ रहे थे, एक ही काम कर रहे थे और शायद एक ही ख़्याल दोनों के दिमाग़ों में घूम रहा था।

इंजन क़ाबू में नहीं आ रहा था। हम बेदम होने लगे। इसी वक़्त असेल गर्म पानी की दो बालटियां ले आयी। उन्हें चुपचाप मेरे सामने रखकर वह एक तरफ़ को हट गयी। मैंने रेडियेटर में पानी डाला। बाइतमीर के साथ एक बार, फिर दूसरी बार हेंडल घुमाया और आख़िर इंजन चालू हो गया। मैं केबिन में जा बैठा। इंजन ढंग से नहीं, झटकों के साथ काम करता था। बाइतमीर हथौड़ी लेकर ढक्कन के नीचे इंजेक्टरों की जांच करने लगा। इसी बीच समद हांफता हुआ भागा आया। उसके कोट के बटन खुले हुए थे। वह गाड़ी के गिर्द दौड़ने लगा, सैर करना चाहता था मोटर पर। असेल ने बेटे को पकड़ लिया और ऐसे पकड़े-पकड़े ही केबिन के क़रीब आकर खड़ी हो गयी। उसने ऐसी धिक्कारती नज़र, ऐसे दर्द और तरस से मेरी तरफ़ देखा कि अपने क़ुसूर की माफ़ी मांगने, उन्हें अपने पास लौटाने के लिए मैं उस वक़्त कुछ भी करने को तैयार था। खुले हुए दरवाज़े में से मैंने उसकी तरफ झुककर कहा –

"असेल!" बेटे को लेकर गाड़ी में आ बैठो! तुम्हें सदा के लिए अपने साथ ले जाऊंगा! आ जाओ!" इंजन के शोर में मैंने उसकी मिन्नत की।

असेल ने कोई जवाब नहीं दिया, आंसुओं से भीगी आंखों को चुपचाप दूसरी तरफ़ कर लिया, सिर हिला दिया।

"आओ, चलें अम्मां!" समद ने उसका हाथ खींचते हुए कहा।

असेल मुड़कर देखे बिना, सिर झुकाये चली जा रही थी। मगर समद पीछे की तरफ़ लौटने की कोशिश कर रहा था, जाना नहीं चाहता था।

"सब कुछ ठीक-ठाक हो गया!" बाइतमीर ने इंजन का ढक्कन बन्द करते हुए चिल्लाकर कहा और केबिन में मुझे औज़ार पकड़ा दिये।

मैं चल दिया। फिर से हाथों में स्टीयरिंग ह्वील था, फिर से रास्ता और पहाड़ थे – गाड़ी मुझे लिये बढ़ी चली जा रही थी, उसे क्या परवाह थी किसी बात की ....

तो ऐसे दर्रे में असेल और बेटे से मेरी मुलाक़ात हुई और हम जुदा हो गये। चीन की तरफ़ जाते और लौटते वक़्त में रास्ते भर सोचता रहा, मगर कोई भी हल मुझे नहीं सूझा। लगातार सोच-सोचकर थक गया... अब तो बस, यहां से चल देना चाहिए, जिधर भी पांव ले जायें, उधर ही चल देना चाहिए। यहां अब मुझे नहीं रुकना चाहिए।

मैंने ऐसा पक्का इरादा बना लिया था। ऐसे ख़्याल लिये हुए वापस आया। सड़क की देख-भाल के दफ़्तर के पास से गुज़रते हुए मैंने समद को अपने से कुछ बड़े एक लड़के और लड़की के साथ एक तरफ़ को खेलते देखा। वे पत्थरों से मवेशियों का बाड़ा बना रहे थे। मुमकिन है कि पहले भी मैंने उन्हें सड़क के किनारे देखा हो... क़रीब-क़रीब हर दिन ही अपने बेटे के नज़दीक से गुज़रता था और कभी मुझे इसका गुमान तक नहीं हुआ था। मैंने गाड़ी रोकी।

"समद!" मैंने आवाज़ दी। उसे एक नज़र देख लेना चाहता था। बच्चे मेरी तरफ़ लपके।

"चाचा, तुम हमें मोटर में घुमाने आये हो?" समद भागकर मेरे पास आया।

"हां, थोड़ा-सा घुमाऊंगा!" मैंने जवाब दिया।

बच्चे हेल-मेल से केबिन में आ बैठे।

"यह हमारी जान-पहचान के चाचा हैं!" समद ने अपने दोस्तों के सामने डींग हांकी।

मैं उन्हें थोड़ी ही दूर तक ले गया, मगर इससे कितनी ख़ुशी, कितना सुख मिला मुझे – शायद बच्चों से ज़्यादा। इसके बाद उन्हें मोटर से उतार दिया।

"अब घर भाग जाओ!" बच्चे भाग चले। मैंने बेटे को रोका।

"रुको समद, तुमसे कुछ कहना है!" मैंने उसे हाथों में ले लिया, सिर के ऊपर उठाया, देर तक उसका मुंह देखता रहा, फिर छाती से लगाया, चूमा और नीचे खड़ा कर दिया।

"तलवार कहां है? तुम लाये हो, चाचा?" समद को याद हो आया।

"ओह, भूल गया, बेटा, अगली बार ले आऊंगा!" मैंने वादा किया।

"अब तो नहीं भूलोगे न, चाचा? हम उसी जगह खेलते होंगे।"

"अच्छी बात है, अब जल्दी से भाग जाओ!"

मोटरों के अड्डे के बढ़ईख़ाने में मैंने तीन खिलौना तलवारें बना लीं और उन्हें अपने साथ ले लिया।

बच्चे सचमुच ही मेरी राह देख रहे थे। मैंने फिर उन्हें मोटर में सैर कराई। इस तरह बेटे और उसके दोस्तों के साथ मेरी दोस्ती शुरू हुई। वे जल्दी ही मेरे साथ हिल-मिल गये। दूर से ही एक दूसरे के साथ होड़ करते हुए मेरी तरफ़ भागते –

"मोटर, हमारी मोटर आ रही है!"

मुझे तो जैसे नयी ज़िन्दगी मिल गयी, इनसान बन गया मैं। फेरे पर जाता तो दिल में जैसे कोई चमक-सी महसूस होती, एक अच्छा-सा एहसास लिये चलता। यह जानता था कि बेटा रास्ते में इन्तज़ार कर रहा है। बेशक दो मिनट ही सही, बेटे के क़रीब बैठने का मौक़ा मिलेगा। अब मुझे एक ही फ़िक्र रहती थी, सिर्फ़ एक ही ख़्याल में मेरी जान बसती थी कि वक़्त पर बेटे के पास पहुंच जाऊं। मैंने कुछ ऐसा सिलसिला बना लिया था कि दिन के वक़्त ही दर्रे में पहुंचूं। बहार के प्यारे-प्यारे दिन थे, बच्चे हमेशा ही सड़क पर खेलते रहते थे और अक्सर ही मेरी उनसे मुलाक़ात हो जाती थी। मुझे लगता था कि सिर्फ़ इसी के लिए मैं ज़िन्दा हूं और काम करता हूं – इस हद तक ख़ुशी होती थी मुझे। मगर कभी-कभी डर से दिल बैठने लगता था। मुमकिन है कि वहां सड़क की देखभाल के दफ़्तर में उन्हें यह मालूम था कि मैं बच्चों को मोटर में घुमाता हूं। मुमकिन है कि न भी मालूम हो। मगर बेटे को मुझसे मिलने-जुलने से मना किया जा सकता था, उसे सड़क पर जाने से रोका जा सकता था। इस ख़्याल से मुझे बहुत घबराहट होती थी, मैं दिल ही दिल असेल और बाइतमीर से ऐसा न करने, मुझसे इन छोटी-छोटी मुलाक़ातों की ख़ुशी न छीनने की मिन्नत करता था। मगर एक दिन ऐसा हो ही गया...

पहली मई नज़दीक आ रही थी। मैंने चाहा कि इस त्यौहार के मौक़े पर बेटे को कोई तोहफ़ा दूं। मैंने चाबी से चलनेवाली खिलौना ट्रक ख़रीदी। उस दिन मोटरों के अड्डे पर मुझे कुछ रुकना पड़ गया, देर से रवाना हुआ और बहुत तेज़ी कर रहा था। शायद इसीलिए मेरे दिल में कुछ बुरे-बुरे ख़्याल आ रहे थे, परेशान हो रहा था, किसी ख़ास वजह के बिना ही घबरा रहा था। सड़क की देख-भाल के दफ़्तर के क़रीब पहुंचने पर मैंने पैकेट बाहर निकालकर उसे अपने पास रख लिया और दिल ही दिल यह तस्वीर बनाने लगा कि समद को इससे कितनी ख़ुशी होगी। खिलौने तो उसके पास और भी अच्छे-अच्छे थे, मगर यह तो ख़ास तोहफ़ा था – जानपहचान के एक ड्राइवर का उस लड़के के लिए यह तोहफ़ा था, जो ड्राइवर बनने के सपने देखता था। मगर इस बार समद सड़क पर नहीं था। उसके दोनों दोस्त उसके बिना ही भागकर आये। मैं केबिन से निकला।

"समद कहां है?"

"घर पर, बीमार हो गया है," लड़के ने जवाब दिया।

"बीमार है?"

"नहीं, वह बीमार नहीं है!" लड़की ने ज़ोर देकर कहा। "उसकी मां ने उसे यहां नहीं आने दिया!"

"क्यों?"

"मालूम नहीं। कहती है कि ऐसा करना ठीक नहीं है।"

मेरा दिल बैठ गया – बस, क़िस्सा ख़त्म हो गया।

"लो, यह ले जाकर उसे दे दो," मैंने पैकेट लड़के को पकड़ाना चाहा, मगर उसी वक़्त अपना इरादा बदल लिया। "नहीं, रहने दो," मैंने उसे वापस ले लिया और उदासी से सिर झुकाये हुए गाड़ी की तरफ़ चल दिया।

"चाचा हमें मोटर में सैर क्यों नहीं कराते?" लड़के ने अपनी बहन से पूछा।

"वह बीमार है," लड़की ने नाक-भौंह सिकोड़कर जवाब दिया।

हां, लड़की ने सही अन्दाज़ लगाया था। किसी भी बीमारी से ज़्यादा दर्द हो रहा था मुझे। रास्ते भर यही सोचता रहा कि मेरे मामले में असेल का इस हद तक संगदिल हो जाना मुमकिन कैसे हुआ। मैं चाहे कितना ही बुरा सही, मगर उसके दिल में क्या ज़रा भी तरस बाक़ी नहीं रह गया? ऐसा नहीं

हो सकता... यह बात असेल के मिज़ाज से मेल नहीं खाती थी। कोई दूसरा ही माजरा है। मगर वह क्या है? मैं यह जान ही कैसे सकता था... मैंने ख़ुद को यह यक़ीन दिलाने की कोशिश की कि बेटा सचमुच ही कुछ बीमार हो गया है। आख़िर मैं उस लड़के पर क्यों एतबार न करूं? मैंने अपने को इतना ज़्यादा यक़ीन दिलाया कि दिल ही दिल में उसे बुख़ार और सरसाम में झटपटाते हुए देखने लगा... मुमकिन है कि उन्हें किसी तरह की मदद की ज़रूरत हो, कोई दवाई लानी हो या बेटे को अस्पताल ले जाना हो? आख़िर वे लोग तो दर्रे में रहते हैं, शहर में तो नहीं! ऐसे ही ख़्यालों से मैंने अपने को बुरी तरह थका डाला, बुरा हाल हो गया मेरा। जल्दी से जल्दी लौटना चाहता था, मगर यह नहीं सूझ रहा था कि मैं क्या करूं, क्या रास्ता निकालूं। सिर्फ़ इतना ही जानता था कि जल्दी, बहुत जल्दी बेटे से मिलना चाहिए... मुझे यक़ीन था कि उससे मेरी मुलाक़ात होगी, मेरा दिल इसकी गवाही दे रहा था। जैसे कि मेरा मुंह चिढ़ाने के लिये ही टंकी में पेट्रोल ख़त्म हो गया और मुझे दर्रे वाले अड्डे के पेट्रोल पम्प पर रुकना पड़ा...

मेरा हमराही इल्यास चुप हो गया। उसने तमतमाये चेहरे पर हाथ फेरते हुए गहरी सांस ली, खिड़की के शीशे को ऊपर तक उठा दिया और फिर से सिगरेट जला ली।

आधी से भी कहीं ज़्यादा रात बीत चुकी थी। हमारे सिवा शायद गाड़ी में सभी सो रहे थे। पहिये अपना खटाखट का राग अलापते जा रहे थे। खिड़की के बाहर उजाले में बदलती गर्मी की रात गुज़रती जा रही थी, छोटे-छोटे स्टेशनों की बत्तियों की झलक मिल रही थी। तेज़ी से भागा जाता इंजन ज़ोर से सीटी बजाता था।

"इसी वक़्त आप मेरे पास आये थे, बड़े भाई, और मैंने आपको अपनी ट्रक में बिठाने से इनकार कर दिया था। अब तो आप इसकी वजह समझ गये होंगे?" मेरे साथी के चेहरे पर सोचभरी मुस्कान दिखाई दी। "आप वहीं रह गये और बाद में 'पोबेदा' कार में मुझसे आगे निकल गये थे। यह मैंने देखा था... हां, बहुत बेचैनी महसूस करता हुआ जा रहा था मैं। मेरे दिल के एहसास ने मुझे धोखा नहीं दिया – समद सड़क के किनारे मेरा इन्तज़ार कर रहा था। मेरी गाड़ी देखते ही उसकी तरफ़ भागा आया।

"चाचा! चाचा ड्राइवर!"

तन्दुरुस्त है मेरा बेटा! ओह, कितनी खुशी हुई थी मुझे, कोई पारावार नहीं था उसका!

मैंने गाड़ी रोकी , छलांग मारकर केबिन से बाहर आया, बेटे की तरफ़ लपका।

"बीमार थे, क्या?"

"नहीं, अम्मां नहीं आने दे रही थीं। कहती थीं कि मैं तुम्हारी गाड़ी में न बैठूं। और मैं रोता रहा," समद ने शिकायत की।

"तो, अब तुम कैसे आये?"

"पापा बोले, अगर कोई आदमी बच्चों को मोटर में घुमाना चाहता है, तो शौक़ से घुमाये।"

"सच?"

"और मैंने कहा कि मैं ड्राइवर बनूंगा..."

"वह तो तुम बनोगे ही और सो भी खूब बढ़िया! जानते हो, मैं तुम्हारे लिए क्या लाया हूं?" मैंने खिलौना ट्रक निकाली। "देखो, चाबी वाली मोटर। वही जो तुम जैसे छोटे-छोटे ड्राइवरों के लायक़ है!"

समद मुस्करा दिया, खिल उठा।

"मैं हमेशा तुम्हारे साथ मोटर में जाऊंगा, है न चाचा?" उसकी आंखों में इल्तिजा थी।

"हां, हमेशा!" मैंने उसे यक़ीन दिलाया। "चाहो तो पहली मई के सिलसिले में मेरे साथ शहर चलो। हम मोटर को झंडियों से सजायेंगे और फिर मैं तुम्हें वापस ले आऊंगा।"

अब यह बताना मुश्किल है कि मैंने उस वक़्त ऐसा क्यों कहा था, इसका मुझे क्या हक़ था और सबसे बड़ी बात तो यह है कि अचानक खुद मैंने ही इस पर क्यों यक़ीन कर लिया था। इतना ही नहीं, मैं तो और भी आगे बढ़ गया।

"अगर पसन्द आ जाये, तो हमेशा के लिए मेरे पास ही रह जाना!" मैंने बहुत ही संजीदगी से बेटे के सामने यह सुझाव रखा। "हम केबिन में रहेंगे, मैं हर जगह तुम्हें अपने साथ ले जाऊंगा और हम कभी जुदा नहीं होंगे। चाहते हो?"

"चाहता हूं!" समद फ़ौरन राजी हो गया। "हम मोटर में रहेंगे! चलो, चाचा, अभी चलो!"

कभी-कभी बड़े भी बच्चे बन जाते हैं। हम केबिन में जा बैठे। मैंने कुछ झिझकते हुए मोटर चालू की। मगर समद खुशी से मुझे थपथपाता रहा, प्यार करता रहा, सीट पर उछलता रहा। मोटर चल दी। समद और भी ज़्यादा खुश हो उठा, हंसने लगा, मुझसे कुछ कहता, स्टीयरिंग ह्वील और पेनल के बटनों की तरफ़ इशारे करता। उसके साथ-साथ मैं भी रंग में आ गया। मगर जब संभला, तो बड़ी घबराहट महसूस हुई। यह मैं क्या कर रहा हूं? ब्रेक लगाया, मगर समद ने मुझे गाड़ी रोकने नहीं दी।

"तेज़ी से, तेज़ी से चलाओ, चाचा!" उसने इसरार किया। बच्चे की खुशीभरी आंखों को मैं मायूस कैसे करता? मैंने रफ़्तार बढ़ा दी। गाड़ी तेज़ की ही थी कि सामने ग्रेडर दिखाई दिया, जो सड़क को हमवार कर रहा था। ग्रेडर मुड़ा, हमारी तरफ़ बढ़ा और उसके पीछे, सड़क के सिरे पर बाइतमीर खड़ा था। वह बेलचे से तारकोल मिली बजरी मोड़ पर डाल रहा था। मैं समझ नहीं पा रहा था कि क्या करूं। गाड़ी रोकना चाहता था, मगर देर हो चुकी थी – लड़के को बहुत दूर ले आया था। मैं नीचे झुक गया और खूब रफ़्तार बढ़ा दी। बाइतमीर का हमारी तरफ़ ध्यान नहीं गया। वह काम में बिल्कुल डूबा हुआ था – मोटरें तो वहां आती-जाती ही रहती थीं। मगर समद ने उसे देख लिया –

"वे रहे पापा! चाचा, चलिये, पापा को भी साथ ले लें? रोको गाड़ी, मैं पापा को बुला लाता हूं!"

मैं चुप रहा। गाड़ी रोकना अब मुमकिन नहीं था, क्या कहूंगा मैं? समद ने अचानक पीछे देखा, डर गया, चिल्ला उठा, रोने लगा –

"मैं पापा के पास जाना चाहता हूं! रोको मोटर, मैं पापा के पास जाना चाहता हूं! रोको, नहीं जाना चाहता मैं! अम्मां-आ!"

मैंने मोड़ के पीछे जाकर ब्रेक लगाया। बेटे को तसल्ली देने लगा –

"रोओ नहीं, समद, नहीं रोओ! मैं अभी तुम्हें वापस छोड़ आता हूं। बस, तुम रोओ नहीं!"

मगर डरा हुआ लड़का कुछ भी तो सुनने को तैयार नहीं था।

"नहीं, नहीं चाहता! मैं पापा के पास जाना चाहता हूं! खोलो!" वह दरवाज़े को पीटने लगा। "खोलो, मैं पापा के पास जाऊंगा। खोलो!"

बड़ा ही अटपटा मामला हो गया था।

"तुम रोओ नहीं!" मैंने उसकी मिन्नत की। "अभी खोल देता हूं दरवाज़ा,

सिर्फ़ तुम रोना बन्द कर दो! मैं खुद तुम्हें पापा के पास पहुंचा आता हूं। लो, आओ बाहर, हम चलते हैं!''

समद नीचे कूदा और रोता हुआ पीछे की तरफ़ भाग चला। मैंने उसे पकड़ लिया –

''रुको! आंसू पोंछ लो! रोओ नहीं। मैं तुम्हारी मिन्नत करता हूं, मेरे प्यारे बेटे, रोओ नहीं! और यह अपनी मोटर, इसे भी भूल गये क्या? देखो तो उसे!'' मैंने खिलौना उठाया, कांपते हाथों से उसे चाबी दी। ''देखना तो, यह कैसे भागकर तुम्हारे पास आयेगी, पकड़ना इसे!'' मोटर सड़क पर भागी, पत्थर से टकराई, उलटी और कलाबाज़ियां खाती हुई गढ़े में जा गिरी।

''नहीं चाहिए मुझे मोटर!'' समद पहले से ज़्यादा ज़ोर के साथ रो पड़ा और मुड़कर देखे बिना भाग चला।

मुझे अपने गले में फांस-सी महसूस हुई। मैं बेटे के पीछे भागा –

''रुको, तुम रोओ नहीं, समद! रुको, मैं तुम्हारा... मैं तुम्हारा... जानते हो कि मैं तुम्हारा!'' मगर जबान से लफ़्ज़ निकले नहीं।

समद मुड़कर देखे बिना भागता गया, मोड़ के पीछे ग़ायब हो गया। मैं चट्टान तक भागा, बेटे को देखता हुआ रुक गया।

मैंने देखा कि समद सड़क पर काम करते हुए बाइतमीर के पास पहुंचकर उससे जा लिपटा। बाइतमीर झुक गया, उसने उसे बांहों में भर लिया, अपने साथ चिपका लिया। लड़के ने भी सहमी-सहमी नज़रों से मेरी तरफ़ देखते हुए बाइतमीर के गले में बाँहें डाल दीं।

इसके बाद बाइतमीर ने समद का हाथ थामा, बेलचे को कंधे पर रखा और वे दोनों – छोटा और बड़ा आदमी – सड़क पर चल दिये।

मैं देर तक चट्टान से टेक लगाये खड़ा रहा, फिर वापस हो लिया। मैं खिलौना मोटर के पास रुका। वह पहिये ऊपर को उठाये गढ़े में पड़ी थी। मेरे मुंह पर आंसू बह आये। ''बस, क़िस्सा ख़त्म!'' मैंने मोटर पर हाथ फेरते हुए उससे कहा। मुझे इंजन से गर्मी मिली। अब तो अपनी मोटर भी, जो बेटे के साथ मेरी आख़िरी मुलाक़ात की गवाह थी, मुझे बेहद प्यारी हो गयी थी...

इल्यास उठकर डिब्बे से बाहर चल दिया।

''ज़रा ताजा हवा में सांस ले लूं,'' उसने दरवाज़ा लांघते हुए कहा।

मैं अकेला रह गया। पौ फटने के पहले का आकाश सफ़ेद पट्टी की तरह खिड़की के बाहर तेज़ी से गुज़रता जा रहा था। तार के खम्भों की धुंधली-धुंधली झलक मिलती थी। बत्ती बुझाई जा सकती थी।

मैं लेटा हुआ यह सोच रहा था कि इल्यास को वह बताऊं या न बताऊं, जो मुझे मालूम था और जो वह नहीं जानता था? मगर वह अपनी सीट पर लौटा नहीं। सो मैंने उसे कुछ भी नहीं बताया।

सड़क के मिस्तरी बाइतमीर से मुझे तब मिलने का मौक़ा मिला, जब इल्यास यह जान चुका था कि असेल और उसका बेटा दर्रे में रहते हैं।

पामीर में क़िर्ग़ीज़िया के सड़क बनाने वालों का प्रतिनिधिमंडल जानेवाला था। इसी सिलसिले में ताजिकिस्तान के जनतन्त्रीय समाचारपत्र ने मुझसे क़िर्ग़ीज़िया के पहाड़ी रास्तों पर काम करने वालों के बारे में एक शब्द-चित्र लिखने का अनुरोध किया।

सड़क के एक सर्वश्रेष्ठ मिस्तरी के नाते बाइतमीर कूलोव को भी इस प्रतिनिधिमंडल में जाना था।

बाइतमीर से परिचित होने के लिए मैं दोलोन गया।

हमारी भेंट बिल्कुल अचानक ही हुई और शुरू में तो यह मेरे लिए बहुत अच्छी भी रही। दर्रे में ही किसी जगह लाल झंडी वाले एक मज़दूर ने हमारी बस रोकी। पता चला कि इसी वक़्त चट्टान टूटकर गिरी थी और अब मज़दूर लोग रास्ता साफ़ कर रहे थे। मैं बस से निकलकर उधर चल दिया, जहां चट्टान गिरी थी। उस जगह पर मज़बूत तख़्ताबन्दी कर दी गयी थी। बुलडोज़र ढाल के नीचे मिट्टी गिरा रहा था। जहां बुलडोज़र के लिए काफ़ी जगह नहीं थी, वहां मज़दूर मुंगरे और बेलचे लिये काम में जुटे थे। तिरपाल की बरसाती और किरमिच के बूट पहने एक व्यक्ति बुलडोज़र के साथ-साथ चलता हुआ ट्रैक्टर ड्राइवर को आदेश दे रहा था –

''बायें मोड़ो! फिर यहीं से ले जाओ! तख़्ताबन्दी के ऊपर चढ़ाओ! इस तरह! रोको! पीछे की तरफ़!''

सड़क क़रीब-क़रीब ठीक हो चुकी थी, रास्ता साफ़ हो गया था। दोनों

तरफ़ से ड्राइवर ज़ोर-ज़ोर से हार्न बजा रहे थे, भला-बुरा कहते हुए रास्ता खोलने की मांग कर रहे थे। मगर बरसाती पहने हुए व्यक्ति किसी की तरफ़ भी ध्यान दिये बिना इतमीनान से हुक्म देता जा रहा था। वह बलडोज़र को रास्ते पर बार-बार इधर-उधर आने-जाने और तख़्ताबन्दी में मिटी दबाने के लिए मजबूर कर रहा था। "शायद यही बाइतमीर है, अपने काम का उस्ताद! मैंने तय किया। मेरा अनुमान सही निकला, यही बाइतमीर कूलोव था। आख़िर रास्ता खोल दिया गया, मोटरें गुज़र गयीं।

"अजी, बस तो चली भी गयी?" बाइतमीर ने मुझसे कहा।

"मैं आपके पास आया हूं!"

बाइतमीर ने किसी तरह की हैरानी ज़ाहिर नहीं की। सहजता और संजीदगी से हाथ मिलाते हुए बोला –

"मेहमान सिर-आंखों पर।"

"मुझे आपसे कुछ काम है, बाके," छोटे नाम से उसे सम्बोधित करते हुए मैंने कहा। "आपको मालूम ही होगा कि हमारे कुछ सड़क बनानेवालों को ताजिकिस्तान जाना है?"

"हां, सुना तो है।"

"तो आपके पामीर जाने से पहले मैं आपसे कुछ बातचीत करना चाहता हूं।"

जैसे-जैसे मैं अपने आने का उद्देश्य स्पष्ट करता गया वैसे-वैसे बाइतमीर सोच में डूबता और अपनी भूरी, सख़्त मूंछों पर हाथ फेरते हुए अधिकाधिक उदास होता गया।

"यह तो अच्छी बात है कि आप आये हैं," वह बोला, "मगर पामीर मैं नहीं जाऊंगा और मेरे बारे में लिखने में भी कोई तुक नहीं है।"

"मगर क्यों? काम-काज की वजह से? या घर पर कोई बात है?"

"काम-काज तो ख़ास क्या हो सकता है – सड़क की देख-भाल ही है। आप ख़ुद ही देख रहे हैं। और घर पर?" वह सिगरेट निकालते हुए चुप हो गया। "घर पर... ज़ाहिर है कि घर पर भी सभी लोगों की तरह काम है, परिवार है... ख़ैर, पामीर मैं नहीं जाऊंगा।"

मैं उसे यह स्पष्ट करने, यह विश्वास दिलाने लगा कि उसके जैसे मिस्तरी का प्रतिनिधिमंडल में शामिल होना कितना महत्त्वपूर्ण है। बाइतमीर मुख्यतः

तो शिष्टतावश मेरी बात सुनता रहा, पर उसे राज़ी करने में मुझे सफलता नहीं मिली।

मुझे बड़ी झल्लाहट हो रही थी, सबसे अधिक तो अपने पर। मेरी व्यावसायिक सूझ-बूझ ने मेरा साथ नहीं दिया था, ग़लत ढंग से मैंने इस आदमी से बातचीत शुरू की थी। सम्पादकमण्डल द्वारा सौंपा गया कार्यभार पूरा किये बिना ही अब मुझे ख़ाली हाथ यहां से लौटना पड़ रहा था।

"तो माफ़ कीजिये बाके, मैं चलूंगा। अभी उधर जानेवाली कोई मोटर आ जायेगी..."

बाइतमीर ने शान्त, समझ-बूझवाली आंखों से बहुत ध्यानपूर्वक मेरी तरफ़ देखा, मूंछों में मुस्कराया –

"शहरी क़िर्ग़ीज़ अपने तौर-तरीक़े भूल जाते हैं। मेरा घर-बार है, दस्तरख़ान है और रात बिताने की जगह भी है। जब मेरे पास आये हैं, तो कल सुबह घर से ही जायेंगे, रास्ते से नहीं। चलिये, मैं आपको बीवी और बेटे के पास छोड़ आता हूँ। बुरा नहीं मानियेगा, मुझे तो रात होने से पहले अभी यहां चक्कर लगाना होगा। मैं जल्दी लौट आऊंगा। काम ही ऐसा ठहरा..."

"सुनिये तो बाके," मैं बोला। "मैं भी आपके साथ चक्कर लगाने चलूंगा।"

बाइतमीर ने मेरे शहरी सूट पर नज़र डालते हुए शरारती ढंग से आंखें सिकोड़ीं।

"कुछ अच्छा नहीं लगेगा आपको मेरे साथ भटकते फिरना। रास्ते मुश्किल हैं और दूरी काफ़ी है।"

"कोई बात नहीं!"

तो हम चल दिये। हर पुल, मोड़, खाई और खड़ी चट्टान के पास रुके। ज़ाहिर है कि हमारे बीच बातचीत होने लगी। यह चीज़ अब तक मेरे लिये पहेली बनी हुई है कि कहां से बातचीत शुरू हुई, कैसे मैंने बाइतमीर का विश्वास, उसकी निकटता प्राप्त कर ली। उसने मुझे अपनी और अपने परिवार की सारी कहानी सुनायी।

सड़क के मिस्तरी की दास्तान

आप यह जानना चाहते हैं कि मैं पामीर क्यों नहीं जाना चाहता। मैं ख़ुद पामीरी किर्ग़ीज़ हूं और यहां, त्यान-शान में रहता हूं। मैं लड़का ही था कि पामीर के रास्ते की तामीर में हिस्सा लेने वहां पहुंचा था। नौजवानों की कम्युनिस्ट लीग की अपील पर मैंने ऐसा किया था। हम, ख़ास तौर पर नौजवान लोग, तो बहुत जोश से, ख़ूब मन लगाकर काम करते थे। ऐसा तो क़ुदरती था, बहुत ऊंचे, पहुंच के बाहर पामीर पर सड़क बनाई जा रही थी! तूफ़ानी काम करनेवालों में मेरी गिनती होने लगी, मुझे बोनस और इनाम मिले। यह तो ख़ैर, मैंने ऐसे ही जिक्र कर दिया।

वहीं, सड़क बनाते हुए ही एक लड़की से मेरी मुलाक़ात हुई। उससे मुझे प्यार हो गया, बेहद प्यार हो गया। वह ख़ूबसूरत भी थी और समझदार भी। गांव से वहां आई थी। किर्ग़ीज़ लड़की के लिये उन दिनों ऐसा करना कोई मामूली बात नहीं थी। लड़कियों के लिये तो अब भी ऐसी जुर्रत करना कुछ आसान नहीं है, आप तो जानते ही हैं कि रस्म-रिवाज आज भी रास्ते में रोड़े अटकाते हैं। कोई सालेक गुज़र गया। सड़क क़रीब-करीब बन चुकी थी। अब सड़क की देख-भाल करनेवाले लोगों की ज़रूरत थी। सड़क बना लेना तो आधा काम होता है, उसे मिल-जुलकर पूरा किया जा सकता है। मगर बाद में बढ़िया ढंग से उसकी देख-रेख ज़रूरी होती है। हमारे यहां हसनोव नाम का एक जवान इंजीनियर था। वह अब भी सड़कें बनाता है, बहुत अच्छा इंजीनियर है। हमारे बीच गहरी छनती थी। हुसैनोव ने ही मुझे कोर्सों में दाखिल होने की सलाह दी। मुझे लगा कि गुलबारा मेरा इन्तज़ार नहीं कर सकेगी, घर वाले उसे गांव ले जायेंगे। मगर नहीं, उसने मेरा इन्तज़ार किया। हमने शादी कर ली और सड़क के एक हिस्से की देख-भाल के लिये वहीं रहने लगे। हम हेल-मेल और प्यार-मुहब्बत से रहते थे। यह तो कहना ही होगा कि सड़क के मिस्तरियों के लिये, जो पहाड़ों और दर्रों में रहते है, कसा हुआ परिवार, ख़ासकर प्यार करनेवाली बीवी बहुत माने रखती है। बाद में मुझे खुद इसका तजरबा हुआ। अगर ज़िन्दगी भर के लिये मुझे अपने काम से प्यार हो गया, तो इसमें मेरी बीवी का भी काफ़ी हाथ था। हमारे एक, फिर दूसरी बेटी हुई और उन्हीं दिनों जंग छिड़ गयी।

पामीर की सड़क मूसलधार बारिश के वक़्त की नदी जैसी हो गयी। लोगों

की नदी नीचे बहती जा रही थी – वे फ़ौज में भर्ती होने जा रहे थे।

मेरी भी बारी आ गयी। सुबह हम सभी घर से रवाना हुए। छोटी बेटी को मैंने गोद में उठा रखा था और बड़ी मेरे साथ चिपकी हुई चल रही थी। गुलबारा, मेरी बेचारी गुलबारा! उसने अपना दिल मज़बूत करने, अपनी बेचैनी छिपाने की कोशिश की। वह मेरा थैला उठाये हुए थी। मगर मैं तो जानता था कि वीरान पहाड़ों में, दो छोटी-छोटी बेटियों के साथ सड़क की देख-भाल के दफ़्तर में उसके रहने का क्या मतलब है। मैंने तो उन्हें अपने रिश्तेदारों के पास गांव भेजना चाहा, मगर गुलबारा राज़ी नहीं हुई। बोली – "जैसे-तैसे वक़्त काट लेंगे, तुम्हारी राह देखेंगे और सड़क को भी देख-भाल के बिना छोड़ना ठीक नहीं होगा..." आख़िरी बार हम सड़क के किनारे खड़े हुए, मैंने बीवी और बेटियों को नज़र भरकर देखा, उनसे जुदा हुआ। मैं और गुलबारा तब बिल्कुल जवान थे, हमने ज़िन्दगी शुरू ही की थी...

मुझे सफ़रमैना बटालियन में भेज दिया गया। जंग के इलाक़ों में हमने कितने रास्ते, उतारे और पुल बनाये। कोई गिनती ही नहीं! दोन, विसला और दुनाई नदियों से होकर गुज़रे। कभी-कभी बर्फ़ीले पानी में खड़े रहना पड़ता, धुएं और आग की लपटों में अपने को जलते-से महसूस करते, इर्द-गिर्द गोलों की धांय-धाय होती, पुल टूटकर गिरते , लोग मरते, ताक़त जवाब देती लगती और दिल यह कहता कि जल्दी, जितनी जल्दी हो सके, हमारा भी काम तमाम हो जाये! मगर जैसे ही बीवी-बच्चों की याद आती, यह ख़्याल आता कि वे पहाड़ों में मेरा इन्तज़ार कर रहे हैं, वैसे ही न जाने कहां से बेहद ताक़त आ जाती। नहीं, मैं यहां पुल के नीचे मरने के लिए पामीर से नहीं आया हूं। उतारे के अलग होते तख़्तों पर दांतों से तार लपेटता था और हिम्मत नहीं हारता था... मरा भी नहीं, क़रीब-क़रीब बर्लिन तक जा पहुंचा।

बीवी मुझे अक्सर ख़त लिखती। यह भी अच्छी बात थी कि डाक हमारी सड़क पर से गुज़रती थी। सब कुछ तफ़सील से लिखती थी, सड़क के बारे में भी। मेरी जगह वह मिस्तरी का काम करती थी। मैं यह अच्छी तरह समझता था कि उसे कितनी तकलीफ़ हो रही होगी। आख़िर सड़क तो किसी दूसरी जगह नहीं, पामीर के पहाड़ों पर थी।

सन पैंतालीस की बहार में अचानक ख़त आने बन्द हो गये। मोर्चे पर तो सभी तरह की बातें हो जाती हैं – बस, इस तरह अपने को दिलासा देता

रहा। एक दिन मुझे पलटन के हेडक्वार्टर में बुलाया गया। मुझसे कहा गया कि तुमने मोर्चे पर ख़ूब अच्छी ख़िदमत की है, सार्जेंट। ये रहे आभार पत्र और इनाम। अब तुम घर लौट जाओ, वहां तुम्हारी ज़्यादा ज़रूरत है। ज़ाहिर है कि मुझे बहुत ख़ुशी हुई। घर तार तक भी भेज दिया। ख़ुशी में इस बात की तरफ़ ध्यान ही नहीं गया कि मुझे वक़्त से पहले घर जाने की इजाज़त क्यों दे दी गयी है ...

अपने इलाक़े में पहुंचकर मैं फ़ौजी कमेटी के दफ़्तर में भी नहीं गया, सोचा, बाद में चला जाऊंगा वहां, कहीं भागा थोड़े ही जाता हूं। अब तो घर, जल्दी से घर चलना चाहिए! पामीर की तरफ़ जानेवाली ट्रक मिल गयी और मैं उसमें सवार हो गया।

काश कि मुझे पंख मिल जाते! मैं मोर्चे की गाड़ियों पर आने-जाने का आदी हो चुका था। मैंने चिल्लाकर ड्राइवर से कहा –

"इसे तेज़ कर दो भाई, कुछ फ़िक्र नहीं करो अपनी इस खड़खड़ी की! मैं घर लौट रहा हूँ!"

तो मैं अपनी मंजिल के क़रीब पहुंच गया था। मोड़ मुड़ते ही मेरा घर था। सब्र नहीं हुआ। चलती गाड़ी से ही कूद गया, थैला कंधे पर लटकाकर भाग चला। भागता गया, भागता गया, मोड़ लांघ गया और... कुछ भी तो पहचान नहीं पाया। वैसे तो मानो हर चीज़ अपनी जगह पर थी – पहाड़ भी जहां के तहां थे, सड़क भी वही थी, मगर घर नहीं था। इर्द-गिर्द न आदम, न आदमज़ाद। सिर्फ़ पत्थरों का ढेर लगा हुआ था। हमारा अहाता पहाड़ के बिल्कुल पास, क़रीब-क़रीब सिरे पर था। जगह तंग-सी थी। जैसे ही पहाड़ पर नज़र डाली कि दिल धक से रह गया। बर्फ़ीली चट्टान ढाल से टूटकर नीचे बह आयी थी। अपने रास्ते में आनेवाली हर चीज़ का उसने सफ़ाया कर डाला था, कुछ भी तो बाक़ी नहीं छोड़ा था। उसने तो जैसे नाख़ूनी पंजे से ढाल की ज़मीन को खरोंच डाला था और नीचे घाटी में बहुत बड़ा गड्ढा बना दिया था। बीवी ने आख़िरी ख़त में लिखा था कि बर्फ़ बहुत ज़्यादा पड़ी थी और अचानक बारिश शुरू हो गयी थी। बर्फ़ीली चट्टान को पहले से ही तोड़कर बहा देना चाहिए था, मगर यह औरत के करने लायक़ काम थोड़े ही था...

तो हो गयी बीवी-बच्चों से मुलाक़ात! हजारों बार मौत का सामना किया, जहन्नुम से ज़िन्दा लौट आया और वे तो जैसे कभी यहां थे ही नहीं ... जहां का तहां खड़ा था, पांव कील गये थे। जी चाहता था कि ऐसे चीख़ू-चिल्लाऊं कि पहाड़ कांप उठे, मगर ऐसा कर नहीं पाता था। मैं तो जैसे पथरा गया था, मर चुका था। इतना ही महसूस कर रहा था कि थैला कंधे से खिसकता जा रहा है, पांवों के क़रीब गिर रहा है। मैंने उसे वहीं फेंक दिया। बीवी और बच्चियों के लिए तोहफ़े लाया था, रास्ते में छोटी-मोटी चीज़ें देकर बेटियों के लिए मिठाइयां ली थीं ... देर तक वहां खड़ा रहा जैसे कि मुझे कोई करिश्मा हो जाने की उम्मीद हो। फिर घूमा और वापस चल दिया। एक बार रुककर पीछे नज़र डाली – पहाड़ दायें-बायें डोलते, हिलते और मुझ पर गिरते से लगे। मैं चिल्लाया और भाग चला! दूर! दूर भाग चलो इस मनहूस जगह से! तब मैं फूट-फूटकर रो पड़ा...

मुझे याद नहीं कि मैं कैसे और किधर चलता गया, मगर तीसरे दिन रेलवे स्टेशन पर जा पहुंचा। खोया-खोया-सा लोगों के बीच घूम रहा था। किसी फ़ौजी अफ़सर ने नाम लेकर मुझे पुकारा। देखा – हुसैनोव है, फ़ौजी ख़िदमत ख़त्म करके घर लौट रहा था। मैंने उसे अपनी दर्द-कहानी सुनाई। वह बोला– "तो अब तुम किधर का रुख़ किये हो?" मैं ख़ुद नहीं जानता! "नहीं, ऐसे काम नहीं चलेगा, हिम्मत से काम लो। तुम्हें इस तरह अकेले नहीं भटकने दूंगा। मेरे साथ चलो, त्यान-शान पर सड़क बनायेंगे और बाद की बाद में देखी जायेगी..."

इस तरह मैं यहां आ पहुंचा। शुरू के सालों में तो रास्ते पर पुल बनाये। वक़्त गुज़रता जा रहा था, कहीं न कहीं पक्का डेरा लगाना चाहिए था। हुसैनोव उन दिनों मिनिस्ट्री में काम करने लगा था। वह अक्सर मेरे पास आता, यह सलाह देता कि मैं पहले की तरह सड़क का कोई टुकड़ा संभाल लूं, मिस्तरी का काम करूं। मैं इरादा नहीं बना सका। दिल डरता था। जहां सड़क बन रही थी, वहां तो मैं अकेला नहीं था, आस-पास लोग थे, जी हल्का रहता था। वहां, कौन जाने, उदासी ले डूबे। मैं ख़ुद को संभाल नहीं पा रहा था, पुरानी यादें ज्यों की त्यों बनी थीं। ज़िन्दगी तो जैसे ख़त्म हो चुकी थी और आगे कुछ भी नहीं था। शादी करने का तो ख़्याल ही नहीं आता था। अपनी गुलबारा और बच्चियों को बहुत ही प्यार करता था मैं। ऐसे लगता था कि कभी और कोई भी उनकी जगह नहीं ले सकेगा। यों ही शादी करने में क्या तुक है! अकेले रहना कहीं बेहतर था।

फिर भी मैंने सड़क का मिस्तरी बनने का फ़ैसला कर लिया। सोचा, काम करके देख लेता हूं, बात नहीं बनेगी, तो किसी दूसरी जगह चला जाऊंगा। यहां दर्रे में ही सड़क के एक हिस्से की देख-भाल का काम मुझे सौंपा गया। आहिस्ते-आहिस्ते यहां मेरा दिल लग गया, आदी हो गया। शायद इसलिए कि यहां ख़ासी दौड़-धूप रहती है – दर्रा जो ठहरा। मेरे लिए तो यह बेहतर ही था। धीरे-धीरे दिल का दर्द भी कम होता गया, उसकी धार कुन्द होती गयी। कभी-कभी सिर्फ़ यह सपना आता कि जहां हमारा अहाता था, उसके सामने मैं बुत बना खड़ा हूं और महसूस कर रहा हूं कि थैला कंधे से खिसकता जा रहा है... ऐसे दिनों मैं सुबह से ही सड़क पर चला जाता और काफ़ी रात गये तक घर न लौटता। इस तरह मैं अकेला रहता गया। यह सच है कि दिल की गहराई में कहीं यह उदासी भरा ख़्याल हिलता-डुलता महसूस होता – "शायद फिर कभी ज़िन्दगी में ख़ुशी आये!"

और वह ख़ुशी मुश्किल और परेशानी बनकर तब आयी, जब मुझे उसकी बहुत ही कम उम्मीद थी।

कोई चार साल पहले, मेरे पड़ोसी की मां बीमार हो गयी। ख़ुद उसके लिए तो घर से जाना मुश्किल था – काम-काज, घर-बार, बच्चे। उधर बुढ़िया की हालत दिन-ब-दिन खराब होती जा रही थी। चुनांचे मैंने उसे ले जाकर डाक्टरों को दिखाने का फ़ैसला किया। बड़े दफ़्तर से एक मोटर हमारे यहां कुछ लेकर आयी थी। उसी पर हम शहर चल दिये। डाक्टरों ने बुढ़िया को अस्पताल में दाखिल करना चाहा, मगर वह उनकी सुने, तो न! बोली – "मरूंगी घर पर, यहां नहीं रहना चाहती। मुझे वापस ले चलो, नहीं तो बददुआएं दूंगी।" तो वापस ले चलना पड़ा। काफ़ी देर हो गयी थी। दर्रे वाला अड्डा लांघ चुके थे। अचानक ड्राइवर ने मोटर रोकी। उसने किसी से पूछा –

"कहां जाना है आपको?"

किसी औरत ने कुछ जवाब दिया, पैरों की आहट मिली।

"बैठ जाइये!" ड्राइवर ने कहा और मोटर को उसके क़रीब ले गया।

छोटी-सी पोटली और बच्चा हाथों में उठाये एक जवान औरत मोटर के क़रीब आयी। मैंने उसे ऊपर चढ़ाने में मदद दी, केबिन के क़रीब वाली जगह दे दी ताकि हवा कम परेशान करे और ख़ुद कोने में जा बैठा।

मोटर चल पड़ी। कड़ाके की ठण्ड थी। बेहद ठंडी, नम हवा चल रही

थी। बच्चा रोने लगा। औरत ने उसे हाथों में झुलाया, लोरी दी, मगर वह तो चुप होने को तैयार ही नहीं था। बड़ी मुश्किल का सामना था! औरत को केबिन में बिठा दिया जाता, तो अच्छा रहता, मगर वहां बुढ़िया जैसे-तैसे सांस ले रही थी। तब मैंने उसका कंधा छूकर कहा –

"लाइये, इसे मुझे दीजिये, शायद चुप हो जाये। ख़ुद थोड़ा नीचे को हो जाइये, कम हवा लगेगी।"

मैंने बच्चे को अपने फ़र कोट के नीचे छिपा लिया, अपने साथ चिपका लिया। वह चुप हो गया, नाक सूं-सूं बजने लगी। बड़ा ही प्यारा था, कोई दसेक महीने का। मैंने उसे बायें पहलू में उठा रखा था। मालूम नहीं क्यों, मगर अचानक मेरा दिल धड़क उठा, जख़्मी परिन्दे की तरह फड़फड़ाने लगा। दुःख भी हुआ मुझे, ख़ुशी भी। "ओह, क्या कभी मुझे बाप बनना नसीब नहीं होगा?" मैंने सोचा। बच्चा; आराम से मेरे साथ दुबका हुआ था, उसे किसी बात से क्या मतलब।

"लड़का है?" मैंने पूछा।

औरत ने सिर हिलाकर हामी भरी। मैंने देखा कि बेचारी पतला-सा कोट पहने है, बिल्कुल ठिठुर गयी है। मैं तो जाड़े में भी फ़र कोट के ऊपर बरसाती पहने रहता हूं। हमारे धंधे में इसके बिना काम ही नहीं चलता। बच्चे को संभाले हुए मैंने ख़ाली हाथ उसकी तरफ़ बढ़ाकर कहा –

"मुझपर से बरसाती उतार लीजिये। ऐसे तो आपको ठंड लग सकती है।"

"नहीं, नहीं आप कोई फ़िक्र नहीं करें," उसने इनकार कर दिया।

"उतार लीजिये, उतार लीजिये!" मैंने मजबूर किया। "अपने को हवा से बचाइये।"

उसने बरसाती को अपने इर्द-गिर्द लपेट लिया। मैंने बरसाती के सिरों को उसके पैरों तले दबा दिया।

"कुछ गर्मी आई?"

"हां।"

"आप इतनी रात को क्यों जा रही हैं?"

"बस, ऐसे जाना ही पड़ा," उसने धीरे-से जवाब दिया।

इस वक़्त मोटर घाटी में से जा रही थी। यहां खान-मजदूरों की बस्ती थी। सब सो रहे थे, खिड़कियां अंधेरे में डूबी हुई थीं। भौंकते हुए कुत्ते गाड़ी

के पीछे भागते थे। यहां अचानक मेरे दिमाग़ में यह सवाल पैदा हुआ कि यह जा कहां रही है? मेरा तो यही ख़्याल था कि वह खान-मज़दूरों की बस्ती में जा रही है। आगे तो जा ही कहां सकती थी? आगे दर्रा था, हमारा दफ़्तर था।

आप शायद पहुंच गई?'' मैंने उससे कहा और केबिन को खटखटाया। ''दर्रा भी क़रीब ही है और उससे आगे मोटर नहीं जायेगी।''

''यह कौनसी जगह है?'' उसने पूछा।

''खान-मज़दूरों की बस्ती। आपको क्या यहीं नहीं आना था?''

''मुझे... मुझे यहीं आना था,'' उसने ढुलमुल-सा जवाब दिया। मगर इसके बाद जल्दी से उठी, बरसाती मुझे दी और बच्चे को गोद में ले लिया। वह फ़ौरन ठिनकने लगा। यहां ज़रूर कोई गड़बड़-घुटाला था, किसी मुसीबत में थी वह। रात के वक़्त क्या उसे ठंड में अकेला छोड़ दिया जाये?

''लगता है कि आपके लिये कोई ठिकाना नहीं है!'' मैंने साफ़-साफ़ ही कह दिया। ''दिमाग़ में कोई बुरा ख़्याल नहीं लाइयेगा। लाइये, बच्चे को मुझे दीजिये!'' मैंने क़रीब-क़रीब उसे ज़बर्दस्ती छीन लिया। ''इनकार नहीं कीजियेगा। रात हमारे यहां बिता लीजिये और उसके बाद आप जो चाहें, कीजिये। बस! गाड़ी बढ़ाओ!'' मैंने ड्राइवर को आवाज़ दी।

मोटर चल दी। वह हाथों में मुंह छिपाये चुपचाप बैठी थी। मालूम नहीं, मुमकिन है कि रो रही हो।

''डरिये नहीं!'' मैंने उसे तसल्ली दी। ''मैं आपके साथ किसी तरह की बुराई नहीं करूंगा... मैं सड़क का मिस्तरी हूं, बाइतमीर कूलोव। आप मुझपर भरोसा कर सकती हैं।''

मां-बेटे को मैंने अपने घर में सुला दिया। हमारे यहां अहाते में एक छोटा-सा कमरा और बना हुआ था। मैं उसी में जा लेटा। देर तक आंख नहीं लगी। सोचता रहा। दिल में बड़ी बेचैनी थी। पूछताछ करना अटपटा लगता था, खुद मुझे भी यह पसन्द नहीं है। फिर भी कुछ तो पूछना ही पड़ा। कौन जाने, उसे किसी तरह की मदद की ज़रूरत हो। उसने मन मारकर, अधूरे-अधूरे जवाब दिये। पर ख़ैर, मैं वह सब कुछ भांप गया, जो वह खुलकर नहीं कह रही थी। आदमी जब दुःख-मुसीबत में होता है, तो उसके हर लफ़्ज़ के पीछे दस अनकहे ही रह जाते हैं। वह अपना घर-बार, अपने ख़ाविन्द को छोड़कर चली आई थी। खुददार है। साफ़ नज़र आ रहा था कि भीतर ही भीतर ग़म खा रही है, घुल

रही है, मगर झुकने को तैयार नहीं। ख़ैर, हर किसी को अपनी मनमर्ज़ी करने का हक़ है। वह अपना भला-बुरा ज़्यादा अच्छी तरह से समझती थी। फिर भी मुझे उसपर रहम आ रहा था, बिल्कुल जवान औरत जो थी। लड़की जैसी लगती थी, ऐसी सुडौल थी। शायद प्यार और एहसास भरा दिल भी रखती है। कैसे उस आदमी ने यह होने दिया कि वह घर-बार छोड़कर चल दी? पर यह तो उनका अपना मामला है। कल उसके रास्ते जानेवाली किसी मोटर में बिठा दूंगा और बस, क़िस्सा ख़त्म। बहुत थक गया था उस दिन मैं। आंख लगी तो मुझे महसूस हुआ कि मोटर में जा रहा हूं और कोट के नीचे मुन्ना है। उसके जिस्म में गर्मी आ गयी है, दिल के साथ चिपकता जा रहा है।

मैं तड़के ही उठा। चक्कर लगाने गया, मगर जल्दी ही लौट आया। चलकर देखूं कि मेरे मेहमानों का क्या हाल है? बहुत धीरे-धीरे, ताकि उनकी आंख न खुल जाये, चूल्हा जलाया, समोवार गर्म किया। मगर वह तो पहले से ही जाग चुकी थी और जाने को तैयार थी। उसने मेरा शुक्रिया अदा किया। मगर मैंने चाय पिये बिना उन्हें नहीं जाने दिया, कुछ देर रुकने को मजबूर किया। मेरा पिछली रात का हमसफ़र बच्चा बड़ा ही दिलचस्प साबित हुआ। उसके साथ लाड़-प्यार करके बड़ी खुशी हुई... चाय पीते हुए मैंने पूछा –

''आपको कहां जाना है?''

उसने सोचकर जवाब दिया। ''रिबाच्ये।''

''वहां रिश्तेदार हैं?''

''नहीं। मेरे मां-बाप तोसोर से आगे गांव में रहते हैं।''

''ओह, तब तो आपको मोटर बदली करनी होगी। तकलीफ़ होगी।''

''मगर मैं गांव नहीं जा रही हूं। हम वहां नहीं जा सकते,'' उसने सोचते हुए बेटे से कहा। ''हम खुद ही क़ुसूरवार हैं।''

मैंने सोचा कि शायद उसने मां-बाप की मर्ज़ी के ख़िलाफ़ शादी की है। बाद में मेरा यह ख़्याल सही निकला।

वह सड़क पर जाना चाहती थी, मगर मैंने उससे कहा कि थोडा इन्तज़ार करे, कुछ देर घर में ही बैठी रहे, बच्चे को लेकर हवा में जाकर न खड़ी हो। गाड़ी तो मैं भी रोक सकता था।

बहुत ही भारी मन लिये हुए मैं सड़क की तरफ़ चला। मालूम नहीं क्यों, मगर इस ख़्याल से दिल डूबता था, उदास हो जाता था कि वे अभी चले जायेंगे और मैं फिर से अकेला रह जाऊंगा।।

शुरू में तो उस तरफ़ जानेवाली मोटरें नहीं आई। फिर जब एक आई, तो मैंने उसे रोका नहीं, हाथ नहीं उठाया। मगर खुद सहम गया। क्यों मैं ऐसा करता हूं? बस, यहीं से मेरी परेशानियां शुरू हुई। मोटरें गुज़रती जा रही थीं और मैं टालता जा रहा था। सोचता, अच्छा, अब अगली मोटर ज़रूर रोक लूंगा, मगर फिर से हाथ न उठता। बड़ी घबराहट हुई मुझे। वह वहां इन्तज़ार कर रही है, उम्मीद लगाये बैठी है। खुद पर गुस्सा आता था, मगर अपने को काबू में नहीं कर पा रहा था। सड़क पर इधर-उधर आ-जा रहा था। तरह-तरह के बहाने, अंपनी सफ़ाई की दलीलें ढूंढ़ता जा रहा था – शीशे टूटे हुए थे, केबिन ठंडा था, मोटर ढंग की नहीं थी, ड्राइवर अच्छा नहीं था – अंधाधुंध गाड़ी चला रहा था, या शायद कुछ पियें हुए था। जब ऐसी मोटरें गुज़रतीं, जिनके केबिन खाली न होते, तो मैं छोकरे की तरह खुश होता। अभी नहीं, थोड़ा और रुक जायें, पांच मिनट और घर में रहें। "मगर वह जायेगी कहां?" मैं सोचने लगा। "गांव जा नहीं सकती, यह तो उसने खुद ही कहा था। रिबाच्ये? मगर वहां बच्चे के साथ कहां सिर छिपायेगी? जाड़ा मुन्ने की जान ले लेगा। यह ज़्यादा अच्छा होगा कि यहीं रह जाये। कुछ दिन यहां रहे, अपने भले-बुरे पर कुछ ग़ौर कर ले। मुमकिन है कि ख़ाविन्द के पास लौट जाये। या फिर वही इसे खोज निकाले..."

ओह, कैसी मुसीबत है यह! अच्छा होता कि मैं उसे उसी वक़्त सड़क पर लाकर किसी मोटर में बिठा देता! कोई तीन घण्टे तक मैं इसी तरह इधर-उधर आता-जाता रहा, टहलता रहा। खुद को फूटी आंखों नहीं देख पा रहा था। सोचा – "उसे यहां ले आता हूं और उसके सामने ही कोई मोटर रोक लूंगा। वरना कुछ नहीं हो सकेगा।" चुनांचे घर वापस चल दिया। वह दरवाज़े से निकल रही थी, इन्तज़ार करते-करते परेशान हो गयी थी। मुझे शर्म आई, कुसूरवार छोकरे की तरह उसकी तरफ़ देखा।

"इन्तज़ार करते-करते थक गयीं?" मैं बुदबुदाया। "उस तरफ़ जानेवाली मोटरें नहीं हैं, मेरा मतलब, ढंग की कोई मोटर नहीं आई। मैं माफ़ी चाहता हूं... कोई ग़लत बात नहीं सोचियेगा... खुदा के लिए एक मिनट को घर में चलिये। आपकी मिन्नत करता हूं!"

उसने हैरानी और उदासी से मेरी तरफ़ देखा और चुपचाप घर में चली गयी।

"आपको मुझ पर रहम आ रहा है?" उसने पूछा।

"नहीं, ऐसा कुछ नहीं है। बात यह है... आपके बारे में सोचकर डर लगता है। बहुत तकलीफ़ होगी। कैसे गुजारा करेंगी?"

"काम करूंगी। मेरे लिए यह कोई नई बात नहीं है।"

"कहां काम करेंगी?"

"कहीं न कहीं काम मिल ही जायेगा। मगर न तो घर लौटूंगी, न गांव जाऊंगी। काम करते हुए अपना गुज़ारा करूंगी।"

मैं चुप हो गया। एतराज़ ही क्या कर सकता था? इस वक़्त तो उसे भले-बुरे का कुछ भी ख़्याल नहीं था। उसमें गुस्सा और खुददारी बोल रही थी। ये उसे न जाने किधर धकेल रहे थे। यह कह देना तो बहुत आसान हैं कि काम करते हुए गुज़ारा करूंगी। भला हथेली पर सरसों थोड़े ही जमती है। लेकिन किसी को मज़बूर करना भी तो अच्छा नहीं है।

बच्चे ने मेरी तरफ़ हाथ फैलाये। मैंने उसे गोद में ले लिया। चूमा और सोचने लगा – "ओह, कितने प्यारे हो तुम, मगर अब हमें जुदा होना पड़ेगा। अपने, सगे बेटे की तरह प्यारे हो गये हो तुम मुझे..."

"तो आइये, चलें," मैंने धीरे-से कहा।

हम उठे। मैं बच्चे को उठाये था, मगर दरवाज़े में आकर रुक गया।

"काम तो हमारे यहां भी मिल जायेगा," मैं बोला। "यहीं रहिये और काम कीजिये। छोटा-सा क्वार्टर भी है। सच, रह जाइये। जल्दी नहीं कीजिये। जाना तो हमेशा ही मुमकिन है। ज़रा सोच-समझ लीजिये..."

शुरू में तो वह नहीं मानी। मगर आख़िर मैंने उसे राज़ी कर लिया। इस तरह असेल अपने बेटे समद के साथ हमारे यहां रह गयी।

अहाते में बना हुआ छोटा-सा कमरा ठंडा था और इसलिए मैंने असेल को बेटे के साथ अपने घर में रहने को मज़बूर किया। खुद मैंने अहाते वाले कमरे में डेरा जमा लिया। मुझे इससे किसी तरह की परेशानी नहीं हुई।

उस दिन से मेरी ज़िन्दगी बिल्कुल दूसरी ही हो गयी। यों तो जैसे कुछ भी नहीं बदला था, मैं पहले की तरह ही अकेला था, मगर मेरे अन्दर का इनसान जी उठा, लम्बे अर्से के अकेलेपन के बाद रूह में गर्मी आ गयी। यह सही है कि मैं पहले भी लोगों के बीच रहता था। मगर उनके साथ-साथ रहते, काम करते और दोस्ती निभाते, साझे काम में हाथ बंटाते, मदद देते और

मदद लेते हुए भी ज़िन्दगी का एक ऐसा पहलू है, जिसकी कमी किसी भी दूसरी चीज़ से पूरी नहीं हो सकती। बच्चे से प्यार हो गया मुझे। सड़क देखने जाता, तो उसे अच्छी तरह गर्म कपड़े पहनाकर अपने साथ ले जाता। फ़ुरसत का सारा वक़्त उसके साथ गुज़ारता। सोच ही नहीं पाता था कि पहले किस तरह ज़िन्दगी बिताता था। मेरे पड़ोसी भले लोग थे, असेल और समद के साथ अच्छे ढंग से पेश आते थे। बच्चों को भला कौन प्यार नहीं करता? असेल बडी मिलनसार और दिल की साफ़ थी, बहुत जल्दी ही सब से घुल-मिल गयी। असेल की वजह से मुझे बच्चे से और भी ज़्यादा प्यार हो गया। क्या छिपाऊं, बहुत कोशिश करने पर भी अपने से तो कुछ नहीं छिपा सकता था। प्यार हो गया था मुझे उससे। फ़ौरन और ज़िन्दगी भर के लिए। दिलोजान से लुट गया था मैं उसपर। अकेलेपन के साल, सारा दर्द और उदासी, जो कुछ खोया था, वह सभी कुछ इस प्यार में उमड़ पड़ा। मगर यह कहने का हक़ मुझे नहीं था। असेल उसकी राह देख रही थी। बहुत इन्तज़ार किया उसने उसका। हां, वह यह ज़ाहिर नहीं होने देती थी। जब हम सड़क पर काम करते होते, तो अक्सर इस बात की तरफ़ मेरा ध्यान जाता कि हर आने-जानेवाली मोटर को वह उम्मीद भरी नज़रों से देखती है। कभी-कभी बेटे को लेकर सड़क पर चली जाती और घण्टों वहां बैठी रहती। मगर वह नहीं आया। वह कौन था, कैसा था, मैं नहीं जानता था। न तो मैंने असेल से यह पूछा और न उसने ही कभी इसका ज़िक्र किया।

वक़्त जैसे-तैसे गुजरता रहा। समद बड़ा होता गया। ओह, कितना फुर्तीला, प्यारा और गोल-मटोल था वह! मालूम नहीं, किसी ने उसे सिखा दिया था या खुद ही, मगर वह मुझे पापा कहने लगा। मुझे देखते ही "अता! अता!" कहता हुआ गले से लिपट जाता। असेल कुछ सोचती हुई-सी मुस्कराती, उसकी तरफ़ देखती रहती। मुझे दुःख भी होता और ख़ुशी भी। बहुत ही खुश होता मैं तो उसका बाप बनकर, मगर...

उस साल की गर्मी में एक दिन हम सड़क की मरम्मत कर रहे थे। मोटरें गुज़रती जा रही थीं। अचानक असेल ने एक ड्राइवर को आवाज़ दी –

"ए जानताई, रुको!"

मोटर तेज़ी से आगे निकल गई और फिर रुकी। असेल भागकर ड्राइवर के पास गयी। उनके बीच क्या बातचीत हुई, यह मुझे मालूम नहीं, मगर अचानक असेल ने चिल्लाकर यह कहा –

"झूठ बोलते हो! मुझे यक़ीन नहीं होता! जाओ यहां से! फ़ौरन चले जाओ!"

मोटर आगे चली गयी और असेल सड़क पार कर घर की तरफ़ भाग गयी। शायद वह रो रही थी।

काम जहां का तहां रह गया । कौन था वह? क्या कहा उसने असेल से? सभी तरह के शकों और ख़्यालों ने दिमाग़ में सिर उठाया। मैं अपने पर काबू न पा सका; घर गया, मगर असेल बाहर न निकली। आख़िर शाम को मैं उसके पास गया।

"समद कहां है? उदास हो गया मै तो उसके बिना!"

"वह रहा," असेल ने मरी-सी आवाज़ में जवाब दिया।

"अता!" समद ने मेरी तरफ़ बांहें फैला दी। मैंने उसे गोद में ले लिया, बहलाने और प्यार करने लगा, मगर असेल उदास और गुमसुम बैठी रही।

"क्या बात हो गयी, असेल?" मैंने पूछा।

असेल ने गहरी सांस ली।

"मैं यहां से चली जाऊंगी, बाके," उसने जवाब दिया। "इसलिए नहीं कि यहां मुझे कोई तकलीफ़ है। मैं आपकी बहुत-बहुत शुक्रगुज़ार हूं। मगर चली जाऊंगी... ख़ुद नहीं जानती कि कहां जाऊंगी, जहां भी पांव ले जायेंगे, वहीं चली जाऊंगी..."

मैंने महसूस किया कि वह सचमुच ही जा सकती है। मेरे लिए सचाई कह देने के अलावा कोई चारा न रहा।

"ठीक है, असेल, तुम्हें रोकने का मुझे कोई हक़ नहीं है। मगर मैं भी यहां नहीं रहूंगा। जाना ही पड़ेगा मुझे भी। मैं पहले भी एक बार ऐसे ही वीराने से भाग चुका हूं। बताने-समझाने की बात ही क्या है। तुम तो सब कुछ समझती ही हो, असेल। अगर तुम चली जाओगे, तो मुझ पर तो फिर वैसी ही गुज़रेगी, जैसी पामीर में गुज़री थी। ज़रा सोच लो, असेल... अगर वह लौट आया और तुम्हारा दिल तुम्हें उधर लौटने को कहेगा, तो मैं रास्ते में नहीं आऊंगा। तुम हमेशा आज़ाद रहोगी, असेल।"

इतना कहकर में समद को गोद में लिये हुए सड़क पर चला गया। बहुत देर तक मैं उसे उठाये घूमता रहा। वह तो कुछ भी नहीं समझता था। नन्हा समद।

असेल हमारे यहां से अभी गयी नहीं थी। मगर वह क्या सोच रही थी,

उसने क्या फ़ैसला किया था? उन दिनों मैं इसी फ़िक्र में घुलता रहा, मेरा चेहरा मुरझा गया।

एक दिन दोपहर को मैं अहाते में आया, तो देखा कि समद सचमुच ही चलने की कोशिश कर रहा है। असेल उसे थामे हुए थी कि कहीं गिर न जाये। मैं रुका।

"बाके, देखो, तुम्हारा बेटा तो चलने भी लगा है!" वह ख़ुशी से मुस्करा दी।

क्या कहा असेल ने? तुम्हारा बेटा! मैंने फावड़ा फेंक दिया, उकड़ूं बैठ गया और बच्चे को अपनी तरफ़ बुलाने लगा।

"अरे, वाह रे, वाह रे; मेरे भालू! आओ तो मेरे पास, दिलेरी से अपने पैर ज़मीन पर रखते हुए!"

समद ने बाहें फैला दीं।

"अता!" वह लड़खड़ाती टांगों से मेरी तरफ़ भागने लगा। मैंने लपककर उसे बांहों में लिया, सिर से ऊपर उठाया और कसकर छाती से लगाया।

"असेल!" मैंने उससे कहा। "आयो, कल बच्चों के लिए 'डोरी काटो' का जशन मनायें। तुम काले और सफ़ेद ऊन की डोरी तैयार कर लेना।"

"अच्छी बात है, बाके!" वह हंस दी।

"हां, हां, ज़रूर ही काले और सफ़ेद ऊन की..."

मैं घोड़े पर सवार होकर मवेशी पालनेवाले अपने दोस्तों के पास गया, वहां से कुमिस* और ताज़ा गोश्त लाया और अगले दिन हमने पड़ोसियों को अपने इस छोटे-से जशन में बुलाया।

मैंने समद को ज़मीन पर खड़ा किया, उसके पैरों में पैंकड़े की तरह काली-सफ़ेद डोरी उलझा दी। एक कैंची उसके नज़दीक रख दी और अहाते के दूसरे सिरे पर खड़े बच्चों से कहा –

"डोरी काटने के लिए जो भागकर सबसे पहले पहुंचेगा, उसे पहला तोहफ़ा मिलेगा और बाक़ी सबको – बारी से। तो भागो बच्चो!" मैंने हाथ हिलाया।

बच्चे घुड़दौड़ों की तरह हो-हल्ला करते हुए भागे।

जब डोरी काट दी गयी, तो मैंने समद से कहा –

"अब जाओ, भागो, मेरे बेटे! बच्चो, इसे अपने साथ ले लो!"

---

* कुमिस – जामन लगा घोड़ी का दूध। – सं०

बच्चे समद का हाथ पकड़कर उसे ले चले और तभी मैंने जैसे अपने आपसे कहा –

"मेरा बछेड़ा ज़मीन पर भागने लगा है ! अल्लाह करे कि वह तेज़ घोड़ा बने!"

समद बच्चों के पीछे भाग रहा था, कुछ दूर जाकर वह मुड़ा – "अता!" और गिर पड़ा। मैं और असेल एकसाथ ही उसकी तरफ़ लपके। जब मैंने बच्चे को ज़मीन पर से उठाया, तो असेल ने पहली बार मुझसे कहा –

"मेरे प्यारे!"

... इस तरह हम मियां-बीवी बने।

जाड़े में बेटे को साथ लेकर हम असेल के मां-बाप के पास गांव गये। बहुत गुस्सा-गिला किया उन्होंने। मुझे और असेल को जवाबदेह होना पड़ा। मैंने उन्हें सब कुछ सच-सच बता दिया, सब कुछ, जैसे हुआ था। उन्होंने अपने नाती की ख़ातिर, हमारी आगे की ज़िन्दगी की ख़ातिर असेल को माफ़ कर दिया।

वक़्त उड़ता चला गया। समद को अब पांचवां साल चल रहा है। सभी बातों में मेरी और असेल की हमेशा एक ही राय होती है, मगर एक बात का हम कभी ज़िक्र नहीं करते, कभी उसे याद नहीं आने देते। हम दोनों ने जैसे एक ख़ामोश समझौता कर लिया है – हमारे लिए जैसे वह आदमी है ही नहीं ...

मगर ज़िन्दगी में हमेशा हमारे मन के चीते नहीं होते। हाल ही में वह यहां नमूदार हुआ है ...

सड़क पर हादिसा हो गया। रात का वक़्त था। मैं और मेरा पड़ोसी, जो मेरा मददगार है, यह जानने के लिए भागे कि क्या बात हो गई है। वहां पहुंचने पर देखा कि एक ट्रक सड़क के किनारे के खम्भों से जा टकरायी है। ड्राइवर जख़्मी, क़रीब-क़रीब बेहोश और नशे में धुत्त था। मैं पहचान गया उसे, हां, नाम नहीं याद कर पाया। एक बार मुसीबत में उसने बड़ी मदद की थी हमारी। अपनी गाड़ी के पीछे हमारी गाड़ी बांधकर दर्रे में से खींच ले गया था। दोलोन में से ऐसे गाड़ी खींच ले जाना कोई हंसी-मज़ाक़ नहीं है। इसके पहले यहां कभी ऐसा नहीं हुआ था। मगर वह बड़ा ही दबंग, बड़ा ही दिलेर जवान था, हमें हमारी मंज़िल तक खींच ले गया। बहुत ही पसन्द आया था तब वह मुझे, दिल में उतर गया था। इसके कुछ ही अर्से बाद कोई ट्रेलर

लेकर दर्रे तक पहुंचा। बस, बहुत ही थोड़ा-सा फ़ासला तय करना बाक़ी रह गया था, जब शायद किसी चीज़ ने खलल डाल दिया। ट्रेलर गढ़े में जा गिरी और ड्राइवर उसे वहीं छोड़कर चला गया। उस वक़्त मेरे दिमाग़ में यह ख़्याल आया था कि कहीं उसी बेधड़क नौजवान के साथ तो ऐसा क़िस्सा नहीं हो गया? बहुत अफ़सोस हुआ था मुझे इस बात का कि उस दिलेर को अपने दिल की मुराद पूरी करने में कामयाबी नहीं मिली थी। मगर बाद में ट्रकें ट्रेलरों के साथ दर्रे के पार जाने लगीं। ड्राइवरों ने ज़रूरी तब्दीलियां कर ली थीं और ठीक ही किया था।

ईमान की कहूं, शुरू में तो मुझे यह मालूम नहीं था कि यही वह आदमी है, असेल जिसे छोड़ आयी है। पर अगर मालूम भी होता, तो भी मैं ऐसा ही करता। मैं उसे घर ले आया और वहां फ़ौरन सारी बात साफ़ हो गयी। असेल इस वक़्त लकड़ियां लिये अन्दर आ रही थी। उसे देखते ही लकड़ियां फ़र्श पर जा गिरीं। मगर हममें से किसी ने कुछ भी ज़ाहिर नहीं होने दिया। ऐसे बने रहे, जैसे कि पहली बार मिले हों। मुझे तो खासकर अपने आपको बहुत ही क़ाबू में रखना था, ताकि लापरवाही से कहे गये मेरे किसी लफ़्ज़ या हरकत से उनके दिलों को चोट न लगे, कि मैं उनके फिर से एक दूसरे को समझने के रास्ते में किसी तरह का रोड़ा न बन जाऊं। मैं तो इस मामले में कुछ भी नहीं कर सकता था। उन्हें ही सारा फ़ैसला करना था – उनके बीच थी उनकी बीती ज़िन्दगी, उनका बेटा, जिसके साथ मैं पलंग पर लेटा था और अपने साथ चिपकाये हुए सहला रहा था।

उस रात हममें से कोई भी नहीं सोया, हर कोई अपने-अपने ख़्यालों में खोया रहा। मैं भी अपनी सोच में डूबा रहा।

असेल अपने बेटे को लेकर जा सकती है। उन दोनों को इसका हक़ है। जैसे उनका दिल, उनकी समझ-बूझ कहे, वे वैसा ही कर सकते हैं। रहा मैं... अपने बारे में क्या कहूं, मेरा तो ज़िक्र ही क्या हो सकता है। मेरे बस में तो कुछ भी नहीं है, मुझे कोई दख़ल नहीं देना चाहिए...

वह अब भी यहां है। हमारी सड़क पर आता-जाता है। इतने सालों तक वह कहां रहा, क्या करता रहा? मुझे इससे कोई मतलब नहीं... यह उनका मामला है...

हम बाइतमीर के साथ सड़क का चक्कर लगाकर लौटे। शाम हो चुकी थी। त्यान-शान की बर्फ़ ढकी चोटियों के ऊपर वसन्त के डूबते सूरज की धुआंरी लाली फैली हुई थीं। सड़क पर ज़ोर से घरघराती हुई मोटरें आ-जा रही थीं।

"तो यह क़िस्सा है," बाइतमीर ने कुछ देर चुप रहने के बाद सोचते हुए कहा। "इस वक़्त मुझे घर से नहीं जाना चाहिए। असेल अगर जाने का इरादा बना ले, तो दिल में किसी तरह का बोझ न लेकर जाये, मुझसे साफ़-साफ़ कह दे और बेटे के लिए मेरी आख़िरी दुआओं के साथ यहां से विदा हो। वह तो मुझे सगे बेटे से भी ज़्यादा प्यारा है। मगर मैं उसे उनसे छीन नहीं सकता... बस, इसीलिए कहीं भी नहीं जा रहा हूं। फिर जबकि जाना भी पामीर है। ज़ाहिर है कि मैंने अखबार के लिए आपको यह सब कुछ नहीं बताया। इनसान के नाते इनसान को...

उपसंहार के रूप में

ओश में मैंने इल्यास से विदा ली। वह पामीर की तरफ़ और मैं अपने काम-काज करने चला गया।

"पामीर पहुंचकर अलीबेग को खोज लूंगा। नयी ज़िन्दगी शुरू करूंगा! इल्यास भविष्य का ऐसा सपना देख रहा था। "यह नहीं सोचियेगा कि अब मैं कहीं का नहीं रहा। वक़्त गुज़रेगा, मैं शादी करूंगा, मेरा घर-बार होगा, बच्चे होंगे— मतलब यह कि सभी लोगों जैसी ज़िन्दगी होगी। दोस्त और साथी भी मिल जायेंगे। सिर्फ़ वही नहीं होगा, जिसे हमेशा के लिए खो चुका हूं... ज़िन्दगी की आख़िरी घड़ियों, आख़िरी सांस तक असेल और हमारे बीच जो कुछ प्यारा था, उसे कभी नहीं भूल सकूँगा।"

इल्यास सिर झुकाकर सोच में डूब गया। थोड़ी देर चुप रहने के बाद उसने इतना और कहा –

"वहां से चलने के दिन में झील के किनारे वाली उसी पहाड़ी पर गया। त्यान-शान के पहाड़ों को, इस्सीक-कूल को मैंने अलविदा कहा। अलविदा, इस्सीक-कूल, मेरा गीत अभी बाक़ी है! तुम्हारी नीली लहरों और पीले किनारों को भी मैं अपने साथ ले चलता, मगर यह उसी तरह मुमकिन नहीं, जैसे दिल की रानी का प्यार अपने साथ ले जाना। अलविदा असेल! अलविदा, लाल रूमाल वाली मेरी सरो! अलविदा, मेरी प्यारी! तुम सुखी रहो!..."